हिंदी समिति ग्रंथमाला—२२९

भारतीय आदिवासी

(उनकी संस्कृति और सामाजिक पृष्ठभूमि)

डॉ० ललितप्रसाद विद्यार्थी

• •



उत्तर प्रदेश शासन
'राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन',
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

भारतीय आदिवासी

(उनकी संस्कृति और सामाजिक पृष्ठभूमि)

महाशिवरात्रि, २०३१ वि०

मूल्य : १० रुपये

मुद्रक

शंभुनाथ वाजपेयी,

नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

• • •

आदिवासी भाइयों और बहनों को

समर्पित

• • •

प्रकाशकीय

आदिवासी शब्द अपने में असीम, अनुपम और अद्भुत इतिहास सँजोये हुए है। इसका उच्चारण करते ही पुरातन, लुप्तप्राय जातियो की एक झलक सामने आ जाती है। आदिवासी देश के गड़े हुए या छिपे हुए खजाने हैं। वैज्ञानिक युग के चाकचिक्य से दूर, आधुनिकता की कृत्रिम और जटिल व्यवहार-शैली से असपृक्त और आज के भौतिक वैभव एवं भोगवादी जीवन से अपरिचित, एकान्त और शान्त प्रकृति की गोद मे रहनेवाली इस जाति के लोग आज भी अपनी परम्पराओं और रूढियो से प्रसित अपनी मर्यादा और संस्कारों से सवलित सामाजिकता का परिचय देते है। इनकी अपनी विशिष्टताएँ है; इनके अपने सस्कार हैं; इनकी अपनी जीवनशैली है। इनके रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज का अध्ययन मनोरजक और ज्ञानवर्धक है, साथ ही आवश्यक भी है। इनके गुणो से हम कुछ ग्रहण भी कर सकते है और इनकी कमियो और आवश्यकताओ की पूर्ति करने का प्रयास हमारा कर्त्तव्य है।

इसी दृष्टि से यह पुस्तक आपके सामने है। इसके लेखक श्री विद्यार्थी नृतत्त्व शास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। आदिवासियों के इतिहास, परम्परा, उनकी सस्कृति और गरिमाओं का इन्होंने अच्छा अध्ययन और अनुशीलन किया है। उसी क्रम में इस पुस्तक मे इन्होंने सक्षेप मे देश के विभिन्न भागों और क्षेत्रो मे रहनेवाले विभिन्न आदिवासियों का परिचय देने की चेष्टा की है। इस पुस्तक से यह पता चलता है, देश मे कितने प्रकार के आदिवासी हैं और इनकी विशेषताएँ या आवश्यकताएँ क्या हैं। पुस्तक मे कुछ आवश्यक चित्र भी दिये गये हैं।

हमे विश्वास है, हमारा यह प्रकाशन लोकप्रिय होगा, विशेष रूप से इस दिशा और क्षेत्र के विद्यार्थियो और जिज्ञासुओ के लिए ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा।

हिन्दी भवन,
लखनऊ
२६ जनवरी, १९७५

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव, हिन्दी समिति
उत्तर प्रदेश शासन

प्रस्तावना

मानव मात्र का सर्वांगीण अध्ययन ही मानव विज्ञान का विषयक्षेत्र कहा जाता है। किन्तु मानव विज्ञान का जन्म लगभग सौ वर्ष पूर्व जिन परिस्थितियों में हुआ, उनमें यूरोपियन मानववैज्ञानिक अधिकतः ऐसे अन्य महादेशों के वासियों का अध्ययन करते थे जो सांस्कृतिक दृष्टि से यूरोप की तुलना मे अति पिछड़े हुए थे। इस प्रकार एशिया, अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया और द्वीप-समूहो के आदिवासियो के सांस्कृतिक अध्ययन ही सांस्कृतिक-सामाजिक मानव विज्ञान की परम्परा मे जुड़ गये। इसके कई कारण थे : इन आदिम जातियो अथवा आदिवासी कबीलो की संस्कृति यूरोपीय संस्कृति की तुलना मे अत्यधिक रगीन और रोचक थी, इन कबीलो का सामाजिक जीवन छोटे पैमाने पर सगठित और सरल था, और प्रशासको के लिये शासित लोगो की संस्कृति और सामाजिक रचना का ज्ञान आवश्यक था ताकि शासन अच्छा, सुगम और अर्थपूर्ण हो सके।

इन्ही उद्देश्यो से प्रेरित होकर अंग्रेज सैनिक अधिकारियो और प्रशासको ने अपने भारतीय साम्राज्य मे बिखरी आदिवासी संस्कृतियो का अध्ययन प्रारम्भ किया। दश-वर्षीय जनगणनाओ से इन अध्ययनो को बल मिला। औपचारिक रूप से भारतीय विश्व-विद्यालयो के पाठ्यक्रमो मे मानव विज्ञान को स्थान बाद मे मिला, परन्तु उसके पूर्व ही देश की आदिवासी संस्कृतियो और उनके सामाजिक जीवन पर विभिन्न दृष्टिकोणों से पुस्तके, लेख और रिपोर्टें लिखी जा रही थी।

जहाँ एक ओर भारतीय विश्वविद्यालयो मे मानव विज्ञान को पाठ्यक्रम में स्वीकारे जाने के साथ जनजाति विषयक नृवृत्तीय और नृवंशशास्त्रीय अध्ययन वैज्ञानिक विधि से होने प्रारम्भ हुए, वहीं स्वतंत्र भारत के संविधान ने यह घोषणा की कि आदिवासी हितों की रक्षा शासन का परम कर्तव्य है, और इस दिशा मे शासन को क्या करना है, इसकी विस्तृत रूपरेखा निर्धारित की गई। इसके अनुसार, आदिवासियो को अनुसूचित जन-जातियों के रूप में संवैधानिक सुविधाएँ भी प्रदान की गईं, जिससे उनका सर्वांगीण विकास किया जा सके; इनके विकास के लिए सामाजिक समुदायों के वैज्ञानिक अध्ययन को आवश्यक माना गया और एतदर्थ इस प्रकार के अध्ययनों को बल मिला।

इस प्रकार आज देश में आदिवासी अथवा अनुसूचित जनजातियों के सांस्कृतिक-सामाजिक अध्ययन का महत्व सैद्धान्तिक-वैज्ञानिक भी है और व्यावहारिक भी। और

फिर ये कबीले देश के ऐसे भागो मे रहते हैं जो औद्योगिक विकास के दृष्टिकोण से अति महत्वपूर्ण हैं। इस हेतु इनके अध्ययनों में न केवल मानववैज्ञानिको की रुचि है, वरन् समाजशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिको, शिक्षाशास्त्रियों और प्रशासको के लिए भी ये अध्ययन आवश्यक बन गये है।

भारत की आदिवासी संस्कृतियों पर प्रामाणिक पुस्तकों की कमी है; हिन्दी मे तो ऐसी पुस्तके लगभग है ही नहीं जो सारी भारतीय जनजातियो को लेकर लिखी गई हो।

डा० विद्यार्थी से मेरा परिचय पुराना है। १९५१ मे मैंने लखनऊ विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान विषय के कर्मठ और मेधावी छात्र के रूप मे उन्हे देखा। तब से लेकर अब तक उन्होने जो उन्नति की है और जिस प्रकार भारतीय मानव विज्ञान की सेवा की है उसपर लखनऊ विश्वविद्यालय के मानव विज्ञान विभाग को गर्व है। अपने अथक परिश्रम और कर्मठता के फलस्वरूप ही उन्होने अन्तरराष्ट्रीय मानववैज्ञानिक सघ के अध्यक्ष का पद अर्जित किया है।

भारतीय जनजातियो के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन पर प्रस्तुत पुस्तक लिखने के लिये डा० विद्यार्थी प्रशसा के पात्र है और मुझे हर्ष है कि इसका प्रकाशन उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति द्वारा किया जा रहा है।

लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ : २७-२-१९७५

कृपाशंकर माथुर

लेखक का निवेदन

आधुनिक भारतीय समाज परिवर्तन की कठिन घड़ी से गुजर रहा है। हमारे देश का समाज परम्परागत तथा ऐतिहासिक समाज है, अतः इसमें सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ निश्चय ही अधिक जटिल, विस्तृत और मिश्रित हैं। इस हेतु देश के बदलते परिवेश को सही-सही समझने के लिए इसके ऐतिहासिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषीय, जनजातीय, जातीय एवं प्रजातीय और न जाने कितने अन्य पहलुओं का समुचित तथा तुलनात्मक लेखा-जोखा करना आवश्यक होगा और इन क्षेत्रों में समाजशास्त्रीय अध्येताओं के समन्वित अनुसंधान की भी आवश्यकता होगी।

इस संदर्भ में मानववैज्ञानिक होने के नाते मैंने प्रस्तुत पुस्तक में भारत की आदिवासी संस्कृति का एक विश्लेषणात्मक एवं सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जनजातीय संस्कृति निश्चय ही भारतीय संस्कृति की आधारशिला है। हमारे देश की यह एक अनुपम ऐतिहासिक स्थिति है कि जहाँ एक ओर आदिमतम आखेटजीवी, खाद्यसंग्रही तथा झूम कृषि एवं कृषि पर आश्रित जनजातीय परम्पराएँ हैं, वहाँ दूसरी ओर परिष्कृत, शास्त्रीय, महान् नागर सभ्यता के महत्वपूर्ण स्रोत भी विद्यमान हैं। इन दोनों परम्पराओं का किसी न किसी सीमा तक आदान-प्रदान होता रहा है और वे एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं। यह खेद का विषय है कि अँगरेजी राज्य में 'फूट डालो और राज्य करो' के सिद्धांत के संदर्भ में जनजातीय संस्कृति को भारतीय संस्कृति से एकदम अलग बतलाया गया। फिर इस सिद्धांत की ओट में विदेशी लेखकों एवं मानववैज्ञानिकों ने इनके बीच की भिन्नता पर विशेष जोर दिया और इनके बीच उपलब्ध समानताओं की अवहेलना की। इसी नीति के फलस्वरूप जनजातीय समस्या आज केवल आर्थिक एवं सामाजिक समस्या नहीं रह गयी है बल्कि यह धार्मिक एवं राजनीतिक समस्या भी बन गयी है।

१९७१ की जनगणना के अनुसार भारत के लगभग सात प्रतिशत लोग (३,८०,१५,१६२) २१२ जनजातियों में विभाजित हैं। वे उत्तर-पूर्वी भारत के उत्तरी बंगाल, आसाम, नागालैंड, अरुणाचल, मिजोरम, मणिपुर, त्रिपुरा, मध्य भारतीय क्षेत्र के उड़ीसा, बिहार, मध्य प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र, उत्तर-पश्चिम भारत के कश्मीर, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान तथा दक्षिण के नीलगिरि पहाड़ों, पठारों एवं जंगली क्षेत्रों में निवास करते हैं। यों तो प्रत्येक जनजाति की अपनी भाषा और अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ हैं, परन्तु कहना न होगा कि अपने समान ऐतिहासिक अनुभवों, समान वातावरण एवं समान सम्पर्क तथा समान आदान-प्रदान के कारण भारतीय जनजातियों की जीवन-शैली में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्य ग्रामीण एवं शहरी संस्कृतियों से बहुत कुछ भिन्न हैं।

साधारणतः हमारी आदिम जातियाँ आधुनिक सभ्यता से हटकर प्रकृति की एकांत गोद में निवास करती हैं। वस्तुतः प्रकृति और उनके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है। वे अपने ढंग से प्रकृति के व्यापारो का विश्लेषण एवं विवेचन करती हैं, वे अपनी जीविका के लिए भी प्रधानतः प्रकृति पर आश्रित हैं। इसीलिए एक ओर उनमे प्रकृति के प्रति श्रद्धा है तो दूसरी ओर उससे भय भी। इसी श्रद्धा तथा भय के बीच उनके सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास और जादू-मंत्र पल्लवित एवं पुष्पित होते रहे हैं। वस्तुतः उनकी जीवन-शैली एव संस्कृति एक ओर प्रकृति से तो दूसरी ओर भूत-प्रेतो की दुनिया से सबद्धता एव सघर्ष की कहानी है। फलतः जनजातीय सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को प्रकृति-मनुष्य-आधिभौतिक सत्ता-ग्रन्थि के पारस्परिक आदान-प्रदान के संदर्भ मे समझा जा सकता है।

वन-पर्वतों मे रहनेवाली जनजातियो का सम्पर्क, जैसा पहले सकेत किया गया है, क्षेत्रीय हिन्दुओ से प्राचीन काल से रहा है। इसके फलस्वरूप आदिवासियो में हिन्दूकरण की प्रक्रिया काफी पुरानी है। इसके अतिरिक्त अब ये जनजातियाँ ईसाई-करण, नागरीकरण और औद्योगीकरण के प्रक्रम में है और इनके सामाजिक आदान-प्रदान के विस्तार की गति बढती जा रही है। आधुनिकता की अंधाधुंध दौड़ में वे किस हद तक अपने को सामाजिक विघटन से बचाते हुए एक स्वस्थ समाज के रूप में परिवर्तित हो सकेंगी, इसका उत्तर भविष्य के गर्भ मे है।

यों तो इन विषयो पर अंग्रेजी मे मेरी बहुत सी पुस्तकें है, परन्तु यह उत्तर प्रदेश शासन की हिन्दी समिति की प्रेरणा का ही फल है कि मै इस पाण्डुलिपि को तैयार कर सका। इस प्रेरणा एव उत्साह के लिए हिन्दी समिति के प्रशासकों का, विशेषत. भ्रमर जी का, आभारी रहूँगा।

इस पुस्तक को लिखने में मेरे कुछ शोधछात्रो, विशेषत डॉ० विनयकुमार राय, डॉ० राकेशरंजनप्रसाद सिंह और श्री ओंकारप्रसाद ने मेरी भरपूर सहायता की है। डॉ० दिनेश्वरप्रसाद और श्री वीरभारत तलवार, एम० ए०, भाषा को परिमार्जित करने और सुगम बनाने में सहायक हुए हैं। मैं इन सभी के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आभार-ज्ञापन के इस क्रम मे मैं श्री रामावतारप्रसाद और श्री कौशलकिशोरप्रसाद सिंह को नहीं भूल सकता, जिन्होंने कुछ ही दिनों में पूरी पाण्डुलिपि को टंकित करके प्रेस के लिए तैयार किया।

यह पुस्तक उन आदिवासी भाइयो एव बहनों को समर्पित है, जिनका घनिष्ठ सम्पर्क एवं स्नेह मुझे बीस वर्षों से मिल रहा है और मिलता रहेगा

ललितप्रसाद विद्यार्थी

भारतीय आदिवासी

(उनकी संस्कृति और सामाजिक पृष्ठभूमि)



विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
१. भारत की जनजातीय संस्कृति एवं उसका अध्ययन	...	१–२७
२. भारत की जनजातियो का भौगोलिक वर्गीकरण	...	२८–३४
३ उत्तर-पूर्वी भारत की जनजातीय संस्कृति	...	३५–७०
४ मध्य भारत की जनजातियाँ	...	७१–९६
५ उत्तर प्रदेश और पश्चिमी भारत की जनजातियाँ	...	९७–१०७
६ दक्षिण भारत की जनजातियाँ	...	१०८–११२
७. जनजातियो की आर्थिक प्रणाली	...	११३–१५०
८. जनजातीय समाज की संरचना और संगठन	...	१५१–१७०
९ जनजातियो का धार्मिक जीवन	...	१७१–२१४
१०. भारत की जनजातियो मे सांस्कृतिक परिवर्तन	...	२१५–२३१
११. जनजातियो की समस्या	...	२३२–२४२

० ० ०

अध्याय १

भारत की जनजातीय संस्कृति एवं उसका अध्ययन

भारतीय समाज के निर्माण मे ग्रामीण एवं शहरी संस्कृति के अतिरिक्त आदिवासी[1] संस्कृति का भरपूर योगदान रहा है। यदि यह कहा जाय कि आदिवासी संस्कृति की नीव पर ही भारतीय संस्कृति खड़ी है, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। दुर्भाग्यवश इस संस्कृति के योगदान पर हिन्दी में अधिक पुस्तकें नही हैं, जिससे हमारा ज्ञान इस विषय में बहुत अधूरा है।

१९७१ की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातियों की आबादी लगभग तीन करोड़ अस्सी लाख (३,८०,१५,१६२) है, जो भारत की पूरी आबादी का लगभग ७ प्रतिशत (६.९४%) है। जनजातियों की अधिकाश आबादी उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों के हिमालयी राज्यों मे है। इसके अलावा जनजातियो की प्रमुख आबादी उड़ीसा (२३.११%), मध्य प्रदेश (२०.१४%), गुजरात (१३.९८%), राजस्थान (१२.१३%), बिहार (८.७५%), महाराष्ट्र (५.८६%) एवं हिमाचल प्रदेश (४.०९%) में है।

कुछ अन्य राज्य तथा केंद्रशासित क्षेत्र भी है जिनमे जनजातियाँ प्रमुख रूप से निवास करती हैं। यद्यपि इनमे जनजातियो की संख्या प्रमुख है, परन्तु उनका योग कठिनता से सम्पूर्ण जनसख्या का २.३८ प्रतिशत है। ये है लक्षदीवी, मिनिकॉय, अमीनदीवी द्वीप-समूह (९७.०३ प्रतिशत), नागालैण्ड (९३.०९%), नेफा (८८.५९%) तथा दादर और नगर हवेली (८८.४३ प्रतिशत)। पुनः उत्तर प्रदेश तथा जम्मू एवं कश्मीर राज्य भी हैं जिन्होने किसी भी समूह को अनुसूचित जनजाति की मान्यता नहीं प्रदान की है। पृथक् संख्या के अभाववश हरियाणा, पजाब तथा हिमाचल प्रदेशीय जनजातियों की जनसंख्या का उल्लेख करना कठिन है।

१९६१ की जनगणना के अनुसार ४५० समुदाय भारतीय जनजातियों की जनसंख्या

---

१. भारत में आदिवासी कई नामों से जाने जाते हैं : वनवासी, वन्यजाति, गिरिजन, आदिम जाति इत्यादि। संविधान में इन्हें अनुसूचित जाति की संज्ञा दी गयी है। प्रस्तुत पुस्तक में इनके लिए 'जनजाति' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

को संस्थापित करते हैं। इनमे से कुछ बड़ी जनजातियो की उपजातियाँ हैं। ३० लाख जनसख्या वाली संथाल जनजाति सबसे बड़ा पृथक् जनजातीय समूह है।

भौगोलिक वितरण के अनुसार जनजातियो को चार मुख्य क्षेत्रो मे बाँटा गया है : (अनेक जनजातीय आवासित क्षेत्रो के साथ) (१) हिमाचल क्षेत्र, (२) मध्य भारत, (३) पश्चिमी भारत तथा (४) तटवर्ती द्वीप-समूहों के साथ दक्षिणी भारत। इन क्षेत्रो का सक्षिप्त विवरण यहाँ प्रासगिक होगा।

(१) हिमाचल क्षेत्र—इस क्षेत्र के अन्तर्गत जम्मू तथा कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मणिपुर-त्रिपुरा के तराई क्षेत्र, असम, उत्तरी बगाल, मेघालय, नागालैंड, नेफा, तथा त्रिपुरा आते है। इस क्षेत्र मे निवास करने वाली कुछ मुख्य जनजातियाँ ये है—गद्दी, गुज्जर, भोट, किन्नउरा जम्मू तथा कश्मीर और हिमाचल प्रदेश मे, थारू उत्तर प्रदेश तथा बिहार के तराई क्षेत्र मे; कुकी, मिजो, कचारी या बिमासा, गारो, खासी असम मे, नागा समूह नागालैण्ड मे, त्रिपुरी और रियाना त्रिपुरा मे, थाडोउ, तान्गखुल, माम्रो तथा अन्य मणिपुर मे। इस क्षेत्र मे देश की सम्पूर्ण जनजातीय सख्या की ११.३५ प्रतिशत आबादी है।

(२) मध्य भारत—इस क्षेत्र के अन्तर्गत पश्चिमी बगाल, बिहार, उडीसा तथा मध्य प्रदेश आते है। इस क्षेत्र मे निवास करने वाली प्रमुख जनजातियाँ ये है—सथाल, मुण्डा, उराँव तथा हो बिहार और पश्चिमी बगाल मे, भूमीज, लोधा तथा कोया पश्चिमी बगाल मे; खोण्ड, गोण्ड, सावर, कोया, भूइयाँ, गदाबा और जुग उडीसा मे तथा गोण्ड, [illegible]र, बैगा, भूमिया, कोरकू और हल्बा मध्य प्रदेश मे। इस क्षेत्र मे भारत की सम्पूर्ण जनजातीय जनसख्या का लगभग ५६ ८८ प्रतिशत निवास करता है।

(३) पश्चिमी भारत—इस क्षेत्र के तीन राज्यो—राजस्थान, गुजरात तथा महाराष्ट्र में सम्पूर्ण जनजातीय जनसंख्या का २४.८६ प्रतिशत निवास करता है। प्रमुख जनजातीय समुदाय हैं—मीना तथा भील राजस्थान मे, भील, डब्ला, धोदिया, गामीत तथा सह्याद्री समुदाय गुजरात मे और भील, कोली, महादेव तथा कोकना महाराष्ट्र मे। भील इस सम्पूर्ण क्षेत्र में पाये जाते हैं।

(४) दक्षिणी भारत—इस क्षेत्र मे जो विभिन्न राज्य तथा सघीय क्षेत्र हैं, उनके नाम ये है—आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, पाण्डिचेरी, अदमान तथा निकोबार द्वीपसमूह, ल० म० और अ० द्वीपसमूह। इस क्षेत्र मे बची हुई ६.९ प्रतिशत जनजातीय जनसंख्या निवास करती है। प्रमुख जनजातियो में इन जनजातियो का उल्लेख किया जा सकता है—गोंड, कोया, अनादी, येरुकूलू तथा कोण्डा डोरा आन्ध्र प्रदेश में; इरूला, माला, कुरावान तथा टोडा तमिलनाडु में; नैकाडा, भारती तथा मरावा कर्नाटक में;

पुलायन, पनीयान तथा कादर केरल में; और अण्डमानी, निकोबारी, ओंग तथा जरावा अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूहों में। लक्षदीव, मीनीकॉय तथा अमीनदीवी द्वीप-समूहों के लगभग सभी निवासी इन्हीं क्षेत्रों में पैदा हुए हैं।

यद्यपि भारत की जनजातियों के अन्तर्गत प्रजातीय तत्वो का विशेष अध्ययन नहीं हुआ है तथापि अब तक के किये गये अध्ययनों के प्रकाश मे यह स्पष्ट है कि यदि दक्षिणी वर्ग में 'नीग्रीटो' का मिश्रण है तो केन्द्रीय वर्ग में 'आस्ट्रेलोऑइड' की विशेषताएँ और उत्तर-पूर्वी जनजातियो मे 'मगोलॉइड' प्रजाति के लक्षण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। दक्षिणी वर्ग के त्रावनकोर-कोचीन की पहाड़ियों के निवासी कादर और वायनद, ईरूला तथा पनियन भारत के प्राचीन आदिवासी कहे गये हैं। डा० गुहा और हटन के अनुसार इनके अत्यधिक घुँघराले बाल, चिपटी नाक इत्यादि 'नीग्रो' विशेषता के द्योतक है।

केन्द्रीय वर्ग की जनजातियाँ "प्रोटो आस्ट्रेलाइड" वर्ग की हैं। यह प्रजाति भी दक्षिण की "नीग्रीटो" से साम्य रखती है। परन्तु प्रमुख भिन्नता दोनो के सिर के बालों मे है। इस जाति के आगमन इत्यादि के बारे में विश्वसनीय रूप से कुछ कहना कठिन है। उत्तरी-पूर्वी जनजातियों पर "मंगोल" प्रजाति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इनके चिपटे मुँह, गाल की चौडी हड्डियाँ और चिपटी नाक इनके प्रमाण हैं। इनकी आँखों में एक अजीब तरह की सिकुड़न रहती है जो मंगोलियन आँखो की विशेषता बतलायी गयी है और इसी हेतु इसे "मगोलियन फोल्ड" या "इपीकैनथीक फोल्ड" कहते हैं।

भारत की जनजातियाँ बिभिन्न परिवारों की भाषाएँ बोलती है। इनमें आग्नेय, द्राविड़, भोट-चीनी परिवार मुख्य है।

आग्नेय आस्ट्रिक का ही दूसरा नाम है। इस परिवार की दो शाखाएँ हैं—आग्नेय देशी और आग्नेय द्वीपी। आग्नेय देशी शाखा की भाषाएँ भारत के कई भागों में बोली जाती हैं। इसकी दो मुख्य उपशाखाएँ हैं—मानखमेर तथा मुण्डारी।

मानखमेर उपशाखा के चार वर्ग हैं—मानखमेर, पलौंगवा, खासी और निकोबारी। निकोबारी निकोबार द्वीप की और खासी असम के खासी लोगों की भाषा है। भारत की दृष्टि से आग्नेय परिवार की सबसे प्रधान भाषा मुण्डा है। बिहार, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, उड़ीसा और मद्रास प्रान्त तथा गजाम जिले तक मुण्डा वर्ग की बोलियाँ फैली हुई हैं। मुंडा, हो, संथाल, भील आदि केन्द्रीय वर्ग की जनजातियाँ इसी परिवार की भाषा, जिसे "मुंडारी" भी कहते हैं, व्यवहार में लाती हैं। भारत में मुंडा भाषा का प्रसार बहुत अधिक था। कुछ विद्वानों का कहना है कि भारत की प्रस्तरयुगीन संस्कृति का निर्माण मुंडा भाषा-भाषी लोगों द्वारा ही, जो प्रोटो-आस्ट्रेलाइड परम्परा के हैं, हुआ था। यह

प्रत्यय-प्रधान भाषा है। इसमें स्त्रीलिंग और पुल्लिंग व्याकरण के आधार पर नहीं, सजीव और निर्जीव के भेद के अनुसार होते है। आर्य भाषाओं की भाँति इसमे भी तीन वचन होते हैं। इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वाक्य-रचना है।

द्राविड़ भाषा-परिवार चार भागों मे बाँटा जा सकता है—द्राविड, आन्ध्र, मध्यवर्ती तथा बहिरंग। द्राविड़ परिवार की मध्यवर्ती बोली मे गोंडी सर्वप्रमुख है। यह मध्य प्रदेश और मध्य भारत मे बोली जाती है। द्राविड़ परिवार की अन्य बोलियों मे कुँडुख, कुई, माल्तो और कोलामी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुँडुख छोटा नागपुर, मध्य प्रदेश और उड़ीसा के कुछ जिलों मे बोली जाती है। इसका तमिल और कन्नड से निकट साम्य है। कुँडुख की एक शाखा माल्तो है जो राजमहल पहाड़ियों मे रहने वाले सौरिया या मालेर लोगो की भाषा है। कुई उडीसा मे बोली जाती है। इसका तेलुगु से अधिक सम्बन्ध है। कोलामी बरार मे बोली जाती है। भीलो की भाषा का इस पर बहुत अधिक प्रभाव है।

भारत मे बोली जानेवाली भोट-चीनी परिवार की भाषाओं मे तिब्बती, बर्मी और स्यामी-चीनी मुख्य है। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र या हिमाचल क्षेत्र मे रहने वाली आदिवासी जनजातियों की भाषा के स्वरूप का आधार तिब्बती-बर्मी भाषा है और कही-कही इसके साथ मानखमेर अथवा आस्ट्रिक भाषा का भी मिश्रण है।

लगभग पचास वर्ष पहले तक हमारे देश की जनजातीय आबादी का बहुत बडा भाग जंगलियों की तरह जीवन-यापन करता था। ये लोग शिकार या मछली पकड़ने या पशुपालन या एक प्रकार की अनुन्नत खेती के द्वारा भोजन आदि प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। देश की ग्रामीण जनता के सम्पर्क मे आकर इनमे से अधिकाश ने अपने जंगली रीति-रिवाजो को त्याग दिया है और ये लोग सभ्यता के पथ पर आगे बढ़ते चले जा रहे है।

इनमे से अभी भी जो जातियाँ जगलों और पहाड़ो मे रहकर अपनी आदिम अर्थ-व्यवस्था को निभाये हुए है, उनमें से उत्तर प्रदेश के अलमोडा जिले के राजी, दक्षिण बिहार के खड़िया, बिरहोर और पहाड़िया, असम के कुकी, मध्यप्रदेश के पहाडी व भडिया, मद्रास और आन्ध्र प्रदेश के कोया, कोण्टारेड्डी, पालियन और कादर तथा उडीसा के जुआंग उल्लेखनीय है। ये जातियाँ अपने ग्रामीण पडोसियों के सम्पर्क मे आने से पूर्व जगलो और पहाड़ो में रहती थी और शिकार तथा जंगलो से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ जुटाती थीं। इनमें से बहुतेरे लोग मिट्टी के बर्तन बनाना भी नहीं जानते थे और बाँस के नलके तथा पत्तो के दोनो से अपना काम चलाते थे। शिकार तथा कन्द-मूल-फल जमा करने के

लिए भी ये आदिम उपकरणों का ही प्रयोग करते थे। ये लोग या तो वस्त्र नहीं पहनते थे या फिर घास-फूस को कमर के इर्द-गिर्द बाँध लेते थे। इनके पालतू पशुओं में कुत्ता मुख्य था, घोड़े अथवा ढोर को पालतू बनाने की महत्ता इनको विदित न थी। इनकी झोपड़ियाँ भी बहुत आदिम ढग की होती थी। बाँस और घास-फूस से छोटी सी झोपड़ी का निर्माण कर लेते थे जिसे छोड़कर स्थानान्तरित होने मे इन्हें किसी प्रकार का लोभ अथवा क्षोभ नही होता था।

दूसरी श्रेणी मे हम उन जनजातियों को रखते हैं जो पहाड़ो की ढालों अथवा पठारों पर रहती है और "झूम" खेती अथवा जगली वस्तुओ के विनिमय द्वारा जीवन-यापन करती है। मिरजापुर और सरगुजा के कोरवा, छोटा नागपुर के असुर, बंगाल के माल-पहाड़िया, असम के नागा, लखेड़ गारो, मध्य प्रदेश के बैगा, मुड़िया, दडामी और भड़िया, आन्ध्र प्रदेश और उड़ीसा के कध व सग्रोरा इस वर्ग की प्रमुख जनजातियाँ हैं। कुछ समय पूर्व तक यह एक प्रकार से आदिम ढंग की खेती करते थे। इस प्रकार की खेती में पहाड़ों की ढालो पर वनस्पति को जलाकर राख बिखेर दी जाती है। लकडी के एक नुकीले डंडे से, जिसमे कभी-कभी पत्थर या लोहे का छोटा फल लगा होता है, धरती खुरचकर उस पर बीज बिखेर दिये जाते हैं। इस डडे को 'हो' (Hoe) कहते है और इस प्रकार की खेती को "हो" कृषि। इन जनजातियों को किसी प्रकार की खाद अथवा सिचाई का ज्ञान नही है और न ही इनको बीज के उगने की प्रक्रिया की ही जानकारी होती है। प्रत्येक वर्ष खेती के लिए नया वनखड खोजा जाता है और उपयोग को हुई भूमि को तब तक परती छोड़ दिया जाता है जब तक उसपर फिर से वन न उग आये। इस प्रकार की खेती को नागा जातियाँ "झूम" कहती हैं। मध्य प्रदेश के बैगा आदिवासियों में इसे "बेवार" कहा जाता है, मिरजापुर जिले, उड़ीसा और मद्रास की जनजातियों में "पोंदू"। इस प्रकार की "हो" कृषि के अतिरिक्त ये लोग जंगल की वस्तुएँ, जैसे आँवला, बेर, खैर की छाल, महुआ, तेंद, पलाश के फूल और पत्तियाँ, लाख आदि इकट्ठा कर ठेकेदारों के हाथ बेचने का धधा करते हैं। ये लोग पशु पालते हैं और उनके दूध से घी आदि बनाना जानते है। इनके शिकार के हरबे और अन्य उपकरण भी काफी सुधरे हुए होते हैं। पहली श्रेणी की जातियो की भाँति ही ये लोग बाँस और पत्तो की अस्थायी झोपड़ियों मे रहते हैं।

तीसरी श्रेणी में वे जनजातियाँ आती है जिनके विषय में कहा जाता है कि वे स्थायी रूप से भूखण्ड पर बस चुकी है और उन्होंने अपने भौतिक वातावरण से भरपूर लाभ उठाया है। उत्तर प्रदेश और बिहार की तराई के निवासी थारू और भोक्सा; जौनसार बावर के खस; मिरजापुर के माँझी और खरवार; छोटा नागपुर के मुंडा, हो, उराँव;

बंगाल के पोलिया और सन्थाल; असम के खासी और मनीपुरी; मध्यप्रदेश के परजा व भटरा और राजगोंड; उड़ीसा के गडाबा, मद्रास के कोटा, बडगा और इरुला तथा पश्चिम भारत के भील इस श्रेणी की कुछ प्रमुख जनजातियाँ है। अपने ग्रामीण पड़ोसियो की भाँति ही ये लोग खेतिहर और पशुपालक है तथा मुर्गी, बत्तख और सूअर भी पालते हैं। ये स्थायी घर और गाँव बसाकर रहते हैं। चाक पर मिट्टी के बर्तन बनाना जानते हैं, लकडी पर खराद का काम और धातुएँ गलाकर उनके औजार और बर्तन बनाने का काम तथा सूती और ऊनी कपडा बुनना आदि धन्धों से परिचित हैं। जौनसार बावर में पाँच से सात हजार फुट की ऊँचाई पर वहाँ के निवासी सीढीनुमा खेत बनाकर गेहूँ, चावल, जौ आदि फसलें उगाते है। कही कही ये खेती के साथ फलो के बगीचे और रेशम के कीड़े पालने का काम भी करते है। जिन प्रदेशो मे जनजातियाँ रहती है, वहाँ बजारे व्यवसायी गाँव मे घूम-घूमकर सामान बेचते है और साप्ताहिक हाट भी लगाते है जहाँ ये अपनी आवश्यकताओ की वस्तुओ का विनिमय अथवा क्रय-विक्रय करते है। इन आदिवासी जातियो मे बंजारे-व्यवसायियो के माध्यम से शहरी वस्तुओ का प्रचलन बढ रहा है और कारखाने का बना हुआ सस्ता किन्तु आकर्षक सामान जनजातियो की अपनी दस्तकारियो को नष्ट कर रहा है। विशेषतया कपडे और खिलौने, साबुन, तेल, क्रीम, लिपस्टिक आदि प्रसाधन सामग्री, जूते, दाल, नमक, चीनी, दियासलाई, लालटेन, मिट्टी का तेल तथा सतति-निरोधक वस्तुओं का प्रचलन जोर पकड रहा है। आर्थिक दृष्टिकोण से इस श्रेणी का जनजातीय समाज भारत के ग्राम्य समाज के समकक्ष है। इनमे से अधिकाश जातियो के गाँव मडियो अथवा औद्योगिक केद्रो के निकट होने के कारण इनपर सस्कृति के सम्पर्क का प्रभाव अधिक पड़ा है।

इन तीन श्रेणियों मे उल्लिखित जनजातियो के अतिरिक्त भारत मे नीलगिरि के वासी टोडा है, जो आर्थिक वर्गीकरण की दृष्टि से एक निराली ही श्रेणी मे है। टोडा जाति नीलगिरि के शिखर पर रहती है और भैंसो को पालना ही इसका धन्धा है। भैसो के दूध से ये घी बनाते हैं, किन्तु अपने उपयोग के लिए नही, अपने देवताओ की पूजा के लिए। आर्थिक दृष्टिकोण से टोडा पिछड़ी जाति है, क्योकि इन्हे न तो कपड़ा बुनना आता है, न मिट्टी के बर्तन बनाना और न धातुओ का उपयोग। मिट्टी के भाँड़े और कपडा ये अपने निकटवर्ती व्यापारियो से दूध और मास के बदले खरीद लेते है। इनके घर बाँस और मिट्टी के अर्धगोलाकार होते हैं, और पशु-गृह, जो इनका देव-गृह भी होता है, लकड़ी और मिट्टी से बना होता है।

विभिन्न श्रेणियो की जनजातीय सस्कृति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, जिसका अध्ययन

प्रत्येक दृष्टिकोण से मानव-वैज्ञानिकों द्वारा किया गया है। इन अध्ययनों के संदर्भ में भारतीय संस्कृति का यथोचित विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे रहने वाली ये जनजातियाँ प्रारम्भ से ही ब्रिटिश शासकों, विद्वानों, विदेशी धर्मप्रचारकों तथा यात्रियों को अध्ययन के लिए अपनी ओर आकर्षित करती रही हैं। वे उपनिवेशिक शासन और धर्म-परिवर्तन करने के लिए एवं सांस्कृतिक-ऐतिहासिक ज्ञान तथा साहसिक स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए इन अध्ययनों को प्रधानता देते रहे। परन्तु इस प्रकार का अध्ययन वैज्ञानिक एव प्रामाणिक रूप में हाल ही मे प्रारम्भ हुआ। भारत के विभिन्न भागो मे जनजातीय सस्कृति का अध्ययन नृतत्त्ववेत्ताओं ने आरम्भ किया परन्तु सभी क्षेत्रो मे समान प्रगति नही हो पायी। नृतत्त्ववेत्ताओं के लिए हिमाचल एक कठिन क्षेत्र प्रस्तुत करता रहा है। नृतत्त्ववैज्ञानिक कार्यों के लिए हिमाचल के सर्वथा अनुकूल होते हुए भी इसके विभिन्न भागो मे निवास करने वाली जनजातियों एव समुदायो के मध्य अत्यन्त ही अल्प शोध कार्य हुए हैं। अभी तक नृतत्त्व-वैज्ञानिकों ने पश्चिमी हिमालय के किसी गाँव या जनजाति का विस्तृत अध्ययन करने का कोई भी प्रयत्न नही किया। ग्रामीण विनिबन्ध सर्वेक्षण योजना के अन्तर्गत जनगणना संगठन ने जम्मू एव कश्मीर, हिमाचल प्रदेश तथा पजाब के कुछ गाँवों का चयन किया तथा प्रथम ग्रामीण अध्ययन प्रारम्भ हुआ। किन्नौर जिले के कोठी ग्राम का चन्द्रकुमार (१९६३) द्वारा किया गया अध्ययन ७,००० से ९,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित एक आदर्शभूत किन्नौरी गाँव की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। यह गाँव अनुसूचित जनजाति के किन्नौरो से आच्छादित है, जिनकी मुख्य वृत्ति कृषि है तथा भेड़-पालन, बुनाई, चाँदी तथा लोहारी से ये लोग अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। यह अध्ययन गाँव की बुनाई, जूता बनाने, टोकरी बनाने, मिट्टी के बर्तन बनाने, वाद्य-सगीत-यत्र बनाने तथा गहना बनाने की शिल्पकला की प्रभुता को व्यक्त करता है जिससे इस क्षेत्र मे बृहत् रूप से भौतिक संस्कृति के अध्ययन की सम्भावना व्यक्त होती है।

डब्ल्यू० एच० नेवेल (१९६०) द्वारा किया गया ग्रामीण अध्ययन गोशुम (एक गद्दी ग्राम) के विषय मे समृद्ध सामाजिक नृतत्त्ववैज्ञानिक आँकड़े प्रस्तुत करता है तथा दर्शाता है कि किस प्रकार गद्दी समाज जाति-स्तर की ओर अग्रसर हो रहा है।

नेवेल हिमालय की जनजातीय गतिविधियो के सामान्य प्रवाह पर प्रकाश डालते हैं। गद्दियों मे उभरती हुई जातिव्यवस्था का उनका प्रेक्षण यहाँ उधृत करने योग्य है :

"धन-अर्जन करने के नये सुअवसरों के परिणामस्वरूप, राजपूत-ब्राह्मण या राणा जैसे समूहों का जातीय रूप में सजग हो जाना प्राय: अनिवार्य है तथा ऐसी आशा की जाती

है कि इसके उपरान्त होने वाले प्रकाशन में यह दर्शाया जा सकता है कि सम्पूर्ण रावी घाटी एक विलम्बित आकार के अनुरूप परिवर्तित होती जा रही है। नये सुअवसरों का परिणाम, गद्दी जिस दिशा मे बढ रहे थे उसे परिवर्तित करना ही नही, वरन् उन लोगों की वर्तमान विधि को और गतिशील कर देना है (नेवेल, १९६७)।"

कुलू के एक गाँव मे इसी प्रकार का अध्ययन एक धर्मप्रचारक-नृतत्त्ववेत्ता कोलीन रोजर (१९६०) ने किया, जो १९५१–५३ मे लगभग दो वर्षों तक इस गाँव मे रहे। ८,६४० फुट ऊँचाई पर स्थित मलायना गाँव का यह अध्ययन, हिमालय समुदाय की गहरी धर्म-अभिमुखता (रेलिजस ओरिएण्टेशन) एवं समुदाय-संपृक्ति (ग्रुप-कोहेसिवनेस) का अद्भुत चित्र प्रस्तुत करता है। लोगो को घाटी के देवी-देवताओ के साथ सामंजस्य तथा उनकी गहरी धार्मिक एवं परम्परागत अभिभूतता का रोजर द्वारा किया गया विश्लेषण उक्त हिमालयी गाँव के समक्ष आनेवाली आधुनिकता की चुनौती पर विशेष प्रकाश डालता है।

'ऐन्थ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑव इडिया' ने पजाब मे काँगडा जिले के पहाड़ी गद्दियों के मध्य तथा हिमाचल प्रदेश के छम्ब जिले मे परिस्थिति एव अर्थव्यवस्था के बीच सम्बन्धों का विवरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कुछ क्षेत्रीय शोध-कार्य किया है। बोस का अध्ययन तिब्बत के साथ व्यापार बन्द हो जाने से उत्पन्न गद्दियो की आर्थिक समस्याओ पर प्रकाश डालता है। यह अध्ययन सूचित करता है कि अनेक सीमान्त जनजातियो ने अन्य देशों के सीमान्त समुदायों के साथ अतिरिक्त राजकीय, क्षेत्रीय, सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों का विकास कर लिया है जिसमे हाल ही मे अवरोध पड जाने से उनका आर्थिक-सामाजिक सन्तुलन अस्तव्यस्त हो गया है।

मध्य हिमालय क्षेत्र मे प्रारम्भिक शोध-कार्य का विकास १८७२ मे हुआ, जब डाल्टन (१८७२) ने सिक्किम तथा दार्जिलिंग के लेप्चाओ और लिम्बुओ के भौगोलिक वातावरण, शारीरिक गुणो, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन पर सामग्री सकलित की। जे० एफ० आर० कोलोगान (१८८४) मध्य हिमालय के जनजातीय समुदायो के बीच जाति-समुदायो के विकास का विवरण प्रस्तुत करते है तथा जाति-व्यवस्था के सदर्भ मे दो स्पष्ट समूहों—हिन्दू उच्च वर्णों तथा शूद्रो—का उल्लेख करते है।

प्रशिक्षित नृतत्त्ववेत्ताओ द्वारा नृतत्त्व-वैज्ञानिक शोध अत्यन्त विलम्ब से आरम्भ हुई। १९३४ मे पी० सी० विश्वास ने लेप्चाओं और लिम्बुओ के मध्य क्षेत्रीय शोध-कार्य संचालित किया। १९४८ से १९५० तक एस० के० श्रीवास्तव ने नैनीताल के थारुओं के मध्य व्यापक क्षेत्रीय शोध-कार्य किया। उस निबन्ध का उद्देश्य बृहत् समाज के साथ

थारुओं के सम्पर्क के परिणामो की परीक्षा करता है। मूल रूप से जाति-विहीन एवं भाग्यवादी थारू जनजाति मे जातीय चेतना का अपनाना इस निबन्ध में अंकित है। थारू अपने को क्षत्रिय वंश का मानते हैं।

मजुमदार के एक अन्य छात्र आर० एन० सक्सेना (१९६२) ने जौनसार बावर की खासा जनजाति का अध्ययन किया। सक्सेना ने खासाओं को राजपूत माना और एक ओर ब्राह्मण तथा दूसरी ओर डोम आदि जातियो के सम्बन्ध मे उनका अध्ययन किया। सक्सेना ने व्यापक बहुपति प्रथा की उत्पत्ति का भी विस्तार से अध्ययन किया तथा सुझाव दिया कि ऐसा हो सकता है कि यह काँगड़ा घाटी द्वारा जौनसार बावर में फैला हो, क्योंकि प्राचीन आर्य लोग, जो इस प्रथा का पालन करते थे, पश्चिमी हिमालय से दक्षिण की ओर फैलते गये। किसी प्रकार से मजुमदार के मत से भी बहुपति प्रथा खासाओ में ईसा पूर्व २९३७ से ही थी। उन्होने अनेक लेख प्रकाशित करवाये तथा इस जनजाति पर उनकी पुस्तक उनके मरणोपरान्त प्रकाशित हुई। "हिमालयन पॉलियाण्ड्री" उनका प्रमुख कार्य है। यह निबन्ध जौनसार बावर के इतिहास, सस्कृति तथा सामाजिक समस्याओ का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हुए हिमालयी ग्रामो की संस्कृति, सामाजिक सगठन, सम्बन्ध-सरचना, ग्राम-व्यवस्था, नेतृत्व, आर्थिक गतिविधियो, वृत्ति-विशिष्टता, पारिवारिक अर्थव्यवस्था, शैक्षिक प्रशिक्षण तथा धर्म के विषय मे महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। इसके द्वारा खासाओ का धर्म हिन्दू पौराणिक कथाओ तथा भूतो एवं राक्षसों की स्थानीय धार्मिक प्रथाओ का एक समुचित मिश्रण प्रतीत होता है।

लेप्चा, थारू तथा खासा जनजातियो पर विस्तृत कार्य करने के अतिरिक्त, आर० डी० सनवाल (१९६६ तथा १९६९) ने कुमायूँ मे जाति-व्यवस्था मे होनेवाले परिवर्तनों का भी अध्ययन किया। वे उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रो मे तीन सास्कृतिक भाषाई मडलों की पहचान करते है तथा सम्पूर्ण मध्य पहाड़ी समाज के स्तर-विन्यास के अध्ययन का सुझाव देते हैं, क्योंकि मध्य पहाडी समाज का तीन खडो मे वर्गीकरण सामाजिक स्तर-विन्यास को समझने के लिए अत्यन्त सगतिपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त राजीयो, शेखाओ तथा टोटो जैसी विलोप के संकट से ग्रस्त कुछ लघु जनजातियो से सम्बन्धित अनिर्णायक अध्ययन भी हुए है। दो प्रबल क्षेत्रो के बीच दब जाने के कारण उनमें से कुछ या तो पूर्ण विलयन की स्थिति मे है या उनकी सांस्कृतिक समानता सकट मे है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अन्य क्षेत्रों की तुलना में मध्य हिमालय क्षेत्र का अधिक अच्छी तरह से अध्ययन किया गया है, जिससे यहाँ की जनजातीय संस्कृति विशेष रूप से प्रकाश में आयी है।

उत्तरी-पूर्वी हिमालय क्षेत्र का, प्रशासन के दृष्टिकोण से, असीम महत्त्व होने के कारण उपनिवेशीय विद्वान् तथा नृतत्त्ववैज्ञानिक इस क्षेत्र की भूमि तथा मनुष्यों के अध्ययन के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुए। प्रारम्भ से ही ब्रिटिश प्रशासकों, विदेशी धर्मप्रचारकों, सैनिक पदाधिकारियों तथा जनगणना अधिकारियो मे से अनेक लोगो ने इस क्षेत्र की जनजातियों के जीवन एव संस्कृति के विषय मे लिखा।

१९२१ के जनगणना-अक को एक टिप्पणी-शृखला मे तथा कई लेखों मे हटन ने (१९२३, १९२४) तुलनाओ का प्रयत्न किया है तथा विभिन्न नागा वर्गों एव असम की अन्य जनजातियो के मध्य सम्बन्ध भी स्थापित किया है। उनके मतानुसार असम की जनजातियाँ विभिन्न दिशाओ—पश्चिम, दक्षिण-चीन, दक्षिण तथा उत्तर-पूर्व—से आकर बसी हैं। वे इस क्षेत्र की भौतिक सस्कृति का (विशेष रूप से हथियारो एव औजारो का) सामंजस्य अद्भुत रूप से इन्डोनेशियाई प्रकार के साथ स्थापित करते हैं।

एक अन्य प्रशासक जे० पी० मिल्स लोथा सस्कृति का वर्णन करते हुए प्रथमतः अमरीकी बैप्टिस्ट मिशन तथा द्वितीयत नेपाल से आकर बसे हुए हिन्दुओ के प्रभाव द्वारा निष्पन्न लोथाओ के अजनजातीयकरण की विधि की ओर आकर्षित हुए। उन्हे ज्ञात हुआ कि पिछले बीस वर्षों से लेशरो गॉव मे सामुदायिक समारोह अनुपलब्ध है तथा मोरग युवक शयनागार सस्था का न श हो गया है। 'ओ' लोगो पर लिखे गये अपने अन्य विनिबन्ध (१९२६) मे मिल्स अमरीकी बैप्टिस्ट मिशन की ओर से ओ समाज पर घटित सामाजिक प्रभावो का अनुमान लगाने का प्रयत्न करते है। इसके अतिरिक्त स्मिथ ने भी ओ नागाओ की उत्सस्करण अवस्था का विश्लेषण करते हुए माना है कि ईसाई धर्म ने ओ नागाओं को परम्परागत रीति छोड़ने पर विवश किया। फिर भी वे सूचित करते है कि ईसाई प्रभाव के अन्तर्गत एक नया पुनःसमलक्ष्य प्रकट हुआ है (डब्ल्यू० सी० स्मिथ, १९२५)।

मिल्स ने रेगमा नागाओ पर अपना तृतीय विनिबन्ध लिखा जो १९३७ मे प्रकाशित हुआ। यह जनजाति भौगोलिक रूप से पूरबी और पश्चिमी, दो भागो मे बँटी हुई है तथा इसके बीच सेमा और लोथा नागाओ की बस्तियाँ छिटपुट रूप से अवस्थित है। उत्स-स्करण के स्तर पर भी पूर्वीय रेंगमा विच्छेदित होने के कारण अपनी परम्परागत सस्कृति को बनाये हुए हैं जबकि पश्चिमी रेंगमा ईसाई धर्म के प्रभाव से अत्यन्त परिवर्तित हो गये हैं। ये अध्ययन यहाँ की सस्कृति एव रोचक सामाजिक गतिशीलता की स्थिति को प्रकाश मे लाते हैं।

नेफा क्षेत्र का विच्छेदित वन्य भूभाग तब तक अपरीक्षित ही रहा जब तक सी० वान फ्यूरर-हैमनडार्फल को एक विशेष पदाधिकारी के रूप मे (१९४४–४५) नेफा क्षेत्र

के समन्वेषी सर्वेक्षण के संचालन के लिए नहीं बुलाया गया। उन्होंने डाफ-ला, मिराज तथा आपा तानीज—तीन नेफा जनजातियो के विषय में दो पुस्तकें प्रकाशित करायी। इसके अतिरिक्त उन्होंने आपा तानीज के विषय में अन्य पुस्तक लिखी जिसमें उनकी अर्थव्यवस्था तथा पड़ोसी डाफ-ला के साथ उनकी प्रतिक्रियाओं की परीक्षा की।

इस क्षेत्र का व्यवस्थित जातिशास्त्रीय अध्ययन नेफा प्रशासन के तत्त्वावधान में वैरियर एलविन तथा नेफा मडलों के मुख्यालयो में पदासीन उनकी टोली ने किया तथा इन जनजातियों के विषय मे अनेक विनिबन्ध प्रकाशित कराये जो यहाँ की जनजातियों के सामाजिक एव सांस्कृतिक जीवन का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं।

वैरियर एलविन के अतिरिक्त कलकत्ता विश्वविद्यालय के टी० सी० दास चट्टो-पाध्याय आदि विद्वानो ने तथा जे० के० बोस, बी० एस० गुहा जैसे नृतत्त्ववेत्ताओ ने भी उत्तर-पूर्वी पहाड़ी क्षेत्रो की जनजातियो के अध्ययन में रुचि ली तथा उनकी सस्कृति के विभिन्न पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश डाला। इन कार्यों के अतिरिक्त उत्तर-पूर्वी जनजातीय क्षेत्रो मे हुए हाल के शोध-कार्यो मे बर्लिंग के एक गाँव मे किया गया शोध-कार्य भी उल्लेख-नीय है। बर्लिंग बाह्य राजनीतिक नियन्त्रण, नयी कृषि-विधियाँ तथा ईसाई धर्म का प्रवेश, इन तीन कारणों को ऐसे प्रमुख तत्त्व मानते हैं जिनसे गारो जाति की जीवन-शैली मे विशेष परिवर्तन हो गया है। वे यह भी कहते है कि गारो जाति का यह स्वरूप न केवल किसी एक गाँव तक सीमित है वरन् समस्त गारो जिले मे विस्तृत है, परन्तु इनकी बृहत् सस्था मे वास करने की चेतना अभी भी अत्यन्त दुर्बल है (बर्लिंग, १९६३)।

इस क्षेत्र के अध्ययन मे अन्य वैज्ञानिको के अतिरिक्त राय बर्मन तथा उनके जनगणना सस्थान के सहयोगियो का प्रयास भी उल्लेखनीय है। यहाँ के ग्रामीण जीवन की विशेष-ताओ के अध्ययन के अतिरिक्त उन्होने कुछ लेखो मे इन सामग्रियो का विश्लेषण उत्तर-पूर्वी भारत मे आधुनिकता की प्रक्रिया को समझने के उद्देश्य से किया। इस सम्बन्ध मे उन्होने कई धारणाएँ प्रस्तावित की, जैसे उत्तर-पूर्वी भारत की पहाड़ियो मे निवास करने वाली जनजातियो के मध्य सहयोग एव सघर्ष को समझने के लिए प्रतिरोधक तथा सेतु की संकल्पना। उनका उत्तर-पूर्वी भारत के पहाड़ी क्षेत्रों का जनांकिकीय तथा सामा-जिक एवं आर्थिक स्वरूप का संक्षिप्तीकरण प्रशसनीय है। यह अंक उत्तर-पूर्वी भारत के सम्पूर्ण पहाड़ी क्षेत्रो का जनांकिकीय, सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक तथा प्रशासकीय चित्र प्रस्तुत करता है।

भू-राजनीतिक (जीओ-पोलिटिकल) विशेषता के प्रकाश में इस क्षेत्र की नृतत्त्व-शास्त्रीय शोध अन्य जनजातीय क्षेत्रों से भिन्न है, क्योंकि यह क्षेत्र चीन, बर्मा तथा बंगला

देश की अन्तरराष्ट्रीय सीमाओ का मिलन-स्थल है। यहाँ की जनजातियाँ बाहरी सपर्क मे है तथा उनकी प्रवृत्तियाँ एव नीतियाँ ऐसे तत्त्वो से प्रभावित है जो स्थानीय एवं राष्ट्रीय सरकारो के नियत्रण के परे है। अन्य शब्दो में, यहाँ की जनजातियाँ केवल सामाजिक कल्याण से ही सम्बन्धित समस्याएँ एव प्रश्न नही उत्पन्न करती वरन् राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्याएँ भी उत्पन्न करती है।

हिमालय क्षेत्र के पश्चात् दूसरा सबसे बड़ा जनजातीय केन्द्रीकरण मध्यभारत मे है। जब बगाल की एशियायी सभा (Asiatic Society of Bengal) की स्थापना (१७७४) सर विलियम जोन्स द्वारा भारत मे "मनुष्य तथा प्रकृति" के अध्ययन के लिए हुई थी, तभी से नेतृत्त्ववैज्ञानिक शोधकर्त्ताओ द्वारा इस क्षेत्र का अध्ययन आरम्भ किया गया। इनमे प्रमुख है डाल्टन (१८७२), रिजले (१८९१ तथा १९०५), ओ मैले (१९३२ तथा १९३४), हीरालाल तथा रसेल (१९१६), आर० बी० बैनब्रीज (१९०७) जैसे प्रशासक एव विद्वान्। मध्य भारत मे जनजातीय अध्ययनो की व्यवस्थित समीक्षा पश्चिमी बगाल, बिहार, उडीसा, दक्षिणी उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के आधुनिक राज्यों को ध्यान मे रखते हुए की जा सकती है।

बगाल, विशेषकर उसकी राजधानी कलकत्ता, भारत मे नृतत्त्ववैज्ञानिक शोध-कार्यों के प्रारम्भिक युग से ही इस प्रकार को शोध का प्राथमिक केन्द्र रहा है। ब्रिटिश प्रशासको तथा धर्म-प्रचारको द्वारा जनजातियो का अध्ययन किये जाने के अतिरिक्त एस० एन० बसु, टी० सी० दास, एन० दत्त मजूमदार, बी० बी० मजुमदार आदि भारतीय विद्वानो ने भी यहाँ की जनजातियो का अध्ययन किया है।

दत्त मजूमदार ने वीरभूमि जिले के सथालो के परिवर्तनशील जीवन का मूल्यवान् अध्ययन किया। उन्होने तीन सामान्य निष्कर्षों को प्रस्तुत किया—(१) जब प्रत्यक्ष दबाव पडता है (जैसा आर्थिक परिवर्त्तन की स्थिति मे) तब आदिवासी-प्रकार नये मूल परिवर्त्तनो के लिए द्वार खोल देता है, (२) जब दबाव प्रत्यक्ष है लेकिन प्रचुर नहीं, तब यह अपने गुणो को बनाये रखने का प्रयत्न करता है तथा (३) जब दबाव अप्रत्यक्ष है तब महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन नही होता। (दत्त मजुमदार १९५६)।

मुखर्जी (१९६०) की मुख्य रुचि सथालो और हिन्दू जातियो के बीच सम्बन्धो का पता लगाना रही है। वे गाँव के आर्थिक क्षेत्र मे हिन्दुओं तथा सथालों मे एकीकरण पाते हैं। परस्पर निर्भरता को सत्यता के अतिरिक्त ऐसा देखा जाता है कि सथाल स्थानीय आर्थिक व्यवस्था जीओ या जजमानी प्रथा के अन्तर्गत लीन कर लिये गये हैं। इस प्रकार वे पाते है कि संथाल अपने आर्थिक सम्बन्धो के समतल विस्तार में उन गाँवो को सीमाओं

के परे संयोजित हो रहे हैं जिनमें वे रहते हैं। तो भी वे अंकित करते हैं कि संथाल हिन्दू जाति-व्यवस्था के उच्च-स्तरीय संगठन में नहीं मिलाये गये हैं।

भूमिज-हिन्दू प्रतिक्रियाएँ सुरजीत सिन्हा के विस्तृत अध्ययन का विषय रही हैं। वे अपने लेखो मे जाति-जनजातीय प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करते हैं तथा कई महत्त्वपूर्ण धारणाओं को, जैसे जनजातीय कृषक, पारस्परिक सक्रमण (Continuum), भूमिज-क्षत्रिय" तथा "जनजातीय-राजपूत सातत्यक" को प्रस्तावित करते है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण मध्यभारत मे परिवर्तन-विधि को समझने के लिए आदर्श प्रस्तुत किया गया है। हाल ही मे मिदनापुर जिले के महलियो (एस० के० सेनगुप्ता, १९६६) तथा बाउरियो के बीच हुए शोध-कार्यो ने भी पश्चिमी बगाल मे जाति-जनजातीय प्रतिक्रियाओ की विधि को पुष्ट किया है (के० सी० शसमल, १९६७)।

अखिल भारतीय कार्यक्रम के अश के रूप मे बिहार की जातियों एव जनजातियों पर प्रारम्भिक विवरण मुख्य रूप से डाल्टन (१७८२), रिजले (१८९१ तथा १९०५), ओ मैले (१९०६–१९२५) तथा उन्ही जैसे अन्य ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा तैयार किया गया है। परन्तु बिहार मे जनजातीय अध्ययनो के इतिहास में तब एक मोड़ आ गया जब स्वर्गीय रायबहादुर एस० सी० राय ने छोटा नागपुर की कुछ जनजातियो का विस्तृत विनिबन्धात्मक अध्ययन किया। राय ने मुण्डा, उराँव, बिरहोर, खरिया पर विनिबन्ध लिखकर जनजातियो का पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया। एस० सी० राय से प्रेरित होकर डी० एन० मजुमदार ने बिहार की हो जनजाति के सास्कृतिक परिवर्तन के उन्नत अध्ययन का प्रयत्न किया।

छोटा नागपुर मे जनजातीय अध्ययन की जिस परम्परा का प्रारम्भ हुआ वह राँची मे नृतत्त्वविज्ञान विभाग (१९५३) तथा जनजातीय शोध सस्थान (१९५४) स्थापित होने पर व्यवस्थित रूप से आगे बढती रही। विभाग के नृतत्त्ववैज्ञानिको के शोध-कार्यों में राजमहल पहाड़ियो की मालेर जनजाति पर किये गये शोध-कार्यों (विद्यार्थी, १९६३) का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। इस पुस्तक की मुख्य अवधारणा है—सांस्कृतिक या कठिन वातावरण मे जीवित रहने के लिए सामाजिक व्यवस्थाओ के बीच विशेष औद्योगिक आविष्कारो द्वारा जीवित रहने की अनुकूलता प्राप्त करना। एक पद्धति के रूप में यह पुस्तक प्रकृति और मनुष्य के बीच अलौकिक तत्त्वों की समष्टि के रूप में विकसित संस्कृति को समझने की प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करती है। परिशिष्ट में अनेक विस्तृत जीवनियाँ दी गयी हैं जो मालेर जीवनगति को समझने मे सहायक हैं, साथ ही उनके जीवन एवं सस्कृति के प्रति अभिवृत्ति को जानने मे भी सहायक हैं। इस प्रकार की जीवनियों का

व्यवहार भारतीय जातिशास्त्र में एक नया प्रयोग है। विद्यार्थी द्वारा लिखे गये अनेक लेखों मे "आधुनिक भारत की जनजातियों में सांस्कृतिक परिवर्त्तन" नामक लेख का उल्लेख किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत भारत मे साधारण रूप से तथा छोटा नागपुर में विशेष रूप से, आधुनिक जनजातीय समाजो मे परिवर्त्तन की विधियो एव प्रकारो पर प्राप्त सूचनाओं का सक्षेपीकरण करने का प्रयत्न किया गया है।

डी० पी० सिन्हा (१६६८) द्वारा किया गया 'बनारी' नामक जनजातीय हाट का विश्लेषणात्मक अध्ययन उस हाट की व्यावहारिक जटिलता तथा बहुमितीय महत्त्व को प्रकाश मे लाता है। इस गहरे अध्ययन के प्रकाश मे इसकी पुष्टि की गयी है कि अन्तर-जनजातीय हाटें केवल आर्थिक आदान-प्रदान का केन्द्र ही नही है वरन् सबधित क्षेत्र के लिए सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक केन्द्र के रूप मे भी कार्य करती है।

नृतत्त्वविज्ञान विभाग ने राँची तथा अन्य जिलो की जनजातियो पर चार विस्तृत शोध-योजनाओं को पूरा किया है। प्रथम प्रतिवेदन राँची जिले के उराँव एव मुण्डाओं के मध्य सास्कृतिक परिवर्त्तनो को प्रकाश मे लाता है (सच्चिदानन्द, १६६४)। दूसरा, जनजातीय आधार से राँची के एक नगर-केन्द्र के रूप मे विकसित होने का अध्ययन करता है (विद्यार्थी, १६६६) तथा विशेष रूप से जनजातियो पर नागरीकरण के प्रभाव का अध्ययन करता है। तीसरा प्रतिवेदन छोटा नागपुर जनजातीय क्षेत्र मे भारी अभियन्ता की जटिलता के विकास का अध्ययन प्रस्तुत करता है तथा इस क्षेत्र मे बृहत् स्तर पर हुए औद्योगीकरण के कारण सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्त्तनो के प्रकार का विशेष रूप से उल्लेख करता है (विद्यार्थी, १६७०)। चौथे प्रतिवेदन मे, जो अभी तैयार किया जा रहा है, विभिन्न सास्कृतिक प्रकारो मे से चुनी हुई छ जनजातियो के मध्य जनजातीय नेतृत्व के प्रकार मे होनेवाले परिवर्त्तनो का अध्ययन किया जा रहा है। छोटा नागपुर और संथाल परगना मे जनजातीय नेतृत्व की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के प्रकाश मे यह अध्ययन पहले के ग्रामीण, चमत्कारिक एव परम्परागत जनजातीय नेतृत्व के बीच से नये प्रकार के क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय नेतृत्व के विकास पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है (विद्यार्थी)।

विभाग के विद्वानो के अतिरिक्त, शोध-विद्वानो, जनजातीय शोध-संस्थान के पदाधिकारियो तथा जनगणना विभाग ने छोटा नागपुर की जनजातियो का गूढ़ एव विस्तृत अध्ययन किया है। जातिशास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण से छोटा नागपुर भारत के सर्वाधिक विस्तृत रूप से अध्ययन किये गये क्षेत्रों मे से एक है।

उडीसा में जनजातीय अध्ययनो का आरम्भ सम्पूर्ण भारतीय योजना के एक अंग के रूप में हुआ तथा प्रथम दो प्रभावशाली कार्य डाल्टन (१८७२) तथा डब्ल्यू० डब्ल्यू०

हण्टर (१८७२–७३) द्वारा किये गये। उड़ीसा की एक जनजाति पहाड़ी भूइयाँ पर प्रथम पूर्ण विस्तृत निबन्ध एस० सी० राय (१९३५) द्वारा प्रकाशित किया गया। वे मुसहर को भूइयाँ की एक शाखा के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। राय पाते हैं कि वे लोग अपने को राजपूत मानते हैं तथा कुछ परिवारों ने ब्राह्मण पुजारियों को नियुक्त कर रखा है।

एन० के० बोस ने उड़ीसा में, विशेष रूप से जुआगों के मध्य, क्षेत्रीय शोध-कार्य किया है, जिसमे उनके विवाह एवं नातेदारी, युवक संगठनो तथा जनजातीय संयोगीकरण की हिन्दू-विधियो पर कुछ लेखो को प्रकाशित करवाया है (१९२८ तथा १९२९)।

उडीसा मे जनजातीय अध्ययन मे तब एक मोड़ देखा गया जब बोनाई, क्योंनझार तथा पल्लहारा राज्यो के दरबारों के निमन्त्रण पर १९४२ मे वैरियर एलविन ने जुआंग के मध्य अपना क्षेत्रीय शोध-कार्य आरम्भ किया। एलविन ने जुआंग (१९४८), बोण्डो (१९५०) तथा सावराओं (१९५५) पर लेख और पुस्तकें प्रकाशित करायीं जो सम्बन्धित जनजातियो की जीवन-शैली के सजीव एव अतरग चित्र प्रस्तुत करती हैं।

उडीसा ने जर्मनी, स्वीडन तथा इगलैंड के कुछ नृतत्त्ववैज्ञानिकों को भी आकर्षित किया जिन्होने इस क्षेत्र की जनजातियो का अध्ययन कर कुछ निबन्धों को प्रकाशित करवाया। इगलैंड के नृतत्त्ववैज्ञानिक बेली (Baily) ने अपने निबन्ध मे जनजाति, जाति तथा राष्ट्र की पारस्परिक क्रियाओ का विवरण प्रस्तुत किया। जनजातीय व्यवस्था के राजनीतिक संगठन और इस क्षेत्र के गैर-जनजातीय प्रतिपक्ष के साथ होनेवाली प्रतिक्रियाओ का इसमे विशेष रूप से उल्लेख है। बेली निर्दिष्ट करते है कि चूँकि जनजाति और जाति मे भेद करने का कोई भी स्वीकृत मानदड नही है, अतएव दोनो के बीच पारस्परिक सक्रमण सचाई के निकट है।

उड़ीसा के नृतत्त्ववैज्ञानिको मे एल० के महापात्र, उत्कल विश्वविद्यालय के वर्तमान नृतत्त्वविज्ञान विभाग के विभागाध्यक्ष, जनजातीय शोध-कार्यालय के एन० दास तथा एस० पी० राउत, एन० पट्टनायक तथा कुछ अन्य का उल्लेख किया जा सकता है। महापात्र ने एक भूइयाँ गाँव मे क्षेत्रीय शोध-कार्य किया तथा उन्होंने पाउरी भूइयाँ में स्थानान्तरित खेती एवं सामाजिक परिवर्तन की विधि का भी अध्ययन किया। पाउरी भूइयाँ अपने को उच्च जाति का मानते हैं तथा इन जातियों की प्रथाओं, रीतियों, वस्त्रों तथा अन्य आदतों का अनुकरण करते हैं।

अन्य नृतत्त्ववैज्ञानिकों, शोध-संस्थान, जनगणना-संस्थान आदि ने भी उड़ीसा की जनजातियों का अध्ययन किया है, परन्तु अभी यहाँ गहन जनजातीय अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है।

प्रारम्भ से ही मध्य प्रदेश की जनजातियो का अध्ययन उपेक्षित रहा है। तथापि वैरियर एलविन ने, जो मूल रूप से धर्म-प्रचारक थे, मध्य प्रदेश मे जाति-विवरणात्मक शोध का पथ-प्रदर्शन किया। उन्होंने निबन्धो की एक शृखला मे बैगा, अगरिया, मारिया और मुरिया पर निबन्ध लिखे तथा मध्य प्रदेश की जनजातीय सस्कृति की समृद्ध परम्परा पर प्रकाश डाला। इन जनजातियो के जीवन का आन्तरिक विवरण प्रस्तुत करने के अतिरिक्त एलविन ने एक समस्या-पूर्ण पुस्तक भी लिखी जो मध्य प्रदेश की जनजातियो मे संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का विश्लेपण करती है तथा जनजातियो का—(१) गोण्ड अभिजात-वर्ग, (२) हिन्दू गाण्डो तथा (३) आदिकालीन शैली की जनजातियो के रूप में जनजातियो का एक त्रिगुण वर्गीकरण प्रस्तुत करती है। वे योजनाबद्ध सस्कृति-सक्रमण की नीति का समर्थन करते है तथा सुझाव देते है कि यदि वास्तविक सरक्षण दिया जाये तथा सच्चा जीवन पुन प्रतिष्ठित किया जाय तो उन जनजातीय लोगो के लिए, जो मनोबल खो चुके है, सुखदायक भविष्य हो सकता है (१९५२)।

विदेशी धर्म-प्रचारक नृतत्त्ववैज्ञानिको द्वारा मध्य प्रदेश की कुछ जनजातियों का अध्ययन विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य है। डब्ल्यू० जी० ग्रिफित्स ने कोलो के अध्ययन के लिए मध्य भारत (१९४६) के विभिन्न क्षेत्रो की विस्तृत यात्रा की। ग्रिफित्स पडोसी हिन्दुओ के कोलो पर पड़े प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत करते है तथा यह भी बतलाते है कि वे (कोल) जाति-शृखला के निम्न स्तर पर पदावनत कर दिये गये है, समय-समय पर वे जाति से बाहर के भी समझे जाते रहे है।

भारतीय नृतत्त्ववैज्ञानिको मे टी० बी० नायक तथा एस० सी० दूबे का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। नायक ने जनजातीय शोध-सस्थान, छिन्दवाडा (स्थापित १९५४) के निर्देशक के रूप मे मध्य प्रदेश की जनजातियो का अध्ययन अपने दल के साथ किया तथा सामग्रियो को विनिवन्धो एव लेखो के रूप मे संस्थान की पत्रिकाओ मे प्रकाशित करवाया। सम्पादित किये गये विनिबन्धो मे अबूझ मारिया के अध्ययन का विशेष उल्लेख किया जा सकता है जो बस्तर जिले की पहाडियो एव जगलो मे रहनेवाली इस जनजाति के सामाजिक एव आर्थिक पक्षो का विवरण प्रस्तुत करता है (टी० बी० नायक, १९६३)। सस्थान ने जनजातीय अर्थव्यवस्था का भी जनजातीय हाट के संदर्भ मे अध्ययन किया। यह अध्ययन जनजातीय हाटो के कार्यो का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है जो उनका केवल आर्थिक केन्द्र ही नही है वरन् सामाजिक एवं राजनीतिक केन्द्र भी है, साथ ही साथ अभिनव परिवर्तनों तथा विचारो के प्रसारण का केन्द्र-बिन्दु भी है (नायक, १९६४)।

सैद्धान्तिक अध्ययनो के स्तर पर एस० एल० कालिया का उल्लेख किया जा सकता है जो संस्कृतीकरण की संकल्पना की परीक्षा करते हैं तथा जनजातीयकरण का अपना विचार

प्रस्तुत करते हैं (कालिया, १९६१)। ऐसा स्थापित हो चुका है कि गैर-जनजातीय लोग मांसाहारी भोजन, मादक पेय आदि को अपनाकर तथा इन सबसे ऊपर जनजातियों की सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं को अपनाकर जनजातीयकरण की प्रक्रिया में आ जाते हैं।

"ऐंथ्रोपोलोजिकल सर्वे आव इण्डिया" का नागपुर केन्द्र मध्यप्रदेश की जनजातियों के अध्ययन में सक्रिय रूप से व्यस्त रहा है तथा उसने यहाँ की जनजातियों के विषय में शोध-कार्य पर आधारित कई प्रकाशन भी करवाये।

जहाँ तक नृतत्त्वविज्ञान की विश्वविद्यालय-स्तर पर मान्यता का सम्बन्ध है, १९५७ मे सागर विश्वविद्यालय मे नृतत्त्वविज्ञान का एक पृथक् विभाग आरम्भ किया गया, जिसके अध्यक्ष दूबे थे। दूबे ने अपनी डॉक्टरेट की उपाधि से सम्बन्धित शोध के लिए मध्यप्रदेश की कमार जनजातियों के बीच क्षेत्रीय शोध-कार्य किया तथा १९५१ में इस जनजाति पर अपना निबन्ध प्रकाशित करवाया। चूंकि दूबे बाद में ग्रामीण अध्ययनों की ओर अग्रसर हुए तथा उनके विभाग ने मध्यप्रदेश के गैर-जनजातीय समुदायों के अध्ययन मे विशिष्टता प्राप्त की, इस कारण विभाग ने मध्यप्रदेश की जनजातियों के अध्ययन मे कोई भी महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं दिया।

दो अर्थशास्त्रियो, डी० एस० नाग तथा आर० सक्सेना ने जनजातीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का नेतृत्व किया। नाग ने बैगा की जनजातीय अर्थव्यवस्था का तथा सक्सेना ने विंध्य से सतपुड़ा पहाड़ो तक विस्तृत मध्यप्रदेश की पश्चिमी पहाड़ियों की जनजातीय अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया। व्यावहारिक अर्थशास्त्र संस्थान के तत्त्वावधान के अन्तर्गत के० एस० माथुर ने जनजातियो की आर्थिक एव भौतिक अवस्था को उन्नत बनाने से सम्बन्धित अनेक आर्थिक एव प्रशासकीय समस्याओ का उत्तर देने के उद्देश्य से मध्य-प्रदेश की आदि जनजातियो के बीच एक सामाजिक अर्थशास्त्रीय सर्वेक्षण सचालित किया। यह अध्ययन इस बात पर बल देता है कि जनजातीय क्षेत्र कच्चे माल एवं मानव-शक्ति से भरपूर हैं तथा इस प्रकार से उनकी अर्थव्यवस्था को उन्नत बनाने के लिए प्रचुर संभावनाओ से युक्त क्षेत्र हैं। इस सर्वेक्षण ने जनजातीय सस्कृति के विघटन तथा सम्भवतः विलोप की आशंका की ओर ध्यान आकर्षित किया है। यह प्रतिवेदन मदिरा, अपराध तथा निरक्षरता की सामाजिक रोगात्मक समस्याओं के हल पर विचार करता है तथा एक उदार मदिरा-नीति को कट्टरता के साथ लागू करने का सुझाव देता है।

पश्चिमी भारत के जनजातीय क्षेत्रो के अन्तर्गत महाराष्ट्र, गुजरात तथा राजस्थान स्थित जनजातीय आधारित छोटे-छोटे क्षेत्र आते हैं। यद्यपि आरम्भिक ब्रिटिश शासकों ने भील जैसी प्रमुख जनजातियों का अध्ययन किया, परंतु उनका प्रयत्न एवं उत्साह उत्तर-

पूर्वी तथा मध्यभारत में कार्य करने वालो की तुलना में बहुत ही अल्प था। कुछ समाजशास्त्र विभागो (बम्बई, बड़ौदा तथा उदयपुर) और नृतत्त्ववैज्ञानिक संस्थाओ के अलावा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् महाराष्ट्र (पूना मे), गुजरात (अहमदाबाद मे) तथा राजस्थान (उदयपुर मे) की जनजातीय शोध सस्थाएँ आरम्भ की गयी। हाल ही मे, इन सस्थाओ ने अपने-अपने राज्यों की जनजातियो के विषय मे कुछ निबन्धों एव पुस्तको का प्रकाशन करवाया है।

महाराष्ट्र राज्य मे जनजातियाँ उत्तरपूर्वी कोण, उत्तरी सीमा के मध्य के एक छोटे से क्षेत्र तथा वन-क्षेत्रो मे निवास करती हैं। महाराष्ट्र मे जनजातीय अध्ययनो का प्रारम्भ ब्रिटिश प्रशासको तथा जनगणना सस्थान ने किया, जिसका अनुसरण बम्बई विश्वविद्यालय तथा डेकन कालेज, पूना के प्रमुख नृतत्त्ववैज्ञानिको और समाजशास्त्रियों ने किया। प्रारम्भिक विद्वानो मे ई० टी० गिब्स, ए० गिब्सन, एफ० जे० गनथार्प, ई० हेजबर्ग, जोहन मल्कॉम तथा कुछ अन्य ब्रिटिश प्रशासको एव प्रबुद्ध विद्वानो ने केवल भीलो का ही अध्ययन किया जो इस राज्य की सबसे बड़ी जनजाति है।

समकालीन नृतत्त्ववैज्ञानिक शोध-कार्यों में घूर्ये, कार्वे, बी० एच० मेहता तथा जे० बी० फरैरा के कार्यों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। घूर्ये ने जनजातीय अध्ययनो की आवश्यकता पर विशेष बल दिया। अपनी पुस्तक दि ऐबारिजिन्स-सो-कॉल्ड ऐण्ड देयर फ्यूचर मे घूर्ये जनजातियो के स्तर का अध्ययन करते है तथा सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक सगठन मे जनजातियो के समीकरण की विधि पर प्रकाश डालते हैं। उन्होने १९५९ मे प्रकाशित अपनी सशोधित पुस्तक मे जनजातीय एकीकरण की समस्या का विशेष उल्लेख किया और जातियो एव जनजातियो के अध्ययन के एक सम्मिलित मार्ग पर विशेष बल दिया जो उनके महादेव कोली पर लिख गये विनिबंध मे प्रतिबिम्बित होता है। उन्होने महादेव कोली की सस्कृति तथा उनके आसपास के समुदायो के साथ परस्पर क्रियाओ तथा मिलन एवं समानताओ के केन्द्र का वर्णन किया है।

घूर्ये की विभिन्न प्रकार के कोलियो के अध्ययन की अभिरुचि का अनुसरण उनके छात्र वी० बी० पनेकर (१९५९) ने किया जिन्होने बम्बई के सन्कोली का अध्ययन किया। विस्तृत क्षेत्रीय प्रेक्षण, परिस्थिति तथा आर्थिक, सामाजिक एव धार्मिक जीवन के आधार पर पानेकर ने तीन परिवर्त्तनो के साधनों की पहचान की। ये हैं—(१) एक महाराष्ट्रीय समूह जिसकी नकल वे उत्साहपूर्वक करते हैं, (२) आधुनिक शिक्षा तथा (३) शहरी जीवन का ज्ञान। पानेकर इस जनजाति की आर्थिक अस्थिरता तथा शैक्षिक पिछड़ेपन को प्रकाश में लाते हैं तथा उसके समाधान भी प्रस्तुत करते हैं।

ठाकुरों पर एक अन्य जनजातीय प्रबन्ध एल० एन० चापेकर (१९६०) द्वारा लिखा गया था जिसमें वे ठोस जातिशास्त्रीय वर्णनों के आधार पर स्थापित करते हैं कि सम्मिश्रण विधि सदियों से चली आ रही है जिसके परिणामस्वरूप ठाकुरों को उनके कृषक पड़ोसियों से भिन्न बतलाना अत्यन्त कठिन है। वे कहते हैं कि सम्मिश्रण की विधि और तीव्र हो गयी जब अँगरेजों के आने के पहले उन्होंने शिकार छोड़कर कृषि को अपना लिया। वे सम्मिश्रण के लाभदायक पक्ष का, इसके हानिकारक प्रभावों की विशेष चर्चा किये बिना, उल्लेख करते हैं। वे सम्मिश्रण का समर्थन करते है तथा कहते हैं कि ठाकुरों को कृषि, पशुपालन के ज्ञान तथा आवासी जीवन के लिए हिन्दुओ का कृतज्ञ होना चाहिए।

बी० एच० मेहता ने सम्पूर्ण गोण्डवाना भूमि के गोण्डों की समस्याओं को पड़ोस में रहनेवाले हिन्दुओ के साथ धार्मिक तथा राजनीतिक सम्पर्कों के लम्बे इतिहास के सन्दर्भ मे परखा है।

महाराष्ट्र मे नृतत्त्ववैज्ञानिक शोध-कार्य इरावती कार्वे द्वारा सशक्त रूप से संचालित किया गया। जनजातियों पर लिखे गये उनके हाल के लेख मे महाराष्ट्र की जनजातियों का भौगोलिक वितरण, जनसाख्यिकीय स्थिति तथा उनकी दशा का स्पष्ट चित्र मिलता है। फिर भी महाराष्ट्र की अनेक जनजातियो पर प्रबधो का लिखा जाना बाकी ही रह जाता है जिससे उन जनजातियो का पूर्ण विवरण प्रकाश मे आ सके।

गुजरात में जनजातीय आवास पूर्व में सुबरकण्ठ, पंचमहल तथा बड़ौदा, दक्षिण में सूरत तथा भड़ोच और उत्तर मे अहमदाबाद, मेहसाना तथा बानसकण्ठ मे विस्तृत है। गुजरात की जनजातियो का उल्लेख सर्वप्रथम १८९९ तथा १९०१ में प्रकाशित बम्बई महाप्रान्त के गजेटियर मे किया गया था। बाद मे बम्बई विश्वविद्यालय की पत्रिका में अनेक लेख प्रकाशित हुए। उनमे से, घूर्ये (१९३६–३७) का ममेरे फुफेरे भाई-बहनों के विवाह एव काठियावाड़ मे द्वयात्मक संगठन पर लिखे लेख तथा दक्षिण गुजरात के चुयान जनजातीय समुदाय पर लिखे गये डी० पी० खानपुरकर (१९४६–४७) के लेख का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। मेहता ने १९३४ मे इसी पत्रिका मे गुजरात की आदिम जनजातियो के आर्थिक जीवन के सर्वेक्षण का सार प्रकाशित करवाया।

पी० जी० शाह ने एक लम्बे लेख में भीलो की ऐतिहासिक स्थिति पर विचार-विमर्श किया है तथा वे यह सिद्ध करते हैं कि भील ही गुजरात के सबसे प्राचीन निवासी हैं। एक अन्य लेख मे वे गुजरात की सस्कृति मे गैर-हिन्दू तत्त्वो को प्रकाश में लाते हैं तथा उनमें उत्सस्करण के कारणो की पहचान करते हैं। जबकि वे रूढ़िगत हिन्दू सस्कृति की कई भिन्नताओ को प्रकाश में लाते हैं, वे हिन्दुओं की रूढ़िगत प्रथाओं तथा भीलों की

रूढ़िगत प्रथाओं की समानताओं के सार पर भी विचार करते हैं तथा कहते हैं कि यह विवादास्पद है कि ये प्रथाएँ आदिम जातियों मे उत्पन्न हुई तथा आक्रामक आर्यों द्वारा नकल की गयी या इसके विपरीत हुआ ।

इसके अतिरिक्त शाह ने वहाँ की जनजातियों पर अनेक प्रबंध लिखे । उनकी अन्तिम पुस्तक 'ट्राइबल लाइफ इन गुजरात' सम्पूर्ण गुजरात पर एक जाति-शास्त्रीय कार्य है । उन्होने गुजरात की जनजातियो के बीच अपने तीन दशको के अनुभवो के साथ विभिन्न उपलब्ध सामग्रियों का एक अंक मे सश्लेषण कर मूल्यवान कार्य किया । क्षेत्रीय शोध-कार्य बी० बी० राजे तथा अन्य प्रशिक्षित अनुसंधान-कर्त्ताओ द्वारा विशेष रूप से उन जनजातियों के बीच किया गया, जिनका पहले कभी अध्ययन नही किया गया था । इन शोध-कार्यों के प्रकाश मे व्यापकीकरण के स्तर पर शाह कहते है कि जनजातियाँ धीरे-धीरे ऊँचे सास्कृतिक एव सामाजिक जीवन की ओर अग्रसर हो रही है तथा ऐसी आशा की जा सकती है कि इसी क्षेत्र के ग्रामीण कृषको के जीवन-स्तर तक वे उठ जायेंगी । वे इस बात के पूर्ण रूप से कायल हैं कि गुजरात क्षेत्र के जनजातीय समूह सर्वसाधारण सांस्कृतिक ढाँचे मे आत्मसात् होते जा रहे हैं ।

पी० जी० शाह के अतिरिक्त मेहता, ए० एन० सोलकी, टी० बी० नायक, डब्ल्यू० कौपर्स, वाई० बी० एस० नाथ, आई० पी० देसाई आदि विद्वानो ने यहाँ की जनजातियों का अध्ययन किया तथा उनके विवरण प्रकाशित करवाये । इसके अतिरिक्त जनजातीय शोध संस्थान, बडौदा विश्वविद्यालय तथा गुजरात विद्यापीठ के समाजशास्त्रियो ने गुजरात मे जनजातीय सस्कृति के कुछ पक्षो के अध्ययन मे अत्यधिक रुचि ली तथा यहाँ की शोध परम्परा को पर्याप्त रूप से सबल रखा ।

प्रारम्भिक ब्रिटिश प्रशासको मे राजस्थान मे नृतत्ववैज्ञानिक शोध-कार्य करने की स्पष्ट रुचि हम नही पाते । प्रारम्भिक रुचि १८६६ मे प्रकट होती है जब हम बी० एच० पौवेल को चद्रवशी एव सूर्यवशी आर्य जनजातियो तथा राजपूत गोत्र की उत्पत्ति पर लेख लिखते पाते है तथा एक अन्य प्रशासक, टी० एच० हेण्डली को भीलो का एक विवरण प्रस्तुत करते पाते है । इन विदेशी विद्वानो के साथ के० आर० एस० दास (१८८६) का, जिन्होंने मेवाड मे आगत जयपुर की मीना जनजाति पर एक लेख लिखा, तथा शरतचन्द्र राय (१९२४) का, जिन्होंने राजपूताना में जयसमन्द के काले भीलों की प्रथाओं पर एक विस्तृत लेख लिखा, उल्लेख किया जा सकता है ।

इन विशेष जनजातियों पर लिखे गये विशेष लेखों के अतिरिक्त १८७९–१८८० के मध्य तैयार किये गये राजपूताना गजेटियरों के विभिन्न अंकों में तथा १९०१ से वर्तमान

समय तक प्रकाशित विभिन्न प्रशासकीय प्रतिवेदनो में राजस्थान की भूमि एवं लोगों पर पर्याप्त सामग्री संकलित की गयी है।

राजस्थान के भीलो पर जेम्स टाड, जी० एस० कारस्टेयरस, विलियम एफ० प्लेजर ने शोधपरक प्रबंधो का प्रकाशन करवाया। इसके अतिरिक्त जनजातीय शोध-संस्थान, उदयपुर, ने सस्थान के शोध-कार्यकर्त्ताओ के क्षेत्रीय कार्य पर आधारित राजस्थान के भीलों पर १९६५ में एक प्रबन्ध हिन्दी मे प्रकाशित किया।

पी० सी० दवे के विवरण में ग्रसियो जैसे जनजातीय समुदायो का बृहद् राष्ट्रीय समाज के साथ एकीकरण के लिए विधियो का रोचक उल्लेख ध्यान देने योग्य है। एक जनजाति का यह प्रयत्न इसकी अपनी दन्तकथाओं के प्रतिपादन एव रूपान्तरण में तथा बृहद् समाज की सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओ के अपनाने के प्रयत्नो मे प्रदर्शित है। यह देखना रोचक है कि इस जनजाति की एक शाखा आंशिक रूप से राजपूत एवं आंशिक रूप से हिन्दू धर्म मे होने का दावा करती है। सभी विवरणो के आधार पर इसे "मध्यवर्ती समुदाय" कहा जा सकता है जो जनजातीय एव हिन्दू जीवन-शैली के मिश्रण का प्रतिनिधित्व करता है।

राजस्थान की एक अन्य जनजाति, जिसका अध्ययन कई विद्वानो ने किया है, वह है गदुलिया लोहार। राजस्थान मे गदुलिया लोहार प्रथम भ्रमणशील (खानाबदोश) समुदाय था जिसने समाज-सेवियो तथा सामाजिक नृतत्त्ववैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया। इनको भ्रमणशील परिवारो की कई बस्तियों मे पुनर्वासित करवाया गया परन्तु अगले पाँच या छः वर्षों में अधिकांश संख्या में वास करने वालों ने बस्तियों को छोड़ दिया।

राजस्थान के बंजारों का अध्ययन सत्यपाल रुहेला (१९६७), एन० एन० व्यास (१९६७), एस० पी० मल्होत्रा तथा एन० बी० बोस (१९६३) ने किया। बंजारों का वर्णन व्यापार करने वाले समूह के रूप मे किया गया है जो पट्टियो के क्षेत्रीय समूह में संगठित है, जिसमे प्रत्येक में कई सजातीय वैवाहिक इकाइयाँ सम्मिलित हैं। प्रत्येक गोत्र कई छोटे-छोटे समूहों मे व्यवस्थित है जिसे 'टण्डा' कहा जाता है तथा प्रत्येक टण्डा मे ६ से २० तक परिवार हैं। यद्यपि एक परिवार उत्पादन एवं उपभोग की इकाई है परन्तु टण्डा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मामलों में प्रशासकीय इकाई है। टण्डा के अन्तर्गत विभिन्न परिवार नातेदारी के सूत्रों से बँधे हुए हैं जो सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करते हैं तथा उन्हें एक-दूसरे के प्रति दायित्वों तथा अपेक्षाओं के नियमों से बांधते हैं।

यातायात की सुविधाओं में सुधार तथा कठिन एवं अगम्य क्षेत्रों में भी पथ-परिवहन की सुविधाएँ शुरू हो जाने के कारण बंजारों का व्यापारिक व्यवसाय ह्रास पर है।

बंजारे अब गाँवो में अरुचिकर व्यापारी हैं जिसके परिणामस्वरूप उनमे से प्रायः सभी स्थानबद्धता की इच्छा रखते है।

राजस्थान तथा पडोस के क्षत्रों की एक और भ्रमणशील जनजाति है कठोडी जो कटकारी के नाम से भी पुकारी जाती है, जिसका अर्थ लकड़हारा या बाँस काटने या पेड़ काटने वाले व्यवसाय मे संलग्न व्यक्ति है। कठोडियों की उत्पत्ति के विषय मे अनेक अनुमान लगाये गये हैं। फुक्स उन्हें भीलो की एक उप-शाखा कहते है, हट्टन तथा केनी उन्हें द्रविड मानते है जबकि फरेयरा का विचार है कि उनमे अनेक प्राचीन जनजातियो का प्रचुर मिश्रण है।

कठोडियो को भीलो एवं पडोस के क्षेत्रो के अन्य समुदायो से निम्न समझा जाता है। उनके भूतकाल के कारण भी उन्हें निम्न दृष्टि से देखा जाता है। कठोडियों ने भीलों की कुछ सास्कृतिक विशेषताओ को अपना लिया है। मध्यप्रदेश एवं गुजरात की सीमाओं के अनेक मचोरियो एव भीलो ने कठोडियो से काठा तथा कोयला बनाने की कला को सीखा है। सरकार कटोडियो को क्षेत्र की अन्य जनजातीय सस्कृति मे एकीकृत करने का पूरा प्रयत्न कर रही है।

हाल ही के एक लेख मे व्यास (१९६१) ने राजस्थान के सीमान्त क्षेत्रो के भीलो का अध्ययन किया है। वे भारत के विभाजन से भीलो पर पडे प्रभाव का अध्ययन करते हैं जो प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए है। उनका जूट, धागा, ऊन, खाल तथा चमडे का व्यापार, जो विभाजन के पहले समृद्ध था, पूर्ण रूप से बन्द हो गया तथा उनके लिए यह सम्भव नही हो पाया कि दूसरे बाजारो का विकास कर सके।

व्यास सीमान्त क्षेत्रो के भीलो की उन मुसलमानो एवं राजपूत जमीदारो या जागीरदारो पर निर्भरता की चर्चा करते हैं जो उन्हे दास बनाते हैं। इस क्षेत्र मे सामाजिक एव आर्थिक विषमताएँ असीम है। इसके अतिरिक्त रेगिस्तानी क्षेत्र की अर्थ व्यवस्था समतल क्षेत्र से भिन्न है। अपने अनुसधानो के प्रकाश मे, चौहान (१९६६) "जनजातीय-करण" की सकल्पना का विकास जनजातियो के सास्कृतिक इतिहास की व्याख्या करने के लिए करते है। राजस्थान मे मुख्य राजपूत राज्यो के उनके व्यापक सर्वेक्षण इस क्षेत्र के विभिन्न भागो मे जनजातीय समूहो के प्रारम्भिक अस्तित्व को प्रकट करते हैं। चौहान राजपूत-भील-सघर्ष का वर्णन करते है तथा गोण्ड लोगो का उल्लेख करते हैं जो हाल तक अपना उच्च विकसित राज्य बनाये हुए थे।

दक्षिणी जनजातीय क्षेत्र के उत्तर मे कृष्णा के पार नल्लई-मल्लई पहाड़ियों से प्रारम्भ होने वाला क्षेत्र चेञ्चुओ का निवास-स्थान है। पश्चिमी घाटों मे दक्षिणी किनारा के कोरागा से कुर्ग पहाड़ियो की नीची ढलान तक इरूलाओ का क्षेत्र है। इरुला पानीयर तथा

कुरुम्बा वाइनाद में बसते हैं। कादर ट्रावनकोर तथा कोचीन वन क्षेत्रों में निवास करते है। केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेश राज्य का भाग दक्षिणी क्षेत्र में सम्मिलित है तथा विशेष रूप से जगलो एव पहाडियों में जनजातीय केन्द्रीकरण के अंतर्निवास इस क्षेत्र की विशेषता हैं।

दक्षिण के विभिन्न भागों मे पदस्थापित ब्रिटिश प्रशासकों एव जनगणना पदाधिकारियों द्वारा प्रकाशित जनजातियों एव जातियो पर वर्णनात्मक टिप्पणियो द्वारा इन जनजातियो के विषय मे सूचनाऐं प्रकाश में आयी हैं। प्रारम्भिक प्रशासकों मे थर्स्टन का नाम प्रमुख रूप से उभरता है। उन्होने १६०६ मे दक्षिण भारत पर वर्णनात्मक टिप्पणियाँ प्रकाशित करवायी तथा साथ ही साथ सात अंको मे 'दक्षिण भारत मे जनजातियाँ एवं जातियाँ' (The Tribe and Castes in South India) भी प्रकाशित करवायी। इन सात अंकों की शृंखला मे थर्स्टन दक्षिण भारत मे रहनेवाली सभी जनजातियो एवं जातियों के विषय मे वर्णानुक्रमिक रूप से व्यवस्थित सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते है।

एल० के० कृष्ण अय्यर ने कोचीन की पहाडियो एव जंगलो की जनजातियों तथा निम्न जाति के लोगो का नृजातिवर्णनात्मक सर्वेक्षण किया। इन अन्वेषणो के परिणामस्वरूप उन्होंने १६०८ मे अपना प्रथम अक "कोचीन ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स" प्रकाशित किया। इसमे वहाँ की जनजातियो का सुव्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया गया है तथा सास्कृतिक परिवर्तन की गतिशीलता का उनका प्रेक्षण प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार ये जनजातियाँ तीव्रता के साथ परिवर्तित हो रही है।

एल० ए० कृष्ण अय्यर ने केरल मे शोध-कार्यों को अग्रसर किया। १६३३ मे उन्होंने ट्रावनकोर-कोचीन की प्राचीन जनजातियो एव निम्न जातियो का नृजातिवर्णनात्मक सर्वेक्षण कार्य किया। अय्यर ने सर्वप्रथम अपना ध्यान पहाडी जनजातियो पर केन्द्रित किया जो तीव्रता के साथ मिटती जा रही थी या समतल की जनजातियो एवं जातियो में मिलती जा रही थी। १६३७ मे प्रकाशित प्रथम अक सात पहाडी जनजातियों का जाति-वर्णनात्मक विवरण है। दूसरे और तीसरे अको मे ट्रावनकोर की जनजातियो का विवरण प्रस्तुत है तथा उनके विषय मे मानवमितीय एवं सीरम सबधी सूचनाएँ भी हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने ट्रावनकोर की जनजातियो के धार्मिक एवं सामाजिक पक्षों, उनके मध्य निषेधो (Taboos) तथा मातृवंश की संस्था (जो केरल की विशेषता है) के विषय मे भी लिखा।

उनके पुत्र एल० के० बालरत्नम ने भी नृतत्त्ववैज्ञानिक शोध-कार्यों को अपनाया तथा केरल में नाग-पूजा पर अपने शोध-कार्य में उन्होंने इस प्राचीन प्रथा से संबंधित सामग्री

को एकत्रित किया। इनके अतिरिक्त एम० जी० माधवन, ए० ए० डी० लुइज्ञ आदि ने केरल की जनजातियों का अध्ययन किया तथा उनकी भौतिक संस्कृति एवं प्रथाओं का विवरण प्रस्तुत किया।

ऐंथ्रोपोलोजिकल सर्वे आव इण्डिया एवं भारत सरकार के जनगणना संस्थान ने समय-समय पर केरल की जनजातियो के विषय मे जातिशास्त्रीय विवरणो को प्रस्तुत किया।

मद्रास विश्वविद्यालय के नृतत्त्वविज्ञान विभाग के भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष यू० आर० एहरेनफल्स (U. R I hrenfels) केरल की जनजातियो एव बहुपतीय नायरो के प्रति आकृष्ट थे। उन्होने कादरो मे पायी जानेवाली सास्कृतिक विशेषताओं के स्रोत का पता लगाने का प्रयत्न किया तथा सुझाव दिया कि उनमे से जो विशेषताएँ हिन्दुओ मे नहीं पाई जाती, वे देशीय विशेषताओ की अवशेष है। भारत मे मातृअधिकार (Mother Right in India) पर अपनी अगली पुस्तक मे उन्होने कादरो के दक्षिणी-पश्चिमी समूह, टोडा, फुलयन, परयन तथा नय्यरों के मध्य मातृवशात्मक तत्त्वो का परीक्षण किया।

कृष्ण अय्यर ने भी मातृतन्त्र का अध्ययन किया तथा कन्नीकरो मे मातृसत्ता की प्रकृति का विश्लेषण कर निष्कर्ष निकाला कि आधुनिक सभ्यता के प्रभाव मे कन्नीकर कम मातृसत्तात्मक हो गये है तथा उनकी वर्त्तमान सामाजिक सरचना मातृसत्तात्मक तथा पितृसत्तात्मक तत्त्वो को परावर्तित करती है।

तमिलनाडु की जनजातियो का अध्ययन आरम्भ मे मद्रास राज्य सग्रहालय के विद्वानों ने किया जो १८९५ मे मद्रास मे स्थापित हुआ था। थर्स्टन ने नीलगिरि के बदागा तथा इरुलाओ का तथा कप्तान हेनरी हार्कनेस और विलियम मार्शल ने नीलगिरि पहाडियों की टोडा जनजाति का पूर्ण विवरण लिखा। टोडाओ का तीसरा प्रबधात्मक अध्ययन प्रख्यात ब्रिटिश नृतत्त्ववैज्ञानिक रीवर्स द्वारा किया गया जिन्होंने टोडाओ की प्रथाओ एवं परम्पराओ का विवरण प्रस्तुत किया तथा टोडा-सस्कृति के भैंस ग्रान्थे के साथ परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डाला (रीवर्स, १९०६)।

पचास वर्षों के पश्चात् एक अन्य नृतत्त्ववैज्ञानिक प्रिंस पीटर ने टोडाओ का अध्ययन सुमेरियन संस्कृति से सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से किया तथा उन्होने सम्भावित सुमेरियन अवशेषों को टोडाओ की धर्मविधियो मे बतलाने का प्रयत्न किया।

मैण्डलबॉम ने अन्य पड़ोसी जनजातियों के साथ कोटा लोगों की प्रतिक्रियाओं का साधारण रूप से अध्ययन किया। अपने अतीय शोध-कार्यों के प्रकाश में उन्होने कोटा

लोगों के बीच बहुपति प्रथा के प्रकार एवं उलझावों का अध्ययन किया। उन्होंने इस प्रथा में आगत गिरावट पर गौर किया तथा कहा कि यदि बहुपति प्रथा का आर्थिक मूल्य समाप्त हो जाता है तो यह प्रथा भी समाप्त हो जायगी। एक अन्य लेख मे मैण्डलबॉम वर्णन करते है कि किस प्रकार १६२४ मे एक कोटा ग्राम में महामारी आयी तथा किस प्रकार इसके परिणामस्वरूप गाँव में नये देवताओ के समूह को अपनाया गया। सांस्कृतिक परिवर्त्तन के इस अध्ययन का अनुसरण मैण्डलबॉम के एक अन्य पूर्ण विस्तृत लेख मे हुआ है जिसमें उन्होने वर्णन किया है कि किस प्रकार कोटा निरन्तर परिवर्त्तन के क्रम मे है।

इस प्रकार देशी तथा विदेशी विद्वान् तमिलनाडु की जनजातियो का समय-समय पर अध्ययन करते हुए उनके विवरण एव समस्याओ को प्रकाश मे लाते रहे। मद्रास विश्वविद्यालय के नृतत्त्वविज्ञान विभाग ने प्रारम्भ मे जनजातीय अध्ययन मे सक्रिय भाग लिया किन्तु विभाग इस क्षेत्र मे अधिक प्रगति नहीं कर पाया। यहाँ की जनजातियों का कई महत्त्वपूर्ण संदर्भों मे अध्ययन करना बाकी है।

कर्नाटक मे जनजातीय अध्ययन अभी प्रारम्भिक अवस्था मे है। कुरुम्बा, पाराडी तथा याखा इस राज्य की प्रमुख जनजातियाँ हैं। उनकी अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से जगल के इर्द-गिर्द घूमती है। इन जनजातियो का जातिशास्त्रीय अध्ययन सर्वप्रथम एल० के० अनन्त कृष्ण अय्यर द्वारा तैयार की गई लघु पुस्तिकाओ में प्रस्तुत किया गया। आशा की जाती है कि वहाँ की जनजातियो का विशेष अध्ययन नृतत्त्वविज्ञान विभाग, ऐन्थ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया द्वारा किया जायगा तथा वहाँ की जनजातियों का विस्तृत विवरण प्राप्त हो सकेगा।

हाल मे सगठित आन्ध्र प्रदेश मे विभिन्न सास्कृतिक एवं आर्थिक स्तर की ३३ अनुसूचित जनजातियाँ मिलती हैं। वे मुख्य रूप से जगली जिलो श्रीकाकुलम, विजगापट्टम, पूर्व एव पश्चिमी गोदावरी, महबूबनगर, आदिलाबाद, वारंगल तथा खम्मास जिलों में केन्द्रित हैं। समतल की जनजातियाँ कृष्णा, गुण्टूर, चित्तूर, करनूल, हैदराबाद, करीमनगर तथा नालगोण्डा जिलो मे निवास करती हैं।

यद्यपि दक्षिण भारतीय राज्यो की जनजातीय जनसख्या का एक प्रमुख भाग आन्ध्र प्रदेश राज्य मे है परन्तु इस राज्य में नृतत्त्ववैज्ञानिक शोध-कार्य अभी लगभग प्रारम्भिक अवस्था में है। यहाँ की जनजातियों के अध्ययन मे विशेष उल्लेखनीय कार्य फ्यूरर हैमनडार्फ (Furor-Haimendorf) ने किया। चेञ्चुओ पर उनका प्रथम कार्य, जिसमें उन्होंने चेन्चुओं की पिछड़ी अर्थव्यवस्था का वर्णन किया है तथा जिसे उन्होंने उनकी आवर्त्तक भ्रमणशीलता के साथ सम्बन्धित किया है, जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल में प्रकाशित हुआ।

कुछ ही समय पश्चात् चेन्चुओ पर उनका पूर्ण विस्तृत प्रबंध प्रकाशित हुआ। इस प्रबंध में उन्होंने अन्नामलाई के चेन्चुओ की अन्न-सचयन एवं आखेट अर्थव्यवस्था का वर्णन किया है। वे अपराध एव दण्ड तथा गुदम, मुखिया, जो गाँव में कानून एवं शान्ति के लिए उत्तरदायी हैं, का रोचक विवरण देते हैं। वे क्षेत्रीय पंचायत का भी उल्लेख करते हैं जिसमें बीस या उससे अधिक गुडम रहते है। उनका दूसरा प्रबध भैंस पहाड़ी रेड्डियों पर है जिसमे उन्होंने भैंस पहाडियो के रेड्डियो मे सस्कृति-संक्रमण का पूर्ण विवरण दिया है।

चेन्चुओ, गोण्डों तथा भैंस पहाडी के रेड्डियो पर विस्तृत प्रबधो के अतिरिक्त हैमन-डार्फ ने कई लेख लिखे, जिनमे से विशेष महत्वपूर्ण लेख पहाडी रेड्डियों के बीच नरबलि में विश्वास, दक्षिण मे प्राचीन जनजातीय सस्कृति, प्रधानतया हैदराबाद के कोलमो मे अयाक की उपासना से सम्बन्धित है।

दक्षिण भारत के जनजातीय क्षेत्र मे लक्कादीव, मीनोरीती एव अमीनदीवी द्वीपों तथा अडमन एव नीकोबार द्वीपो को सम्मिलित किया जा सकता है। इन क्षेत्रो के अनेक जनजातियाँ हैं जो सास्कृतिक प्रकार, परिस्थिति, सामाजिक सगठन, आर्थिक गतिविधियों तथा धार्मिक विश्वासो एव प्रथाओं के आधार पर अन्य क्षेत्रो से सर्वथा भिन्न हैं।

लक्षदीव, मीनीकॉय तथा अण्डमन द्वीपो के केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रो पर श्रीमती लीला दूबे, राय बर्मन तथा डी० के० भट्टाचार्य के अध्ययनो का उल्लेख किया जा सकता है। दूबे कलपेनी मे मातृसत्तात्मक व्यवस्था का वर्णन करती हैं जिसकी विशेषता है द्विस्थानीय निवास, जिसमे दाम्पत्य परिवार का या तो एक स्वतत्र निवासीय इकाई या एक विस्तृत सगोत्र समूहो मे जुड़े हुए रूप मे अभाव। इस द्वीपीय समाज के विवरण से जो आश्चर्य-जनक सत्य उभरता है, वह है इस्लाम की प्रभुत्वशाली स्थिति के बावजूद सामाजिक व्यवस्था के सभी महत्त्वपूर्ण सगठनात्मक गुणो का बने रहना। मातृसत्ता के सिद्धान्त बिना अवरोध के कार्य करते है।

पी० एन० रमुन्नी नय्यर, राय बर्मन तथा जनगणना-अभियान के दल द्वारा चेतलात द्वीपो का अध्ययन केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्र लक्षदीव, मीनीकॉय तथा अमीनदीवी के बारे में हमारे ज्ञान मे वृद्धि करता है। चेतलात द्वीपवासी मुसलमान है परन्तु वे भी मातृसत्तात्मक एवं मातृनिवासीय हैं, परन्तु इस्लाम के प्रभाव के अन्तर्गत तीव्र रूप से परिवर्तित हो रहे हैं। राय बर्मन ने इन मुसलमान जनजातियों की जाति-स्वरूप-व्यवस्था को एक ऐसे द्वीप-समुदाय मे, जो एक लम्बी अवधि तक बाह्य आशंकाओं से पृथक् रहा, वर्त्तमान खण्डी-करण प्रक्रिया का उल्लेख कर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस अध्ययन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि चेतलात द्वीप-वासियों के बीच परिवार की मूल संस्था न होने का संकेत प्रतीत होती है।

अन्य केंद्रशासित क्षेत्रों, अण्डमन एवं निकोबार द्वीपसमूह के निवासियों की संस्कृति एवं भाषा के विषय में लिखकर उन्हें प्रकाश मे लाने का श्रेय पोर्टमैन को है। प्राचीनतम विद्वत्तापूर्ण कार्यों मे पोर्टमैन (१८३२), ई० एच० मैन (१६२१) तथा रेडक्लिफ ब्राउन (१८८३) के कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है। ब्राउन ने अण्ड-मनी संस्कृति को अत्यन्त संगठित एवं अनुष्ठानिक पाया।

यहाँ की जनजातियों मे जनगणना संस्थान तथा एल० पी० विद्यार्थी की अभिरुचि का उल्लेख किया जा सकता है। विद्यार्थी ने कुछ लेखो को प्रकाशित करवाया जिनसे स्पष्ट होता है कि अण्डमान तथा निकोबार की समकालीन संस्कृति, जो प्राचीन नीग्रो तथा मगों-लियन प्रकार, अभियुक्त निवासियों, पूर्वी बंगाल के शरणार्थियो, सिख टुकडो के भूतपूर्व सैनिक निवासियो तथा दक्षिण भारत के विभिन्न राज्यों के हाल के प्रवासियो का मिश्रण है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि भारत के विभिन्न भागो में रहनेवाली जनजातियाँ, विभिन्न जाति, भाषा, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्तरो के अन्तर्गत आती है तथा उनमे आपस मे भी विभिन्न अन्तर-जनजातीय विभिन्नताएँ है। इसके अतिरिक्त इनके विकास के स्तरो में, राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भाग लेने की क्षमताओ में तथा इनके सामाजिक-सांस्कृतिक स्तरों के एकीकरण मे विस्तृत अन्तर है।

परन्तु इनमे कुछ समानताएँ भी है। सम्पूर्ण रूप से जनजातियाँ शैक्षिक तथा औद्यो-गिक क्षेत्र मे पिछडी हुई है। जैसा सिन्हा ने दर्शाया है, जनजातीय निवास, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य सामाजिक व्यवहारो मे अन्य जाति-समूहो से विच्छिन्न है। इस तरह की एतिहासिक कल्पना जनजातियो को हिन्दू जातियो से पृथक् जनजातीय समरूपता प्रदान करती है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् इस जनजातीय सारूप्य की भावना को और भी बल मिला क्योंकि संविधान ने इन्हे विशेष अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की तथा इनके लाभो को सुरक्षा प्रदान की। दुर्भाग्यवश ये सुविधाएँ जनजातीय समुदायो के दुर्बल खण्डो के समीकरण के स्थान पर जनजातीय समस्याओ को राजनीतीकरण की ओर ले गयीं।

जनजातीय संस्कृति बृहद् भारतीय सभ्यता के जनजातीय-जाति के पारस्परिक संक्रमण-क्रम के अनुकूल है। भारत की जाति-व्यवस्था इसकी सभ्यता की एक विशेष आकृति है तथा जनजातीय समुदाय इस व्यवस्था के लिए प्रत्यय के रूप मे कार्य करते हैं। नृतत्त्व-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, भारत मे जनजातियाँ धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था मे परिवर्तित होती जा रही है। घूर्ये का विचार है कि कुछ समुदाय, जिन्हें सरकार ने जनजातियो के रूप में सूचीबद्ध किया है, समतल की हिन्दू जातियों से वर्गीकरण, भाषा, आर्थिक या धार्मिक रूप मे भिन्न नहीं हैं तथा वे इन्हें पिछडे हुए हिन्दू मानते हैं। अन्य शब्दों में जातियाँ एवं जनजातियाँ एक ही परिमाण के दो छोर हैं।

अध्याय २

भारतीय जनजातियों का भौगोलिक वर्गीकरण

भारत मे आदिवासी जातियो की एक बडी संख्या बसती है। उनकी आबादी के प्रमाणित आँकड़े प्रस्तुत करना अभी सम्भव नहीं जँचता। वैसे तो जनजातियों की जनगणना अलग होती रही है, फिर भी कितनी ही कठिनाइयों के कारण उनकी गणना उचित रूप मे नही हो पाई है। अतएव जनगणना के अनुसार उनकी जो आबादी बतलाई गई है, वह पूरे रूप मे विश्वसनीय नही कही जा सकती।

जनजातियों की जनसंख्या

१९३१ की जनगणना के अनुसार भारतीय जनजातियों की आबादी लगभग २,२०,००,००० थी। १९४१ की जनगणना के आँकड़े तो और भी विश्वसनीय नही है। इस अवसर पर तो कुछ हरिजन और पिछडी जातियो की भी आदिवासियो की श्रेणी में गणना हो गई थी। १९४७ ई० में भारत के विभाजन के पश्चात् आदिवासियो का कुछ क्षेत्र, विशेषत. बगाल के हिस्से के साथ, जो अब १९७१ के बाद बँगला देश है, भारत से पृथक् हो गया था। इस कारण भारतीय आदिवासी जनसंख्या मे लगभग १० लाख की क्षति हुई होगी। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत के विभिन्न राज्यो मे आदिवासी-जनसख्या कुल २,२५,११,८५४ थी, जो देश की जनसख्या का ६.२५ प्रतिशत थी। १९६१ मे यह सख्या बढ़कर ६.८७ प्रतिशत अर्थात् २,९८,७९,२४९ हो गई। अब १९७१ के जनगणनानुसार ३,८०,१५,१६२ अर्थात् ६.९४ प्रतिशत आँकी गई है।

१९७१ के जनगणनानुसार विभिन्न राज्यो मे आदिवासियो की जनसख्या इस प्रकार है :

क्षेत्र	पूरी जनसंख्या	आदिवासियों की जनसख्या
भारत	५४,७९,४९,८०९	३,८०,१५,१६२
	राज्य	
१. असम		१६,०६,६४८
२. आन्ध्र प्रदेश	४,३५,०२,७०८	१६,५७,६५७
३. उड़ीसा	२,१९,४४,६१५	५०,७१,९३७

४. उत्तर प्रदेश	८,८३,४१,१४४	१,९८,५६५
५. केरल	२,१३,४७,३७५	२,६९,३५६
६. गुजरात	२,६६,९७,४७५	३७,३४,४२२
७. जम्मू व कश्मीर	४६,१६,६३२	—
८. तमिलनाडु	४,११,९९,१६८	३,११,५१५
९. त्रिपुरा	१५,५६,३४२	४,५०,५४४
१०. नागालैंड	५,१६,४४९	४,५७,६०२
११. पंजाब	१,३५,५१,०६०	—
१२. पश्चिम बंगाल	४,४३,१२,०११	२५,३२,६९६
१३. बिहार	५,६३,५३,३६९	४९,३२,७६७
१४. मणिपुर	१०,७२,७५३	३,३४,४६६
१५. मध्यप्रदेश	४,१६,५४,११९	८३,८७,४०३
१६. महाराष्ट्र	५,०४,१२,२३५	२९,५४,२४९
१७. मेघालय	१०,११,६९९	८,१४,२३०
१८. कर्नाटक	२,९२,९९,०१४	२,३१,२६८
१९. राजस्थान	२,५७,६५,८०६	३१,२५,५०६
२०. हरियाणा	१,००,३६,८०८	—
२१. हिमाचल प्रदेश	३४,६०,४३४	१,४१,६१०
	केन्द्र-शासित प्रदेश	
१. अण्डमान निकोबार द्वीप-समूह	१,१५,१३३	१८,१०२
२. अरुणाचल प्रदेश	५,६७,५११	३,६९,४०८
३, गोआ, दमण, दीव	८,५७,७७१	७,६५४
४. चंडीगढ़	२,५७,२५१	—
५. दादर, नगर हवेली	७४,१७०	६४,४४५
६. दिल्ली	४०,६५,६९८	—
७. पाण्डीचेरी	४,७१,७०७	—
८. मिजोरम	—	३,१३,२९९
९. लक्षदीव समूह	३१,८१०	२९,५४०

भारत की जनसंख्या में जनजातियों का प्रतिशत—६.९४।

जनजातीय क्षेत्र

भारतीय जनजाति की यह बड़ी संख्या, जैसा उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है, मोटे तौर पर विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रो में विभक्त है। डॉ० डी० एस० गुह के अनुसार ये क्षेत्र (१) उत्तर-पूर्वी क्षेत्र, (२) मध्य क्षेत्र और (३) दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र हैं। इन तीनों विशाल क्षेत्रों के अलावा भी आदिवासी-आबादी इधर-उधर छिटपुट पायी जाती है। अण्डमान निकोबार एक अलग हिस्सा है। अत इन्हें निम्नांकित चार विभिन्न क्षेत्रो मे रखा जा सकता है :

१. उत्तर-पूर्वी क्षेत्र

उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र मे करीब ४४ लाख आदिवासी बसे हुए है। ये लोग हिमालय की तराई तथा असम राज्य की इस तराई के समीपवर्ती हिस्सो मे फैले हुए है। हिमालय की तराई मे बसी जनजातियों मे सिक्किम की लेप्चा जनजाति का सविस्तार अध्ययन गोरर द्वारा हुआ है। गोरर ने पाया कि इस जनजाति मे ईर्ष्या, स्पर्द्धा, असतोष, चचलता एव सघर्ष का लेश भी नही है। इसके अतिरिक्त सुरमा घाटी को ब्रह्मपुत्र से अलग करने वाले केन्द्रीय असम के अतिरिक्त हिस्सो मे रामा, मेचा, काछारी एव मिकिर तथा मेघालय मे गारो और खासी जनजातियो के घर है। प्रशासन की दृष्टि से इन्हे विभिन्न इकाइयों में विभक्त किया गया है। गारो और खासी के अतिरिक्त इस हिस्से की अन्य जनजातियों के बारे मे अधिक जानकारी नही है। इसके अलावा, अरुणाचल प्रदेश मे सूबन-श्री नदी के पश्चिम मे आका, दाफला और मीरी जनजातियाँ बसी हुई है। सुबन-श्री के ऊपरी प्रदेश मे अघातनी जनजाति तथा दिहोग के दोनो किनारो पर अबोर वर्ग की मियो, पंगी और परम आदि जनजातियाँ फैली हुई है। मिरामी, चूली काटा, बलेजिया, खामती, सिगफू आदि अन्य प्रमुख जनजातियाँ इस प्रदेश मे रहती है। इसी हिस्से मे नगालैड नागा जनजाति की भूमि है। उनके प्रदेश का फैलाव पूर्व मे तीरप नदी, दक्षिण मे मणिपुर और पश्चिम मे रगमा पहाडियो तक है। नागालैंड के नागाओ मे कोन्यक, रंगपात, रोमा, अगामी, चग और रेग्मा नाम विशेष प्रसिद्ध है और इन पर मिल्स, हटन जैसे विद्वानो की कितनी ही पुस्तके हैं।

२. मध्य क्षेत्र

मध्य वर्ग के आदिवासी विध्याचल, सतपुडा महादेव, मेकल एवं अजन्ता के समीपवर्ती हिस्से, हैदराबाद के जगलो से लेकर उत्तर-पश्चिम मे अरावली पर्वत तक फैले हुए हैं। नर्मदा एवं गोदावरी के मध्यवर्त्ती प्रदेश में सबसे अधिक आदिवासी विद्यमान हैं। केन्द्रीय वर्ग के पूर्वी भाग में गंजामजिले की अबरा, गडवा और बोण्डो जनजातियाँ, उड़ीसा

की अन्य पहाड़ियो की कोठ और खाड़िया, सिंहभूम तथा मानभूमि की 'हो', छोटा नागपुर के अन्य हिस्सों की संथाल, उरांव, मुंडा, बिरहोर, खारिया दमरिया इत्यादि जनजातियाँ प्रमुख हैं। केन्द्रीय पर्वतीय प्रदेश के पश्चिमी और मध्यवर्ती भाग में प्रमुखतः कोल, गोंड और भील नामक जनजातियो की घनी आबादी है। बैगा जनजाति प्रायः रेला के आसपास केन्द्रित है। बस्तर मे मुरिया और भाडिया जनजाति विशेष रूप मे बसी हुई है।

३. दक्षिणी क्षेत्र

भारत के आदिवासियो का तीसरा प्रधान वर्ग कृष्णा नदी के दक्षिण मे १६° अक्षांश के नीचे वाले हिस्सो मे है। इनमे नल्लामलाई पहाड़ियो के चेंचू, नीलगिरि पहाड़ियो की टोडा, कोटा, बायनाड की पनियन, इरुला और कुरुम्ला, त्रावनकोर-कोचीन पहाड़ियों की काडर, कणीकर, भाल्वदन, माला और कशवन प्रमुख हैं। यद्यपि ये जनजातियाँ दक्षिण के पूरे बृहत् प्रदेश में फैली है, तथापि अधिकतर इनकी घनी आबादी दक्षिणी-पश्चिमी हिस्से मे ही केन्द्रित है। इसी क्षेत्र में भारतीय द्वीप-समूहो मे रह रही जनजातियों को भी शामिल किया जा सकता है।

अण्डमान निकोबार द्वीप-समूह तो जनजातियो की आबादी के लिए प्रसिद्ध रहा है। आवागमन की असुविधा के कारण अभी यहाँ के आदिवासियो के बारे मे पूरी जानकारी नही हुई है। यहाँ की प्रमुख जनजातियाँ है—निकोबारी, ओंग, जावरा, शाम्पेन, सेन्तली, एव अण्डमानी। लक्षदीव समूह की पूरी मूल जनसख्या जनजाति घोषित है।

४. पश्चिमी क्षेत्र

इन तीन प्रमुख क्षेत्रो के अतिरिक्त भारत मे जनजातियो की छिटपुट आबादी कई हिस्सो मे पाई जाती है। राजस्थान में जनजातियो की काफी आबादी है। इस राज्य मे डुगरपुर जिले मे भीलो की पूरी आबादी है। भील के अलावा कितनी खानाबदोश जनजातियाँ है जो अपने मवेशियो के साथ घूमती रहती हैं। जनजातियों की छिटपुट आबादी हिमालय की तराई मे यहाँ-वहाँ मिलती है। बिहार और उत्तर प्रदेश में थारु तथा उत्तर प्रदेश और हिमाचल प्रदेश में खासा, गद्दी-तका इत्यादि जनजातियाँ हैं।

प्रजातीय तत्त्व

यद्यपि इन तीनों वर्गों मे समान तत्त्व विद्यमान हैं, तथापि प्रजातीय, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं भाषा के दृष्टिकोण से तीनों स्पष्ट हैं। यदि दक्षिणी वर्ग में नीग्रीटो का मिश्रण है तो केन्द्रीय वर्ग मे आस्ट्रेलोआइड की विशेषताएँ और उत्तर-पूर्वी जनजातियों में मंगोलाइड प्रजाति के लक्षण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। दक्षिण वर्ग के त्रावनकोर-कोचीन

की पहाड़ियों के निवासी कादर और बायनव इरुला तथा पनियन भारत के प्राचीन आदि-वासी कहे गये हैं। डॉ० गुह और हटन के अनुसार इनके अत्यधिक घुँघराले बाल, चिपटी नाक इत्यादि नीग्रो विशेषता के द्योतक हैं।

आर्थिक व्यवस्था

प्रारम्भ मे ये लोग सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था मे थे। अभी भी इनका अधिक विकास नही हुआ है। वन के कंद-मूल, शिकार के मास, जलाशय की मछलियाँ तथा वृक्षो से चुआए मधु ही इनकी जीविका के आधार हैं। खेती से ये अभी तक अपरिचित हैं। अभी तक अधिकांश लोग पत्ते की झोपडियों मे रहते है। नीलगिरि के टोडा चरागाहो वाली जनजाति है। बहुपति प्रथा अभी भी प्रचलित है। इनकी आबादी दिनोदिन कम होती जा रही है। दक्षिण के आदिवासी टूटी-फूटी द्रविड़ परिवार की भाषा बोलते हैं। उस भाषा पर आस्ट्रिक परिवार की भाषा का प्रभाव प्रतीत होता है। दक्षिणी वर्ग के आदिवासी अधिकाशत. एसे हैं जो अपने आदिकालीन वासस्थानो में बसे हैं और इन्होने अपने जीवन के मौलिक रूतो तथा जडो को दृढता से पकड़ रखा है। इन जनजातियो के बीच सभ्यता-सम्पर्क की लहर पहुँच तो चुकी है, फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से ये विदेशी सभ्यता से बहुत कम प्रभावित हुए है।

केन्द्रीय वर्ग की जनजातियाँ प्रोटो-आस्ट्रेलाइड वर्ग की है। ये प्रजातियाँ भी दक्षिण की नीग्रीटो से साम्य रखती है। परन्तु प्रमुख भिन्नता दोनो के सिर के बाल मे है। इस जाति के आगमन इत्यादि के बारे मे विश्वसनीय रूप से कहना कठिन है। ये आस्ट्रिक परिवार की भाषा बोलती हैं। मुण्डा, हो, सथाल, भील सभी आस्ट्रिक परिवार की भाषा, जिसे मुण्डारी भी कहते है, व्यवहार मे लाते है। भारत मे मुण्डा भाषा का प्रसार बहुत अधिक था। कुछ विद्वानो का कहना है कि भारत की प्रस्तर-युगीन सस्कृति का निर्माण मुण्डा भाषा-भाषियो द्वारा ही, जो प्रोटो-आस्ट्रेलाइड परम्परा के है, हुआ था।

केन्द्रीय वर्ग की जातियाँ आर्थिक दृष्टिकोण से दक्षिण की जनजातियो की अपेक्षा अधिक सस्कृत हैं और बहुत पहले से ही खेती से परिचित है। इनके मकान मिट्टी के बने होते है। वे मजबूत और सुन्दर होते है। ये लोग लकड़ी की नक्काशी, टोकरी बनाना इत्यादि शिल्प से अभिज्ञ हैं तथा इनका सामाजिक जीवन भी अधिक उन्नत और व्यवस्थित है। इनके बीच न्याय का भी उत्तम प्रबन्ध है और कानून एव सुरक्षा की भी व्यवस्था है। इस वर्ग की जनजातियो मे 'घुनकुड़िया' का विशेष स्थान है। यहाँ कुवाँरे लड़कों को रखकर शिक्षा-दीक्षा दी जाती है। बस्तर प्रदेश की मुरिया जाति में घोतुल के अन्दर लड़के-लड़कियों दोनो को साथ-साथ शिक्षा दी जाती है। वे रात में भी साथ ही रहते हैं।

विवाहित लोग घोतुल में नहीं था सकते हैं। इन जनजातियों के बीच लोकगीत और लोकनृत्य बहुत लोकप्रिय हैं और इनके बीच ललित कलाओं का पर्याप्त विकास हुआ है। इस वर्ग की जनजातियाँ अन्य भारतीयों के सम्पर्क में बहुत आई हैं और फलस्वरूप इन्होंने अनेक हिन्दू विचार तथा धार्मिक संस्कार अपना लिये हैं और ये तरह-तरह के उत्सव मनाने के शौकीन हैं। संक्षेपत. ये उन जनजातियों मे से हैं जिन्होंने अपने आपको गत्यात्मक संस्कृतियों के प्रभावो के अनुकूल बना लिया है, तथा हलों द्वारा खेती एवं गाँवों में निवास करना प्रारम्भ कर दिया है। इन्होंने जीवन के मापदण्डों, गीतों और नृत्यो को सुरक्षित रखा है। इन्होंने एक प्रकार की सजगता विकसित कर ली है पर अधिकांशतया अभी वे जीवन की दशाओं के अनुकूल अपने को बनाने या अधिक सुविधाजनक क्षेत्रों में आ बसने के लिए तैयार नहीं हैं।

उत्तरी-पूर्वी वर्ग की जनजातियों पर मंगोल प्रजाति का प्रभाव स्पष्ट है। उनके चिपटे मुँह, गाल की चौड़ी हड्डियाँ और नाटा कद इसके प्रमाण हैं। उनकी आँखों में एक अजीब तरह की सिकुड़न रहती है जो मगोलियन आँखों की विशेषता बतलाई गई है और इसी हेतु इसे मंगोलियन फोल्ड या इपीकैनथिक फोल्ड कहते हैं।

इस हिस्से मे रहने वाली जनजातियो की भाषा के स्वरूप का आधार तिब्बती-बर्मी भाषा है और कही-कही इसके साथ मान खमेर अथवा आस्ट्रिक भाषा का भी मिश्रण है। इनमे से कुछ जनजातियो मे, जो भीतरी भाग में बसी हैं, स्त्री का स्थान बहुत ऊँचा है। गारो और खासी की जनजाति मे स्त्री को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त है। बाहरी क्षेत्र में बसी जनजातियों की जातीय व्यवस्था कुछ हद तक युद्धकालीन ढग पर है। गाँव पहाड़ियो की चोटियो पर बसाये जाते है जिनको चारो ओर बाँस से घेर कर पूरी तरह सुरक्षित किया जाता है। इन जनजातियो मे खेती और शिल्प की भी अच्छी प्रगति नहीं है। अबोर जनजाति ने वस्त्र-उद्योग मे काफी उन्नति की है और इनके द्वारा बनाये गये कालीनो की अच्छी माँग है।

इन तीन वर्गों में से विशेषत: अन्तिम दो वर्गों में कुछ ऐसी भी आबादी है जो या तो नगरीय या अर्द्ध-नगरीय क्षेत्रों में जा बसी है या जिन्हें औद्योगिक जीवन के उन केन्द्रों के आस-पास रहने को विवश होना पड़ा है जो ऐसे आदिवासी क्षेत्रों में अपना कुरूप मस्तक उठा चुके हैं, जहाँ खानों और खनिजों का समृद्ध भण्डार है। सड़कों और रेलों के जाल बिछ जाने के फलस्वरूप उनके प्रदेशों तक आगमन सुलभ हो जाने से उनकी सुरक्षा का अतिक्रमण हो चुका है अथवा हो रहा है। क्रिश्चियन मिशनरी, अँगरेज शासक, सूदखोर

अथवा अन्य पेशेवर दिक्कू गैर जनजाति के कारण सभ्यता-सम्पर्क से अलग जोर मारा। इस तरह अन्धाधुन्ध सम्पर्क के आधिक्य के कारण आदिवासी संस्कृति में उनकी मान्यताएँ, रीति-रिवाज एवं आचार-विचार में आमूल परिवर्तन हो गया है। उनके जीवन कुछ लोगों की नजरो में विश्रृंखलित से हो गये, फिर भी आधुनिकता के दृष्टिकोण से इनको ठीक ही संस्कृत आदिवासी जातियाँ कहा जाता है और आदिवासी जनसंख्या का एक बड़ा भाग आज इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है। आगे के परिच्छेदों मे विभिन्न क्षेत्रों मे रहने वाली जनजातियों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा।

अध्याय ३

उत्तर-पूर्वी भारत की जनजातीय संस्कृति

उत्तर-पूर्वी भारत की जनजातीय संस्कृति कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह वही क्षेत्र है जहाँ गारो और खासी जैसी मातृसत्तात्मक जनजातियाँ, लूसाई, कूकी आदि तिब्बती-बर्मी भाषाभाषी जनजातियाँ और नरमुण्ड के शिकार के लिए प्रसिद्ध नागा जनजातियाँ निवास करती हैं। ये बहुसंख्यक जनजातियाँ मंगोल प्रजाति की वंश-परंपरा की हैं।

१९७१ की जनगणना के अनुसार उत्तर-पूर्वी भारत के विभिन्न राज्यों एवं केन्द्र-शासित प्रदेशों में जनजातियों की सम्पूर्ण जनसंख्या ४३,४६,१९७ है और विभिन्न क्षेत्रों में उनकी संख्या इस प्रकार है :

राज्य	
१. असम	१६,०६,६४८
२. त्रिपुरा	४,५०,५४४
३. नागालैंड	४,५७,५६०२
४. मणिपुर	३,३४,४६६
५. मेघालय	८,१४,२३०
केन्द्र-शासित प्रदेश	
१. अरुणाचल प्रदेश	३,६९,४०८
२. मिजोरम	३,१३,२९९
उत्तरी भारत में जनजातियों की कुल संख्या	४३,४६,१९७

१९७१ की जनगणना के अनुसार इस क्षेत्र की विविध चुनी हुई जनजातियों की जनसंख्या का उल्लेख भी यहाँ उपयुक्त होगा।

अंगामी	३३,७६६
अओ	५५,९२४
कछारी	२,३६,९३८
कछारी (दिमसा)	७१,०९४
कूकी	२७,८१२

कोन्यक	५६,७७५
खासी	३,५६,२०८
गारो	२,६६,६४५
नागा	३,४६,१२६
मिकिर	१,२२,११२
मिजो	२,२०,६१८
मीरी	१,६३,४५३
आबा	१,१४,०८२
रेंगमा	५,७६०
लालूम	६१,३१५
ल्होटा	२६,५६५

इस क्षेत्र की पहाडियो मे इनके अलावा भी कितनी ही जनजातियाँ निवास करती है। इन सभी जनजातियो को तीन भौगोलिक हिस्सो मे बाँटा जा सकता है .

(१) गारो, खासी, जयन्तिया की जनजातियाँ मेघालय मे।

(२) (क) असम और तिब्बत सीमान्त की जनजातियाँ।

(ख) बर्मा के सीमान्त प्रदेशो मे निवास करने वाली जनजातियाँ—मणिपुर एव मिजोरम मे।

(३) नागा पहाड़ो मे निवास करनेवाली जनजातियाँ—नागालैंड मे।

ब्रह्मपुत्र घाटी के दक्षिण और बँगला देश के उत्तरी हिस्सो के बीच मे मेघालय की गारो, खासी और जयन्तिया नामक पर्वतश्रेणी फैली हुई है। इसी इलाके के पूरब मे असम मे मिकिर और कछार नामक पहाडी क्षेत्र है। इस पर्वतीय स्थल मे नदियो की कितनी ही तंग घाटियाँ हैं। वर्षा के आधिक्य और पर्याप्त उष्णता के कारण यह सारा हिस्सा जंगलो से आच्छादित है। इन पर्वतीय और जगली हिस्सो मे अनेक महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ निवास करती हैं जिनमें गारो, खासी, कूकी, मिकिर, कछारी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

असम एवं मेघालय की जनजातियाँ

गारो

गारो लोग प्रधानत: मेघालय की गारो पहाड़ियो के कामरूप तथा असम के ग्वालपाड़ा जिले में रहते हैं। मैमनसिंह जिले मे भी इनकी आबादी है। सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार गारो की पूरी आबादी २,६६,६४५ है। गारो 'गारा' या 'लोडो'

नामक बोली बोलते हैं जो तिब्बती-बर्मी भाषा-परिवार के अंतर्गत असमी-बर्मी भाषा की एक उपश्रेणी है। गारो के अलावा 'लौडो' अन्य दूसरी जनजातियों की भी भाषा है और इस कारण बोली में साम्य हैं। परन्तु गारो और कछारी की बोलियों में बहुत अधिक साम्य है। इस आधार पर प्लेफेयर का मत है कि दोनों जनजातियाँ मूलतः एक ही थीं। परन्तु सांस्कृतिक मामलों में इस समय भिन्नता भी कम नहीं है। मंगोल प्रजाति के विशिष्ट प्रभाव के कारण इनके शरीर का रंग पीला, चेहरा छोटा, परन्तु चौड़ापन लिये और कद नाटा होता है। मेजर प्लेफेयर के अनुसार साधारणतया पुरुषों की ऊँचाई १५६.२ से०मी० (५′–१½″) और स्त्रियों की १४७.३ से०मी० (४′–१०″) होती है। शरीर की बनावट हृष्ट-पुष्ट होती है और वे देखने में हट्टे-कट्टे होते हैं।

भौगोलिक एवं आर्थिक दृष्टि से गारो दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—प्रथम वे जो पहाड़ी हिस्से में रहते हैं और झूम प्रणाली की अस्थायी कृषि (Shifting Cultivation) करते हैं और दूसरे वे जो मैदान में रहते हैं और अधिकांशतः मछली मारकर जीवनयापन करते हैं। प्रथम को स्थानीय बोली में पहाड़ियाँ (Hill Garo) और दूसरे को इम्बदानी (Plain Garo) की संज्ञा दी जाती है। पहाड़ पर रहने वालों का मुख्य पेशा खेती है। किसी स्थान के जंगलों को जला कर वे दो-तीन वर्ष तक धान आदि पैदा करते हैं, फिर उसे छोड़ कर दूसरे स्थान के जंगलों को जला कर खेत तैयार करते हैं। धान के अलावा रूई, बाजरा, आलू, मिरचा इत्यादि भी पैदा करते है। फलों में विशेषतः नारंगी की बागवानी करते हैं। इनके कृषि-सम्बन्धी औजार भी अनोखे और अपर्याप्त है। गारो के मकान बाँस के बने होते हैं। गारो की पोशाक भी साधारण होती है। पुरुष साधारणतया 'गांडो' नामक वस्त्र कमर में लपेटे रहते है। यह नीले रंग का टुकड़ा होता है जिसकी किनारी लाल रंग की बनी होती है। सिर पर पगड़ी रखने की भी परम्परा है। सर्दी के मौसम में एक सूती चादर से काम चल जाता है। औरतें भी साये की तरह कपड़े का टुकड़ा कमर के चारों ओर लपेटे रहती है जिसे स्थानीय भाषा में रिकीग कहा जाता है। गारो औरतों के आभूषण भी अनेक नहीं हैं। पुरुष और नारी दोनों ही कानों में बालियाँ पहनते हैं। ये बालियाँ काँसे की बनी होती हैं। मर्द १२ से २० बालियाँ और औरतें ५० बालियाँ तक पहनती हैं। इतनी अधिक बालियाँ पहनने के कारण औरतों के कान फट कर दो हिस्सों में विभक्त हो जाते हैं। कान के ऊपरी हिस्से में छोटी तथा पतली बालियाँ पहनी जाती हैं। चाँदी की चूड़ियाँ और मूंगों की मालाएँ भी पहनी जाती हैं। अपने पति के निधन और अंत्येष्टि क्रिया के समय औरतें आभूषण, विशेषतया कानों की बालियाँ, निकाल देती हैं और पुनः वर्षी की समाप्ति पर पहन लेती हैं।

गारो का सामाजिक संगठन मातृसत्तात्मक है। परिवार मे औरतों का स्थान विशिष्ट है। गारो परिवार का संगठन पति-पत्नी तथा उनकी पुत्री संतानों को मिलाकर होता है। उनके लड़के 'नक पाण्टे' नामक युवा-गृहो में रहते हैं। ये युवा-गृह गारो युवकों के प्रशिक्षण केन्द्र हैं। प्रत्येक गाँव में एक युवा-गृह होता है। मैदानों में इसका प्रचलन कम है। अविवाहित युवक ऐसे ही गृहो मे रहते हैं और दोनों समय माता-पिता के साथ खाना खाते हैं।

अविवाहित लड़कियाँ परिवार में रहती हैं। लडकियों मे से एक उत्तराधिकारिणी निर्वाचित कर ली जाती है, जिसे 'नोकना' कहा जाता है। नोकना का निर्वाचन माता-पिता की सहमति से होता है। मतभेद होने पर माता की सहमति मान्य समझी जाती है। नोकना सबसे बड़ी अथवा सबसे छोटी या कोई दूसरी पुत्री भी होती है। इस निर्वाचन में लड़की की विलक्षणता और निपुणता का अन्दाज लगाया जाता है और उसमे सबसे दक्ष को 'नोकना' चुना जाता है, और वही सभी पारिवारिक सम्पत्ति की मालकिन होती है। उसकी अन्य बहनें अपने पतियो के साथ साधारणतः उसी गाँव मे अलग मकान बनाकर रहती हैं। नोकना की अनुमति से वे उसके परिवार मे भी रह सकती है। यदि किसी नोकना की पुत्री नही रहती है, तो वह अपनी बहन की पुत्री को गोद ले लेती है। यह प्रथा बहुत प्रचलित है। बहनें नोकना को गोद दे देना अपना कर्त्तव्य समझती है। यदि कोई नोकना पुत्रीहीन रही और किसी लडकी को गोद नही ले सकी, तो सम्पत्ति विवाहित बहनों के बीच बँट जाती है। नोकना के पति को नोकरोम कहा जाता है जो पत्नी (नोकना) के घर में रहता है और सम्पत्ति की देख-रेख करता है।

गारो की पीढ़ी औरतो के नाम से चलती है। जितने लोगो के पूर्वज मूलतः एक ही होते है, वे एक ही मचोंग या मातृत्व के सदस्य कहलाते है। ऐसा विश्वास है कि एक मचोग के सभी सदस्यो के मध्य रक्त-सम्बन्ध है। ये आपस में शादी-ब्याह नही करते ह। मचोग के अतिरिक्त गारो जनजाति तीन सामाजिक श्रेणियो में विभक्त है—काराक, मोकीन और सांगमा। प्रत्येक श्रेणी मे कितने ही मचोग होते हैं।

विवाह के सिलसिले में भी निश्चित नियम है जिसका सीमित परिवारों मे से ही निर्वाचन करना पड़ता है। फुफेरे भाई से शादी करना गारो लड़कियो के लिए आवश्यक है। फुफेरे भाई के अभाव मे उसका इसी परिवार के अन्य सदस्यो से शादी करना अच्छा समझा जाता है।

'कोरा देव' इनका इष्टदेव है। इनके घरो में काँसे की एक छोटी थाली जिस पर कुछ आकृतियाँ बनी रहती हैं, किसी जगह लटका कर कोरा देव मानकर पूजी जाती हैं तथा उसे बलि चढ़ाकर प्रसन्न किया जाता है। इनका विश्वास है कि जब घर वाले सोते हैं

उस समय कोरा देव थाली से निकल कर आहार की खोज में बाहर जाता है और लौट कर फिर वहीं आ जाता है। बात और पहाड़ी दर्रे के आस-पास रहने वाले गारो सूर्य और चन्द्रमा की पूजा भी करते हैं। इनके धार्मिक कृत्यों में बैल, बकरी, सुअर, मुर्गे, कुत्ते इत्यादि का बलिदान किया जाना आवश्यक समझा जाता है। अन्य आदिम जातियों की भाँति इनमें अनेक अंधविश्वास भी प्रचलित हैं। ये भूत, प्रेत, पिशाच और जादूगरनी का अस्तित्व मानते हैं। इनकी धारणाएँ ये हैं कि कुछ व्यक्तियों की आत्माएँ उनके शरीर से बाहर निकल कर अपने इच्छानुसार बाघ तथा अन्य जानवरों का रूप धारण कर लेती हैं। हिन्दुओ और ईसाई पादरियों का भी इन पर कम प्रभाव नही पड़ा है।

रीति-रिवाज तथा सांस्कृतिक विशेषताओं मे गारो असम की जनजातियों में नागा से अधिक मिलते-जुलते हैं। अगामी और रोमा नागाओ की तरह गारो में यह विश्वास प्रचलित है कि कुछ व्यक्ति अपने को बाघ के रूप में परिवर्तित कर सकते हैं। ऐसे लोगों को बाघ-मानव (Tiger man) की संज्ञा दी जाती है। यदि कोई व्यक्ति बाघ द्वारा मार डाला जाता है, तो 'ल्होटा' और 'अओ' नागाओं के परिवार को अनेक प्रकार के सामाजिक निषेधों (Taboo) को मानना पड़ता है। गारो मे भी थोड़ी-बहुत यह प्रथा प्रचलित है। फिर ल्होटा और अओ नागाओ की तरह गारो समाज में भी कितने ही निषेधो को, जिन्हे वे 'मारंग' कहते हैं, मानना पड़ता है। उदाहरण के लिए संतान पैदा होने के दिन खेत के पास जाना गारो मे निषेध या मारंग समझा जाता है। पुनः दोनों, नागा और गारो, बाघ के दाँतो से घायल होने पर शपथ लेते हैं। 'सीप' का व्यवहार दोनों जातियो के सदस्य बहुतायत मे करते हैं। दोनो के पर्वों में नृत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दोनो नर-मुण्ड का शिकार करने वाली जातियाँ हैं परन्तु गारो में यह प्रथा अधिक प्रचलित नही है।

खासी

मेघालय की जयन्तिया और खासी की पहाड़ियाँ, जो २५° और २६° ५' उत्तर अक्षांश तथा ९०°४७' और ९२° ५७' पूर्व देशान्तर रेखाओं में हैं, खासी जनजाति का निवास स्थान हैं। १९६१ की जनगणना के अनुसार इस जनजाति की कुल आबादी ३,५६,२०८ है। इन पहाड़ी इलाको के अलावा खासी निकटवर्ती मैदानो मे भी आ बसे हैं। विलियम हण्टर के अनुसार मैदानी खासी असम के कछार और डारंग तथा बँगला देश के सिलहट जिले की समतल भूमि में पाये जाते हैं।

खासी भी गारो की तरह मंगोल प्रजाति से विशेष प्रभावित हैं। इनकी त्वचा का रंग पीलापन लिये होता है। स्थानीय तौर पर रंग में कुछ विभेद मालूम पड़ता है। उदाहरणार्थ, चेरापूँजी के खासी विशेष गोरे तथा जयन्तिया के खासी विशेष काले होते

हैं। ज्यों-ज्यों इनके स्थान की ऊँचाई बढ़ती जाती है, इनकी त्वचा का रंग भी हल्का पड़ता जाता है। इनका कद छोटा होता है और शरीर की बनावट गठीली होती है। नाक चपटी और छोटी होती है। परन्तु नाक के सूराख बड़े होते हैं। ललाट ऊँचा और चौड़ा होता है। इनके सिर लगभग चौड़े होते हैं और कर्नल हेयर के अनुसार इनका कपालांक (सी० आई०) औसत ७७.६ है। आँखें मध्यम आकार की होती हैं। आँखों की परत अधिक स्पष्ट रहती है और उनका आकार तिरछा होता है। मुँह बड़ा होता है और होठ थोड़ा-सा मोटा होता है। गाल की हड्डियाँ उभरी होती है। खासी औरतें और बच्चे देखने मे बड़े खूबसूरत होते है। वे हमेशा प्रसन्न, हँसमुख और स्वस्थ दीखते हैं। परन्तु क्रोधित होने पर वे बड़े भयकर हो जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से खासी का अध्ययन बड़ा दिलचस्प है। खासी भाषा का अध्ययन कितने ही विद्वानो ने किया है, जिनमे ग्रियर्सन, जे० आर० लोगन और अर्स्टकुन, फादर डब्ल्यू० स्मीट्ड तथा मेजर गार्डन के नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि खासी भाषा तिब्बती-बर्मी परिवार की भाषा से भिन्न है। यह भी स्पष्ट है कि द्रविड़ परिवार की भाषा से इसका कोई सम्बन्ध नही है। ग्रियर्सन, स्मीट्ड और गार्डन के अनुसार यह आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार की भाषाओं का एक विशेष अग है। इसे मान-खमेर परिवार की सज्ञा दी जाती है। मुण्डा और खासी भाषा मे बहुत समानता दिखलाई गई है। फादर स्मीड्ट ने इस भाषा-समूह को मान-खमेर-मलवका-मुण्डा-निकोबार-खासी, अथवा आस्ट्रोएशियाटिक परिवार की संज्ञा दी है।

नृतत्त्वज्ञो का मत है कि खासी मेघालय के मूल निवासी नहीं हैं। वे कहाँ से, कैसे और कब आये, इनके बारे मे बहुत से मत प्रचलित हैं। रेवरेण्ड रोवट ने 'इण्ट्रोडक्शन टु द खासी ग्रामर' मे खासी का राजनीतिक सम्बन्ध बर्मी लोगों से स्थापित करते हुए प्रमाणित करने की कोशिश की है कि वे बर्मा से आए हैं। एक मत है कि वे उत्तरी हिस्से से इस क्षेत्र मे आये है। फादर स्मीड्ट ने भाषा के पहलू से खासी का सम्बन्ध मुण्डा, हो इत्यादि से दर्शाते हुए उनकी उत्पत्ति की जाँच करने की चेष्टा की है। मिस्टर सेडवेल का भी यह मत है कि खासी बर्मा से पटकोई पर्वत-श्रेणी होते हुए यहाँ आये।

खासी प्रधानतः कृषि जनजाति है। कृषि प्रणाली तो विशेषतया 'झूम' ही है। जयन्तिया के दक्षिणी और पूर्वी हिस्सों मे झूम प्रणाली के अलावा अन्य तरह की कृषि प्रणाली अधिक प्रचलित नहीं है। झूम के अलावा हाली (West paddy cultivation) अथवा पानी रोक कर धान पैदा करने की प्रणाली प्रचलित है। खाद के उपयोग से वे परिचित हैं और खेत का उत्पादन बढ़ाने के लिए इसका उपयोग करते हैं। इनके कृषि-सम्बन्धी औजार भी साधारण ही होते हैं। वे हल का उपयोग करते हैं परन्तु

हँसुए का उपयोग फसल की कटनी के लिए करना निषिद्ध है। मिकिर में भी यह प्रथा प्रचलित है। वे कटनी की जगह बालियों को हाथ से ही तोड़ते हैं। धान के अलावा वे आलू, संतरे, पान और सुपारी भी पैदा करते हैं। वे सूती और रेशमी कपड़े बुनने का काम करते हैं। कुछ लोग शराब बनाने में लगे हैं। शिकार करना, मछली मारना उनका अन्य गौण पेशा है। शिकार करने में साधारणतया तीर-कमान का उपयोग होता है। चिड़ियों को फँसाने में भी वे प्रवीण होते है। साधारणतया जलाशयों के कुछ भाग को घेर कर विशेष पौधों द्वारा पानी विषाक्त कर देते हैं, फिर मछली पकड़ते हैं। इसमें वे दक्ष हैं।

खासी का प्रमुख आहार चावल और सूखी मछलियाँ हैं। चावल न मिलने पर वे ज्वार का उपयोग करते हैं। खासी लगभग सभी जंगली जानवरों का मांस खाते हैं। कुत्ता पवित्र जानवर समझा जाता है और नागा, गारो तथा कुकी के प्रतिकूल वे इसका मास नही खाते है। दूध, दही और मक्खन से भी खासी को परहेज़ है। चेरा श्याम परिवार के सदस्य सूखी मछली भी नहीं खाते। दरबार कबीले के सदस्यों के लिए सूअर का मास भी निषिद्ध है। शराब इनका प्रमुख पेय है। शराब चावल या ज्वार से बनाते हैं। इन अनाजों में उखावोचांग नामक पौधे की जड़ मिलाकर वे दो तरह की शराब बनाते हैं, जिन्हे वे खा-इद-हीथर और खा-इद-उम कहते हैं। खा-इद-हीथर विशेष पुष्टिकर और नशीली होती है। खा-इद-उम प्रत्येक उत्सव और पर्व के अवसर पर उपयोग मे आती है। अब उनमे देशी शराब का प्रचलन बहुत बढ़ गया है।

खासी समाज मे कितनी ही तरह की पोशाकें प्रचलित है। वे विशेषत: रंगीन पोशाक पसन्द करते हैं। साधारणतया खासी पुरुष बंडी (बिना आस्तीन का कोट) पहनते हैं। यह खासी संस्कृति की विशेषता है। कमर में लँगोटी लटकती रहती है। परन्तु अब मिशनरियो के प्रभाव से उनकी पोशाको में भी काफी परिवर्तन हो गया है। सफेद पगड़ी अब केवल बूढ़े लोग पहनते हैं। उसकी जगह अब दोपलिया टोपी लेती जा रही है। महिलाओ की पोशाके बहुत आकर्षक होती हैं। रंग-बिरंगे कपड़ों से वे पूरे शरीर को विभूषित किये रहती हैं। शरीर के अंग-अंग इतने कपड़ों से ढँके रहते हैं कि उनके आकार का भी पता नहीं लगता। 'काजम्पीयन' नामक पोशाक वे पूरे शरीर में लपेट कर कमर में बाँधे रहती हैं; इसका एक हिस्सा घुटने तक लटकता रहता है। भूरे रंग के रेशमी कपड़े का एक टुकड़ा जिसे 'का-जैनवेसेन' कहते हैं, पहने रहती हैं। 'का-जैनवेसेन' के ऊपर की 'का-जैनकुप' नामक पोशाक होती है। यह गले पर आगे और पीछे लटकती रहती है। सिर पर कपड़े का दूसरा टुकड़ा रहता है जिसे 'का-टैप-मोह-खलीह' कहते हैं। पोशाक के साथ-साथ खासी महिलाओं को आभूषणों से भी बहुत प्रेम होता है। सोने

और मोती के बने कितने ही आभूषण वे पहनती हैं। मूँगे की माला उन्हें अधिक प्रिय है। कानों में बालियाँ स्त्री और पुरुष दोनो पहनते हैं। परन्तु उनकी संख्या गारो की तरह बहुत नही होती है।

खासी स्थायी गाँवो मे निवास करते हैं। इनके गाँव नागा और कूकी की तरह पहाड की चोटियो पर नही रहते। वे चोटियो के नीचे ही विशेषतः ऐसी जगह में रहते हैं जहाँ आँधियों से रक्षा हो सके। उनके मकान साधारणतया साफ होते हैं। वे जंगल की लकड़ियों और घास-फूस की बनी बड़ी झोपडी-सी लगते हैं। दीवार कहीं-कही पत्थर की भी होती हैं। चेरापूँजी के मकान लम्बे होते है (२२.५ मीटर)। पुरोहितो के मकान बहुत बड़े होते है (१८५ मी० × ६ मी०)। मकान निर्माण-कला में बहुत परिवर्तन होता जा रहा है। मकान के निर्माण मे लोहा, शीशा, सीमेट इत्यादि का उपयोग होने लगा है।

खासी अब खटिया, स्टूल, कुर्सी इत्यादि का भी उपयोग करते हैं। ढोल, बाँसुरी, गिटार इत्यादि उनके प्रिय वाद्य यन्त्र है। तीर-कमान के साथ-साथ तलवार, भाला, कवच इत्यादि उनके प्रमुख हथियार हैं। ये लोहे के बने होते है। लोहे को गलाने और उससे हथियार बनाने की कला इन्हे ज्ञात है। रेशम के कीड़े पालने, उनसे रेशम निकालने और उनके कपडे बुनने की कला इन्हे बहुत पहले से ही ज्ञात है। रेशम के अलावा सूती कपड़े भी ये बनाते हैं। मिट्टी के बर्तन बनाने का उद्योग विशेषतया जयन्तिया पहाड़ के लारनाई स्थान मे केन्द्रित है।

सामाजिक व्यवस्था—खासी जनजाति का सामाजिक सगठन मातृसत्तात्मक सिद्धान्त पर आधारित है। खासी कई गोत्रो मे विभक्त हैं। प्रत्येक की उत्पत्ति किसी महिला-पूर्वज के नाम के साथ सम्बन्ध रखती है। खासी ऐसी महिला की पूजा करते है। गोत्र को खासी भाषा मे शिकुर और उसके सदस्यो को का-लाकेई की संज्ञा दी गई है। खासी अपने शिकुर से बाहर शादी करते है। इसके अन्दर शादी करना खासी समाज मे बड़ा अपराध समझा जाता है। कुछ खासी शिकुरो के नाम जानवरो तथा वृक्षोके नाम पर भी है। उदाहरणार्थ, श्रीख (बन्दर), थाम (केकडा), डीगरेट (वृक्ष) इत्यादि। परन्तु अधिकांश जनजातियो की तरह ये खासी के इष्टदेव प्रतीक (टोटेम) नही कहे जा सकते। इसका कारण यह है कि खासी इनके मारने, काटने, खाने या उपयोग मे कोई परहेज नहीं करते।

प्रत्येक शिकुर परिवार में विभक्त होता है। परिवार ही खासी समाज की सबसे छोटी इकाई है। पुत्रियाँ, उसकी माँ, तथा उसकी माँ, सभी एक परिवार और मकान में

रहते हैं । शादी के पश्चात् पति ही अपनी पत्नी के घर में रहने के लिए जाता है । परिवार की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी गारो जनजाति की तरह पुत्री ही होती है । परन्तु गारो जनजाति में माता-पिता के इच्छानुसार कोई भी पुत्री उत्तराधिकारिणी होती है जिसे 'का-खाडुह' कहा जाता है । परिवार में धार्मिक उत्सवों में भी सबसे छोटी पुत्री का विशिष्ट स्थान है । परन्तु कितने ही अवसरो पर उसे अपनी बड़ी बहनों की सहमति लेनी पड़ती है । उदाहरणार्थ, बिना अपनी बहनों की राय लिये सम्पत्ति का कोई अंश बेचने का अधिकार उसे नही है । किसी निषेध का उल्लंघन करने एवं अपना धर्म बदलने पर उसे उत्तराधिकारिणी के पद से वंचित कर दिया जता है ।

खासी समाज मे मामा का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । भाई अपनी बहन के घर का मालिक समझा जा सकता है, प्रत्येक अवसर पर वह हस्तक्षेप कर सकता है और अपनी राय दे सकता है, अपनी बहन के बच्चों के जन्म, विवाह अथवा मृत्यु के समय मामा की उपस्थिति आवश्यक है । उसे इन अवसरों पर कुछ आवश्यक अनुष्ठान भी पूरा करना पड़ता है । फिर भी पति का अपना अलग स्थान है । एक दो बच्चे पैदा होने पर वह अलग मकान बनाता है । इस मकान की मालकिन तो उसकी पत्नी होती है परन्तु उसे ही उसकी पूरी देख-रेख करनी पडती है । गार्डन ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि पिता को ही साधारणतः बच्चो एव घर की देखरेख करनी पड़ती है । मामा तो उसी समय आता है जब उसकी बहन तथा सन्तान के जीवन-मरण का प्रश्न रहता है । इस तरह यद्यपि भाई माँ के परिवार का उत्तराधिकारी नही होता है और उसकी पत्नी के साथ रहने के लिये दूसरी जगह चला जाता है, फिर भी इस रीति या परम्परा के अनुसार वह अपनी माँ के परिवार यानी बहन और उसकी सतान की देखरेख करता रहता है । जहाँ तक परिवार का प्रश्न है, वह विवाह के बाद पत्नी के परिवार मे रहता ही है, और उसकी भी देख रेख करता ही है ।

इस तरह से विचार किया जाय तो प्रत्येक खासी व्यक्ति का उत्तरदायित्व और लगाव दोनो परिवारो से हमेशा बना रहता है । विवाह के बाद सम्बन्ध की रूपरेखा मे परिवर्तन तो होता ही है, परन्तु उनके सामाजिक संगठन में गड़बड़ी नहीं होती । कहना नही होगा कि खासी समाज की मूल इकाई वह गृह है जहाँ बच्चे पैदा होते हैं, जहाँ औरतें आजीवन रहती है । मरने के बाद पुरुष की हड्डियाँ लाकर इसी मूल गृह मे रख दी जाती है, चाहे शादी के बाद वे कहीं भी रहने के लिए चले जायें । डॉ० चट्टोपाध्याय का भी यही मत है (१९१४) कि खासी समाज में कुछ ऐसी प्रथाएँ हैं जो पितृस्थानीय समाज में नहीं पाई जाती हैं । औरतों को कुछ अधिक अधिकार प्राप्त हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि समाज में औरतों का एकाधिकार है । वस्तुतः पिता ही परिवार का मुखिया होता है ।

खासी मे प्रधानतया एक-पत्नी प्रथा प्रचलित है। सन्तान रहने पर विधवा-विवाह भी करना मना है। तलाक की प्रथा प्रचलित है परन्तु इसके लिए दोनो पक्षों की स्वीकृति आवश्यक है। गर्भ की स्थिति मे स्त्री को तलाक नही दिया जा सकता। गोद लेने की प्रथा भी खासी के मध्य पाई जाती है। यदि किसी दम्पति को पुत्री नही है तो वे किसी परिवार की लड़की को गोद ले सकते है। गोद लेने पर लड़की उस परिवार की उत्तराधिकारिणी होती है। माँ के मरने के बाद वही दाह-क्रिया करती और अन्य धार्मिक विधियो को पूरा करती है।

धार्मिक विश्वास—खासी क्षेत्रों मे ईसाई मिशनरियों के प्रचार के फलस्वरूप जनजातियो के धार्मिक विश्वास में बहुत परिवर्तन हो गये है। पढ़े-लिखे खासी अपने धार्मिक रीति-रिवाज का स्वयं मजाक उड़ाते है। फिर भी उनके मूल धार्मिक विश्वास अभी बड़े पैमाने पर प्रचलित है। गार्डन ने खासी को भूत-प्रेतवादी (Animistics) बताया है। निश्चय ही ये शुभ और अशुभ भूत-प्रेत की पूजा किया करते है। खासी कितने ही देवी-देवताओं की पूजा करते है जिनमें यूलेई मुलुक (देश के देवता), यूलेई उमटाग (पानी के देवता), यूलेई स्याह (धन देवता), यू-रनगकेव (ग्राम देवता) इत्यादि विशेष महत्त्वपूर्ण है। यूलेई-मुलुक की पूजा साल मे एक बार होती है। इस अवसर पर बकरे और मुर्गे की बलि दी जाती है। यूलेई उमटाग की भी पूजा इसी तरह एक बार होती है। उनका विश्वास है कि पानी के देवता की आराधना से स्वच्छ जल हमेशा मिलता रहेगा। अधिक सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए धन-देवता और ग्राम की उन्नति के लिए ग्राम-देवता की पूजा की जाती है।

इनके अलावा छोटे-छोटे देवताओ अथवा अशुभ प्रेतो (Spirits) का भी वर्णन मिलता है। इन देवताओं के नाम बीमारियो के नाम पर रखे गये है, जैसे कारीह मलेरिया के भूत का खनाम, हैजे के भूत का डूरा, आदि। खासी धर्म का मूलत इन्हीं बीमारियों का निवारण करने के लिए देवता-विशेष की पूजा एव बलि के साथ प्रारम्भ हुआ है। गार्डन ने भी कितने ही उदाहरण देते हुए इस मत का समर्थन किया है। जेन कीस ने लिखा है कि वे लोग चेचक को देवता के रूप मे देखते है, और उसका स्वागत करते हैं।

इनके अतिरिक्त खासी प्रकृति पूजक हैं। कितनी ही नदियाँ, पहाड़ इनके देवता हैं, जिनकी पूजा ये किया करते है। खासी अपने पूर्वजो की भी आराधना करते हैं। प्रसाद के रूप मे विभिन्न तरह के खाद्य पदार्थ साल मे एक-दो बार पूर्वजों के नाम से चढाये जाते हैं। उनका विश्वास है कि इस तरह करने से उनके पूर्वज विपत्ति पड़ने पर उनकी

मदद करेंगे। खासी विशेषतः जातीय माँ की आराधना करना नहीं भूलते हैं। जातीय माँ की सम्मति लेने के लिए तथा अन्य अवसरों पर भी अण्डे अवश्य फोड़े जाते हैं।

खासी युद्ध-देवता की भी आराधना करते हैं। यही देवता सफल योद्धाओं को शत्रुओं का सिर हस्तगत करवाते हैं। ये इस देवता के नाम पर मुर्गे की बलि देते हैं। बलि देने के पूर्व योद्धा वेदी के चारों ओर, जिस पर मुर्गे के पंख, तलवार, कवच, तीर-कमान, पान और फूल रखे जाते हैं, नाचते है। बलि देने के पश्चात् तलवार की नोंक पर मुर्गे के सिर को रख कर तीन बार जोर-जोर से चिल्लाते हैं। नर-बलि की प्रथा भी खासी के बीच प्रचलित थी। उनका विश्वास था कि नर-बलि से यू-थेलम नामक भयंकर साँप शांत रह सकता है और लाभ पहुँचा सकता है। परन्तु अब नर-बलि समाप्त-सी हो गई है।

खासी शव को जलाते हैं। शव को जलाने के पूर्व अण्डा अर्पित किया जाता है। मुर्गी की बलि दी जाती है। शव को जलाने के बाद राख और हड्डियों को वे अपने गोत्र के मावशीग या कब्रिस्तान मे लाकर गाड़ते है। ये लोग अपने मृतको की अस्थियों पर स्मारक-शिलाएँ रखते है। पुराने समय मे ये शिलाएँ सैकडो मन वजन की होती थी। आश्चर्य की बात है कि ये लोग इतने बडे पत्थर कैसे उठाकर लाते थे। आज भी यह प्रथा खासी के बीच प्रचलित है। परन्तु अब छोटे-छोटे पत्थरो का उपयोग होने लगा है।

मणिपुर की जनजातियाँ

कुकी

भारत की पूर्वी सीमा पर उन पहाडी श्रेणियों के मध्य जो हिमालय को बगाल की खाड़ी से मिलाती हैं, कितनी ही तिब्बती-बर्मी भाषा-भाषी जनजातियाँ रहती है। कुकी भी उन्ही जनजातियो मे से एक है जो लुशाई के पहाडी इलाको मे निवास करती है। इसकी घनी आबादी टीपेरा, कुचार और चीन पहाड़ियों के कुछ हिस्से में है। चटगाँव के पहाड़ी इलाके (जो अब बँगला देश मे पडता है) में भी इनकी आबादी है। कुकी जनजाति की दो श्रेणियाँ मानी जाती हैं। नयी कुकी या थाड़ोस और पुरानी कुकी। थाड़ोस अधिकांशतः मणिपुर की इम्फाल घाटी की पहाडी मे निवास करती हैं। पुरानी कुकी भी इन क्षेत्रो में निवास करती है। इन दोनों कुकी जनजातियों में बहुत से समान प्राकृतिक लक्षण विद्यमान हैं जो घनिष्ठ सांस्कृतिक और वंशीय सम्बन्ध के द्योतक हैं। परन्तु इन दोनों के बीच विवाह का सम्बन्ध नहीं है। प्रस्तुत लेख में लुशाई कुकी का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

कुकी का वंश मंगोल प्रजाति से है और उनकी शारीरिक बनावट उभरी होती है। आँख छोटी और तिरछी, नाक छोटी और चौड़ी, परन्तु उसके छिद्र बड़े होते हैं। दाढ़ी

तो होती नहीं और मूँछ भी किसी किसी व्यक्ति को ही और वह भी बहुत थोड़ी होती है। शरीर की अपेक्षा उनके पैर लम्बे और बाँह छोटी होती है। कुकी असम की सभी जनजातियो से प्रभावित मालूम पड़ती है, परन्तु प्लेफेयर का मत है कि वे 'चीरु', 'काव' और 'अरमोन' मे विशेष साम्य रखती है।

कुकी के गाँव पर्वतश्रेणियो की चोटी पर स्थित रहते हैं। गाँव के लिए चोटी के अतिरिक्त उपयुक्त स्थान इन पहाड़ी इलाको मे हो ही क्या सकता है? चोटी पर के गाँव का जलवायु अच्छा रहता है। दुश्मनो से रक्षा भी होती है। गाँवो से कुछ दूरी पर सडकों तथा पगडडियो के किनारे लकडी के छोटे-छोटे ऊँचे चबूतरे बने रहते है जिन पर मिट्टी के बर्तन, जानवरो की खोपड़ियाँ, कम्बल इत्यादि सजे रहते है। ये ग्राम के विशेष प्रतिष्ठित व्यक्तियो के स्मारक चिह्न है। कुकी गाँव की दूसरी विशेषता युवा-गृह है जिसे 'जाउल-बुख' की सज्ञा दी गई है। यही अविवाहित युवक रात्रि मे सोते है और क्रीडा, नृत्य, गान इत्यादि मे अपना समय बिताते है। जाउल बुख का सरदार सबसे अधिक उम्र वाला होता है जिसे 'होटू' कहते है।

कुकी के मकान अधिकाशतया लकडी और बाँस के ही बने होते है। इसे साधारणतया तीन हिस्सो मे बाँट सकते है, जैसे सामने का बरामदा, मुख्य कमरा और इससे अलग एक छोटा कमरा। अशत खानाबदोश होने के कारण इनके पास घरेलू वस्तुएँ अधिक नहीं रहती। उनके सरदार के पास भी लकडी के स्टूल, पीतल के बर्तन, छोटी चारपाई तथा मिट्टी के बर्तन के अलावा अधिक वस्तुएँ नही रहती। इनके मुख्य वाद्य यन्त्र ढोलक, गोगस, रोचने इत्यादि है। बाँस की टोकरी बनाने मे भी वे प्रवीण है। 'थुल', 'डोरेन' इत्यादि विशेष प्रकार की टोकरियाँ है। वे तरह-तरह के मिट्टी के बर्तन बनाते हैं जिनमे एक गोलाकार बर्तन खाना बनाने के लिए और दूसरा बडा घडा शराब तैयार करने के लिए विशेष प्रचलित है। झूम के खेतो मे वे रुई की पैदावार करते है और अब कपड़ा बुनने का काम भी होता है। कपडो को नील इत्यादि के पत्तो के साथ उबाल कर रँगने की भी कला इन्हें ज्ञात है। इनकी मौलिक संस्कृति मे दिनोदिन परिवर्तन होता जा रहा है।

कृषि ही कुकी का मुख्य पेशा है। झूम प्रणाली द्वारा ये भी चावल, मक्का, सेम, बाजरा, तम्बाकू, रुई आदि की फसलें पैदा करते है। कुकी पुरुषो का काम अन्न उत्पन्न करना, शिकार करके मास लाना, घर बनाना इत्यादि है। उनकी औरतो का समय घरेलू कार्यों, खाना बनाने, पानी ले आने, बच्चे की देखरेख करने जैसे कामों मे बीतता है।

खेती के अलावा जीविका का दूसरा साधन शिकार करना और मछली मारना है। कुकी लगभग सभी जानवरो का मांस खाते हैं। उन्हें बाघ, हाथी, बन्दर इत्यादि को पकड़ने

के तरीके मालूम हैं। शिकारियों के बड़े-बड़े झुण्ड जंगलों में मनुष्यों की आबादी से दूर उपर्युक्त जानवरों के शिकार के लिए जाते हैं। जंगली पक्षी पकडने में भी वे प्रवीण हैं। मछली मारने में साधारणतया जाल का उपयोग होता है। बड़ी-बड़ी मछलियाँ अक्सर भाले अथवा दाउन से मारी जाती हैं। जलाशय के पानी को विषाक्त करके भी मछली मारी जाती है। चावल से बनी शराब, जिसे ये 'जू' कहते हैं, इनका मुख्य पेय है।

कुकी के सामाजिक संगठन गारो और खासी जनजातियों से भिन्न हैं। ये मातृसत्तात्मक नहीं है। परन्तु प्रोफसर निर्मलकुमार बोस ने अपने एक लेख मे यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि मातृसत्तात्मक प्रणाली के अवशेष उनके रीति-रिवाजो मे अभी भी वर्तमान हैं और पहले ये भी मातृसत्तात्मक रहे होगे। उदाहरण के लिए उन्होंने पुत्रियों के पतियो के स्थान का निरूपण किया है। प्रत्येक परिवार में दो मक्कास रहते हैं, जो अक्सर सबसे बड़ी और दूसरी लड़की के पति होते है। मक्कास अपनी पत्नी के पिता के घर के प्रतिनिधि माने जाते है और उन्हें वहाँ अपने श्वसुर के अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व निबाहने पड़ते है। धार्मिक एव सामाजिक उत्सवो के अवसर पर उनकी उपस्थिति अनिवार्य होती है। इन अवसरो पर विशेषतया विवाह और मृत्यु के समय उन्हें तरह-तरह के काम करने पडते है। इनके अलावा किसी की बीमारी के मौके पर बलि चढ़ाते समय उनकी उपस्थिति अनिवार्य होती है।

कुकी अनेक गोत्रो मे विभक्त हैं। गोत्रो के नाम जानवरों, वृक्षों एवं पदार्थों के नाम पर रख गये हैं। परिवार ही कुकी समाज की इकाई है। परिवार का मालिक पुरुष ही होता है। परन्तु स्त्रियों का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। पिता के देहान्त के बाद सबसे छोटा पुत्र परिवार की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। बड़े लोगों को भी कुछ सम्पत्ति मिलती है। पुत्र के अभाव मे गोद लेने की प्रथा प्रचलित है।

शादी के मामले मे लुशाई कुकी को काफी आजादी है। वे अपने विवाह के लिए अपनी बहन और माँ को छोडकर किसी भी स्त्री को चुन सकता है। गोत्र के सदस्य से शादी करने की प्रथा प्रचलित है। हाँ, परिवार के बाहर की लड़की से शादी करना उपयुक्त समझा जाता है। जहाँ तक पत्नियों की सख्या का प्रश्न है, इस पर कोई सामाजिक रुकावट नहीं है। एक कुकी अपनी आर्थिक परिस्थिति के अनुसार जितनी पत्नियाँ चाहे, रख सकता है। परन्तु साधारण कुकी का अनुभव है कि दो पत्नियों के रहने से परिवार में कलह बढ़ती है। इस हेतु मुखिया को छोडकर अन्य लोग एक पत्नी रखने में विश्वास करते हैं। उनका वैवाहिक सम्बन्ध बहुत ही कमजोर होता है और थोड़ा मतभेद होने पर भी वे एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। स्त्री अपने पिता के घर लौट जाती है। यदि उसका दोष नहीं रहा तो वधू-मूल्य भी पति को लौटा देना होता है। यदि स्वयं पत्नी

तलाक दे अथवा पर-पुरुष से सम्बन्ध रखे तो वधू-मूल्य लौटाना आवश्यक नही। पति के देहान्त के उपरान्त विधवा पुन. शादी कर सकती है। परन्तु पुत्र और सम्पत्ति रहने पर वह अधिकाशतः शादी नहीं करती और पुत्र के साथ रहती है।

कुकी भूत-प्रेत मे विश्वास करते हैं और पथियन नामक प्रेत मे उनकी अटूट श्रद्धा है। यही सब जीव-जन्तुओ का स्रष्टा है और सबकी भलाई करता है। उसके अलावा कितने ही हुआई या राक्षस है जो जगलो, पहाडो, नदियो मे निवास करते हैं। पथियन के विपरीत, ये जीव-जतुओ को हानि पहुँचाते हैं और इन्ही के कोप से बीमारियाँ होती हैं। 'खुआरैग' दूसरे देवता है जो 'पथियन' से साम्य रखते है। परन्तु इसका स्थान 'पथियन' से निम्न है। प्रत्येक गोत्र का एक अलग इष्टदेव होता है, जिसे 'साखुआ' कहा जाता है। एसा विश्वास है कि ये मृतात्माएँ उनके पारिवारिक जीवन की देखरेख करती रहती हैं। वे उनकी पूजा करते है और साल मे कम-से-कम एक बार भोज देते है। उनका यह भी विश्वास है कि मृतात्मा खूट पर्व देखने की बडी इच्छुक होती है और ऐसे अवसर पर माता की मृतात्मा पुत्री के शरीर मे प्रवेश कर जाती है। इसी कारण लडकी बेहोश हो जाती है और उसे होश मे लाने के लिए पूजा की जाती है।

कुकी कितने ही धार्मिक उत्सव, पर्व मनाते है। ऐसे धार्मिक उत्सवो मे 'साखुआ', 'खाल', 'दयबाल', 'नचोहरी' इत्यादि विशेष महत्त्वपूर्ण है। ये उत्सव देवताओ और प्रेतात्माओ की पूजा के उपलक्ष मे मनाये जाते है। इनके अलावा बीमारियो को हटाने, स्त्री के बाँझपन का निराकरण करने इत्यादि के लिए भी पूजा की जाती है। ऐसे अवसरों पर सुअर और मुर्गे की बलि दी जाती है। बलिदान के समय कुछ मत्रो का उच्चारण किया जाता है। यह मत्रोच्चारण पुरोहित करता है। पुरोहित कोई भी हो सकता है। उनके समाज मे कोई विशेष पुरोहित नही रहता। हाँ, मुखिया का खास पुरोहित होता है। ग्राम मे कुछ लोग पुरोहिती का काम करते है। इनके पर्व कृषि से सम्बन्धित है, जिनमे से मुख्य पर्व 'चार खूट' है। यह पर्व झूम की खती तैयार करने और बीज बोने के समय मनाया जाता है। चार दिन तक खूब आनन्द मनाया जाता है। सुअर मारे जाते हैं और डटकर जू-पान होता है। युवक-युवतियाँ मिलकर नृत्य-गान करते हैं और निःसकोच जीवन का आनद लेते हैं।

अरुणाचल प्रदेश की जनजातियाँ

अरुणाचल प्रदेश के सम्पूर्ण पर्वतीय प्रदेश मे कितनी ही जनजातियाँ निवास करती हैं। इन जनजातियों तक तथाकथित सभ्यता का प्रकाश अभी तक नही पहुँचा है। इनका नृतत्त्वशास्त्रीय अध्ययन भी कम उपलब्ध है। इन सीमान्त जनजातियो को दो

भागों में विभक्त किया जा सकता है—पहली असम तथा तिब्बत की सीमा के बीच में रहने वाली तथा दूसरी असम और बर्मा की सीमा के मध्य निवास करने वाली। पहले क्षेत्र मे अरुणाचल प्रदेश है और दूसरे मे नागालैंड है। नागालैड की जनजातियो की चर्चा आगे की जायेगी।

अरुणाचल प्रदेश की सीमान्त जातियाँ स्वतन्त्रताप्रिय है। पहले ये अगरेजो की सीमा मे आकर बहुत उत्पात मचाया करती थी परन्तु अब स्वतन्त्र भारत इन्हे अपनी नीति के अनुरूप लाने मे सफल हो रहा है। इनकी शासन-प्रणाली विशेष प्रकार की है। केन्द्र सरकार ने अपनी विशेष रुचि दिखाकर इसे केन्द्र-शासित क्षेत्र घोषित किया है।

अरुणाचल प्रदेश लगभग ८१ हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र मे फैला है। पूरा प्रदेश निम्नलिखित पाँच जिलो मे विभक्त है और प्रत्येक जिले मे जो जनजातियाँ रहती है, उनका सक्षिप्त बिवरण भी नीचे प्रस्तुत है :

(क) कामेग—मोनाया, शेरदुकपेन, खोबा, मीजू, डाफला और अका।
(ख) सुबसीरी—डाफला और अपातानी।
(ग) सियाग—पाडम, मीनयोग, गैलोग, बोकर, बोरी, पैलीलो, टागीन और मोनया।
(घ) लोहित—मीजू, डीगारू, पादम, खाम्पती और सीगफो।
(ड) तीराप—क्वीन, सीगफो, हकामती, टगसा, बावचो, हावा और नोकटे।

ये जनजातियाँ एसी है जिन्हे दिये गये नाम वस्तुत उनके नाम नही है। उदाहरणार्थ, 'अबोर', 'मिसमी' इत्यादि को ही लिया जाय। 'अबोर' एक क्षेत्र का नाम है, किसी जाति का नही। 'अबोर' (सियाग) मे कोई भी 'अबोर' नाम की जाति नही रहती है। इसी तरह लोहित के 'मिसमी' पहाडी इलाके मे 'मिसमी' नाम की कोई जाति नही रहती है वरन् वहाँ तो मीजू, दीगारु, टारोम जनजातियाँ रहती हैं।

सीमान्त जातियाँ तिब्बती-बर्मी समूह की बोली बोलती हैं। केवल खाम्पती नामक जनजाति थाई समूह की बोली बोलती है, जो इण्डो-चीनी परिवार की भाषा है।

कृषि ही इन जनजातियों का मुख्य पेशा है। अपातानी, मोनया और शेर दुकपेन के अलावा सभी जनजातियाँ झूम प्रणाली द्वारा खेती करती हैं। अपातानी स्थायी खेती करने मे कुशल हैं। मोनया स्थायी और झूम दोनो प्रणालियो का उपयाग करते हैं। मोनया लोगो को ढालू जमीन पर खेती करने के कारण झूम-प्रणाली को अपनाना पड़ता है। मोनया और शेरदुकपा दोनो हल के उपयोग से परिचित हैं परन्तु इनके पूरे हल लकड़ी के बने होते

हैं और सिर्फ स्थायी खेती मे उपयोग किये जाते हैं । मोनाया और अपातानी कुशल व्यापारी भी होते हैं । अधिकाश जनजातियाँ वस्तु-विनिमय (बार्टर) प्रणाली से ही परिचित है । वे अपने पास वाली वस्तुओ से बदल कर आवश्यक वस्तुएँ खरीद लेते है। कुछ वर्ष पूर्व तक उन्हे रुपए-पैसे का ज्ञान नही था परन्तु सास्कृतिक सम्पर्क और सरकारी शासन के फलस्वरूप वे अब रुपये-पैसे से पूर्णरूपेण परिचित हो रहे है ।

इन जनजातियो के अपने अलग-अलग रीति-रिवाज है । जन्म से मरण तक उन्हे अनेक रीतियो एव विधियो का पालन करना पडता है । जन्मोत्सव सभी जनजातियो मे मनाया जाता है परन्तु मनाने की तिथि और प्रणाली मे भिन्नता है । कोई जन्म के तीसरे दिन जन्मोत्सव मनाता है तो कोई छठे दिन । साधारणतया इसी अवसर पर बच्चे का नाम-करण भी किया जाता है ।

सामान्यतया शादी का निश्चय करने मे वर-वधू के माता-पिता का विशेष हाथ रहता है । वर-वधू को शादी ठीक करने के मामले मे आजादी नही रहती । शादी के समय सभी जनजातियो मे वधू-मूल्य देने का रिवाज है । वधू-मूल्य की रकम दोनो पक्षों की सामाजिक और आर्थिक अवस्था पर निश्चित की जाती है । दाफला, अका, खोवारा, मीजू, अपातानी और खाम्पती मृत्यु के पश्चात् शव को गाड देते है । अबोर क्षेत्र मे रहने वाली जनजातियाँ भी मृतक के शरीर को गाड़ देती हैं, परन्तु वे लाश को एक रात अपने मकान मे रखने के बाद ऐसा करती है । शेरदुकपेन के बीच गाड़ने और जलाने, दोनो की प्रथाएँ प्रचलित है । धनी परिवार वाले लाश को जलाते है और गरीब लाश को गाडते है । मिसमी क्षेत्र के अधिकाश लोग लाश को जलाते है परन्तु फसल कटने के ठीक पहले मृत्यु होने पर उसे गाड देते है ।

सीमान्त प्रदेशीय लोग कला-मर्मज्ञ भी कम नही । वे बाँस और बेत की नाना प्रकार की चीजे बनाने मे दक्ष है । मीज, अका, डाफला के अतिरिक्त सभी जनजातियाँ सूत कातना और कपडा बुनना जानती है । अबोर और मिसमी क्षेत्र की जनजातियाँ कपडा बुनने में तो विशेष रूप से कुशल और सुन्दर डिजाइन के कपडे तैयार करने के लिए प्रसिद्ध हैं । खाम्पती जनजाति के पुरोहित अवकाश मिलने पर लकड़ी, हड्डी और हाथीदाँत पर सुन्दर नक्काशी करने मे भी बहुत ही कुशल है । आभूषण बनाने मे भी वे दक्ष हैं । साधारणतया इन सीमान्त प्रदेशीय जातियो मे मोनया और खाम्पती शिक्षा, कला और सभ्यता की दृष्टि से अन्य सभी पर्वतीय जनजातियो से अधिक बढ़े-चढ़े है । वे पढ़ना-लिखना भी अच्छी तरह जानते हैं और बुद्ध धर्मावलम्बी हो गये हैं ।

मोनया और खाम्पती के सभी गाँवो मे गोमपा नामक बौद्ध-मन्दिर स्थापित हो चुके

हैं। इनमें दिन-प्रति-दिन की पूजा के लिये महंत रहते हैं। तवाङ्ग में एक बड़ा मठ है जहाँ चार सौ महंत रहते है। इन जनजातियो के बीच पशुबलि निषिद्ध है और पूजा के समय, चावल, पुष्प आदि चढ़ाये जाते हैं।

इन जनजातियो के सामने शैक्षिक, आर्थिक तथा आवागमन-सम्बन्धी कितनी ही समस्याएँ हैं जिनके निराकरण के लिए प्रदेशीय अरुणाचल प्रदेश प्रशासन बनाया गया है। आर्थिक क्षेत्र मे कुटीर-उद्योग की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। सीमान्त जनजातियों को कुटीर-उद्योग के लिए तरह-तरह का प्रोत्साहन दिया गया है। कितने ही प्रशिक्षण-केन्द्र खोले गये हैं जिनमे दस प्रकार के कुटीर-उद्योगो की शिक्षा दी जा रही है। शिक्षा के बाद उन्हें उद्योग प्रारंभ करने के लिए ऋण देने की व्यवस्था की जाती है। इन योजनाओं से उनकी आर्थिक अवस्था मे सुधार होना स्वाभाविक है। विकास के विभिन्न कार्यक्रम क्रमशः जारी हैं।

नागालैंड की जनजातियाँ

असम की पूर्वी सीमा पर, असम और बर्मा की सीमाओ के बीच फैले नागालैंड में कितनी ही जनजातियाँ रहती है। इस सीमान्त क्षेत्र को नागालैंड की संज्ञा मिली है। इस क्षेत्र मे सैगटाम, चांग भीमचंगुर, कोन्यक, कोम और सेमा नामक नागाओ की आबादी है। इस सीमांत राज्य के पश्चिमी भाग नागा पहाड़ियो के क्षेत्र मे अनेक जनजातियाँ, यथा अवो, ल्होट, (ल्होटा), रेंगमा, अगामी इत्यादि निवास करती हैं। ये सभी जनजातियाँ नागाओ की शाखाएँ समझी जाती हैं। परन्तु जे० ए० हटन और जे० पी० मिल्स के अन्वेषण और अध्ययन से स्पष्ट है कि नागा जनजातियो के वंशीय आधार, आचार-विचार, सांस्कृतिक विशेषताएँ, ऐतिहासिक परम्परा इत्यादि मे कोई विशेष समानता नही है। सांस्कृतिक दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न हैं और अलग-अलग जगहों से आकर इस क्षेत्र मे बस गयी है। हाँ, आजकल एक स्थान पर सदियो रह जाने तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण उनके सांस्कृतिक लक्षणो मे समानता दीखती है। अतएव हटन का मत है कि 'नागा' शब्द का उपयोग मनमाने ढंग पर इस क्षेत्र विशेष मे रहने वाली जन-जातियों के लिए किया गया है। नागा यहाँ के आदिनिवासी नही हैं। वे विभिन्न नाम-धारी 'नागा' जनजातियाँ, अलग-अलग प्रदेशो तथा दिशाओ से आकर असम में बसी हैं। हटन का मत है कि यहाँ निवास करने वाली नागा जातियो के तीन बड़े प्रजातीय आगमन तिब्बत और नेपाल की दिशाओं से हुए हैं। इस दिशा से आधुनिक असम की जितनी जन-जातियाँ आयी उनमे 'सिंघफो' का विशेष महत्त्व है। इसी समूह के साथ 'अका', 'मिसमी' तथा वे सभी जातियाँ असम में आयीं जो आजकल ब्रह्मपुत्र की उत्तरी घाटी मे निवास करती

हैं। इसके अलावा 'बोडो' जनजातियाँ जैसे 'गारो', 'मिकिर', 'कचारी' इत्यादि भी सम्भवतः उसी दिशा से असम में आयी। इस प्रदेश में जातियों का द्वितीय महान् आगमन दक्षिण चीन की दिशा से हुआ है। इसमें मानव-समूह इरावती नदी की घाटी पार कर यहाँ पहुँचा। इन जनजातियों में 'शान', 'पह्वोन', 'टामन' इत्यादि विशेष उल्लेखनीय है। आगन्तुकों का तीसरा झुण्ड दक्षिण के देशों से आया था और यह क्रम निकट भूतकाल में भी जारी रहा।

इनके आधार पर विभिन्न नागाओं के मूल स्थान अलग-अलग क्षेत्रों तथा दिशाओं में बतलाये जाते हैं। कोन्थक अपने को उत्तर-पश्चिम देश के आदिनिवासी बतलाते हैं जहाँ से वे असम में आये। अब नागा भी उत्तर-पश्चिम इलाके में इस क्षेत्र में आये। अगामी सेमा तथा ल्होटा नागा दक्षिण प्रदेशों में इस क्षेत्र में आये तथा 'खोयशव' नागा असम के पश्चिम के इलाकों में आकर यहाँ बसे। हटन का मत है कि दक्षिण 'सैंग-टाम' दक्षिण या दक्षिण-पूर्व तथा उत्तरी सैंगटाम केवल दक्षिणी देशों से आकर यहाँ बसे।

शारीरिक आकार-प्रकार--जिस तरह विभिन्न नागाओं की अलग-अलग ऐतिहासिक परम्पराएं है, उसी तरह उनकी शारीरिक बनावट एवं आकृति में भी अन्तर है। यह अन्तर केवल नागाओं की विभिन्न जातियों तक ही सीमित नहीं है वरन् एक जनजाति के सदस्यों के बीच भी शारीरिक माप तथा आकार-प्रकार में भिन्नता पायी जाती है। उदाहरणार्थ, अगामी, ल्होटा, रगमा इत्यादि के ही आकार पर विचार किया जाय। अगामी सेमा से लम्बे कद के होते है। उनकी आँखें लम्बी तथा नाक भी सीधी होती है, परन्तु सेमा में मंगोल प्रजाति का विशेष प्रभाव होने के कारण नाक चपटी, आँखें तिरछी, कद छोटा तथा शारीरिक बनावट भी अपने ढंग की होती है। अगामी की एक दूसरी प्रधान विशेषता पैर पर जमे मांस (Calves) है जिनकी चर्चा सेमा के लोकगीतों में भी पायी जाती है। यद्यपि कूकी के पैरों में भी इसी तरह के लक्षण पाये जाते है, तथापि उनके कद अगामी से अक्सर छोटे होते है।

नागाओं के शरीर के रंग में भी काफी अन्तर है। यों तो स्थान की ऊँचाई के साथ-साथ उनके रंग साफ होते जाते है, फिर भी जनजाति-विशेष की जातीय भिन्नता स्पष्ट है। अगामी सामान्यतया लाल या भूरे रंग के होते है। अओ तथा कोन्यक गौरवर्ण तथा लम्बे केश वाले होते है। परन्तु 'ल्होटा' में गौरवर्ण के लोग कम हैं और सेमा नागा तो गहरे भूरे रंग (Dark Brown) के होते है। उनके केश में भी अन्तर है। प्रत्येक जनजाति के कुछ सदस्यों के केश कुंचित (Frizzly) होते हैं। परन्तु कोन्यक, अओ और फोम में उनकी संख्या बहुत ही कम और अगामी में सबसे अधिक है।

सांस्कृतिक क्षेत्र—वंश-परम्परा तथा शारीरिक विशेषताओं की भिन्नता के अतिरिक्त सांस्कृतिक क्षेत्र में उनमे बहुत अन्तर है। नागाओं का मृत्यु-संस्कार का ढंग अलग-अलग है। हिन्दू से प्रभावित दक्षिण के मणिपुरी तथा उत्तर-पूर्व के 'सिंवफो' शव को जलाते है। इनके अतिरिक्त अन्य जनजातियाँ—अंगामी, सेमा, रेंगमा, ल्होटा, सैंगटाम या चंगुर, टंगखूल और काचा नागा मृतक शरीर को गाडते है। परन्तु गाडने की प्रणाली प्रत्येक जनजाति मे अलग-अलग है। वस्तुत. वे शरीर को गाडते नही। उदाहरणार्थ कुछ धनी कूकी लाश को गलने के लिए छोड देते है। जब लाश गल जाती है तब वे सिर को शरीर से निकाल लेते है, और उसे किसी चट्टान की छोटी कन्दरा मे रख आते है। यह प्रचलन अब बहुत कम हो गया है। इसी तरह याचुगर और कुछ दक्षिण सैंगटाम लाश को अपने मकान मे ही खाट के नीचे गाडते है। जब कोई दूसरा आदमी उस परिवार मे मरता है तो नि सकोच कब्र खोदकर पहले की अस्थियाँ निकाल दी जाती है और दूसरे शव के लिए स्थान रिक्त कर दिया जाता है। नगे रेंगमा शव की कब्र पर छोटी सी झोपडी बना देते है। मृतात्मा के निवास की झोपड़ी मे एक सीढी बनी रहती है। इसी तरह ल्होटा, सेंगटाम और सेमा के बीच भी लाश पर घास-पात का छप्पर बनाने की प्रथा प्रचलित है। हटन का मत है कि सर्वप्रथम इन जनजातियो मे लाश शायद छप्पर के नीचे खुली छोड़ दी जाती थी। इनके उत्तर मे निवास करने वाली जनजातियो मे इसके अधिक स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। नागाओं मे धनी लोग शव को दो मास तक चबूतरे पर रख कर धुएँ मे सुखाते है। यह चबूतरा बॉस का बना होता है जिस पर एक छोटी सी झोपडी बनी होती है। कोन्यक नौका सदृश काठ के बने पात्र मे ही शव रखते है। उत्तर की ये जनजातियाँ पूरी तरह से शव को खुला नही छोडती। कोन्यक लाश के गल जाने पर खोपड़ी को मिट्टी के बर्तन मे जमा कर अलग किसी जगह रखते है। कुछ लोग उन्हें पत्थर के बने चबूतरे पर रखते है। फोम जनजाति उन बर्तनों को खडी चट्टानो की दरारो में रखती है। ये दोनो जनजातियाँ—फोम और कोन्यक—मृतक के सिर को कुछ समय के लिए अपने घर ले आती है और जब तक वह उनके घर मे रहता है, तब तक वे कुछ पूजा-पाठ करती है।

चैंग जनजाति की भौगोलिक स्थिति एव सांस्कृतिक स्थान भी उपर्युक्त दो प्रकार की जनजातियो—प्रथम जो दक्षिण में रहती है और शव को गाड़ती है और दूसरी जो उत्तर मे रहती है और शव को खुले स्थान मे छोड़ देती है—के बीच है। इस जनजाति में मृतक संस्कार की दोनो प्रथाएँ प्रचलित है।

नागा क्षेत्र की जनजातियो के हथियार भी तरह-तरह के हैं। कुछ हथियार इण्डोनेशिया के हथियारो से साम्य रखते हैं और मालूम होता है कि वे वहीं से लाये गये हैं।

इसके विपरीत कुछ हथियार मूलत. उत्तरी क्षेत्रो के हथियारो से मिलते-जुलते हैं। अंगामी मे प्रचलित भाले फिलिपाइन के इगोरौट नामक भाले से साम्य रखते है। 'काचा' नागा के भाले भी इगोरौट मे मिलते-जुलते है। इसी तरह खासी के डासिग, दाव और ल्होटा मे प्रचलित 'यानथाग' उत्तरी क्षेत्रो की देन है। ल्होटा नागा मे एक प्रकार का धनुप (Cross bow) प्रचलित है जिसके निर्माण और उपयोग मे वे दक्ष है, परन्तु उनके पडोसी नागा—अओ, रेंगमा, अगामी तथा सेमा—के बीच इस प्रकार का धनुष प्रचलित नही है।

युद्ध-सम्बन्धी ढोलक का उपयोग भी सभी नागा नही करते। सेगटाम, अओ और कोन्यक नागा वृक्ष के कुन्दे को खोद कर और चमडे जोड कर बडे-बडे ढोल बनाने मे प्रवीण होते है। ढोल उनके समाज की महत्त्वपूर्ण वस्तु मानी जाती हे, परन्तु दक्षिणी क्षेत्र के नागा—ल्होटा, सेमा, दक्षिण सैंगटाम, रेंगमा और अगामी इत्यादि ऐसे ढोल बनाना नही जानते।

इनके अलावा नागाओ के बीच कितनी ही ऐसी प्रथाएँ है जिनसे उनकी आपसी भिन्नता टपकती है। उदाहरणार्थ, कुछ नागा फसल काटने के लिए औजार का उपयोग करते है। परन्तु गारो की तरह सेमा नागा हाथ ही से फसल तोडते है। इसी तरह अगामी नागाओं द्वारा सीढीदार खेती बडे पैमाने पर होती है, परन्तु तथाकथित नगे नागा, टागकुल, मरम नागा मे यह प्रणाली बहुत ही कम प्रचलित है। झूम प्रणाली मे भी विभिन्न नागाओ मे बीज बोने के अलग-अलग तरीके है। दक्षिण की नागा जनजातियाँ—अगामी, ल्होटा, रेंगमा, सेमा—बड़ी सावधानीपूर्वक खेत मे छोटे गड्ढे करके उनमे बीज बोती है परन्तु अओ और चेग तथा कोन्यक नागा तो बडी असावधानीपूर्वक 'झूम' के खेत मे बीज छीट देते है। सीढीदार खेती के साथ मेगलीथ बनाने की रीति भी सम्बद्ध है। जो जातियाँ सीढी-दार खेती करती है, उनमे यह रीति बडे पैमाने पर मिलती है। इनके अलावा काचा नागा ल्होटा, रगमा इत्यादि भी अल्प पैमाने पर मेगलीथ के निर्माण मे विश्वास करते है।

इन रीति-रिवाजो से अधिक उनकी उत्पत्ति की भिन्नता का प्रमाण उनके सामाजिक संगठन से मिलता है। नागाओ की कुछ जनजातियाँ दो या तीन सामाजिक श्रेणियो में बँटी है। उन श्रेणियो का नाम प्रत्येक जाति मे अलग-अलग है। उनकी भाषाओ में भी अन्तर है। अओ जनजाति दो भाषा-सम्बन्धी श्रेणियो मे विभक्त है जिन्हे चोगली और मोंगसेन कहा जाता है। इन दोनो श्रेणियो के सदस्य एक ही गाँव मे अगल-बगल रहते हैं। एक श्रेणी मे माँ के लिए 'ओचा' का और दूसरी श्रेणी मे 'आम्' शब्द का उपयोग होता है। इसके अलावा अओ नागा का वर्गीकरण पोगेन, लांगकाम और चामी नामक तीन गोत्र-

समूहों मे है जो प्रधानतया बहिर्विवाही समूह हैं। इनमें पोगेन का सामाजिक स्तर अन्य दोनो से बहुत ऊँचा (Hypergamous) है। फिर दक्षिण कोन्यक गाँवों में भी भाषा-सम्बन्धी दो श्रेणियाँ है। प्रत्येक श्रेणी के साथ गोदना की एक विशेष परम्परा सम्बद्ध है। जैसे एक श्रेणी के योद्धाओ के मुख पर गोदना है और दूसरे अपनी छाती मे गोदना गुदवाते हैं। इन दो श्रेणियो को तेन्दु और येनकोह कहा जाता है। इसके अलावा अओ की तरह एक प्रकार का विभाजन और हुआ है जिसमे तीन श्रेणियाँ है। उन तीनों में आंग नामक श्रेणी अओ की पोगेन की तरह उच्चतम है। कबीले के सदस्य मुखिया चुने जाते है। अगामी नागा मे भी इनसेनीकोट सेबु और सेमीन्यु नामक भाषा-सम्बन्धी दो श्रेणियाँ है। इन दोनो श्रेणियो के लोग अओ की तरह एक साथ गाँवो मे रहते है। सेमीन्यु पुन. दो श्रेणियो मे बँटे है, जिन्हे थेमोमा और थेकरोनमा कहा जाता है। प्रथम श्रेणी मे माँ के लिए 'अजो' और दूसरी श्रेणी में 'अपफा' शब्द प्रचलित है। इनके अलावा भी कितने मिश्रित वर्गीकरण के उदाहरण है जो अगामी मे पाये जाते है। ल्होटा नागा भी अगामी की तरह दो श्रेणियो मे बँटे है। उनके बीच भी माँ के लिए अलग-अलग शब्द है। ग्राम-शासन की प्रणाली के लिए भी भिन्न-भिन्न नागाओ मे अलग-अलग शब्द है। ग्राम-शासन की प्रणाली भी भिन्न-भिन्न नागाओ में अलग-अलग है। सेमाओ के गाँव मे मुखिया का पद वशगत है, एक श्रेणी के कोन्य (तेन्दु) मे भी मुखिया का पद वशगत ही है, परन्तु तेन्कोह श्रेणी मे ऐसी बात नही है। कोन्यक नागा मे मुखिया के धर्म-सम्बन्धी काम पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके विपरीत अओ तथा टाँगखुल गाँवो मे प्रौढ लोगों की समिति द्वारा शासन का कार्यक्रम चलता है। अगामी, रेगमा और ल्होटा नागाओ मे शासनव्यवस्था प्रजातन्त्र के आधार पर चलती है। अगामी नागाओ मे प्रजातन्त्र बड़े पैमाने पर वर्तमान है। फिर भी अगामी मे पुरोहित का पद वशगत है और एसा विश्वास है कि ग्राम के निर्माता के पुत्र ही पुरोहित होते चले आ रहे है।

सभी नागाओ को विश्वास है कि जिस तरह वे पृथ्वी पर रहते है उसी तरह मृत्यु के पश्चात् भी वे दूसरी दुनिया मे मृतात्माओ के साथ निवास करने चले जाते है। अधिकाश जनजातियो का विश्वास है कि वह दुनिया पृथ्वी के नीचे है और एक विशेष पहाड के रास्ते से वहाँ पहुँचा जा सकता है। परन्तु अंगामी नागा का विचार उनसे एकदम अलग है। उनका विश्वास है कि जो व्यक्ति इस दुनिया मे पवित्रतापूर्वक रहता है, वह मृत्यु के पश्चात् आसमान पर चला जाता है। वहाँ वह अन्य पुण्यात्माओ और जीव के निर्माताओं के साथ शान्तिपूर्वक निवास करता है। कुछ नागा आकाश की दुनिया तथा वहाँ रहने वाले भूत-प्रेतो को तो मानते हैं, परन्तु उनका विश्वास है कि मरने पर मनुष्य वहाँ नही जाता।

इन्ही के साथ-साथ सेमा नागाओ का मत है कि अच्छे लोगो की मृतात्मा पूरब की ओर तथा असन्तुष्टि से भरे लोगो की आत्मा पश्चिम की ओर चली जाती है।

प्राय. ऐसा कहा जाता है कि नागा एक जगह से दूसरी जगह जाना पसन्द नही करते हैं। उन्हें अपने गाँवो से मोह हो जाता है। इसी आधार पर उन्हे कूकी तथा पहाड़ियाँ कचारी आदि से भिन्न दिखलाया जाता है जो अपने निवास-स्थान को प्राय: बदलते रहते है। परन्तु हटन का मत है कि गाँवो के प्रति सभी नागाओ का प्रेम उतना प्रबल नही होता। उनके अनुसार अगामी नागा के अलावा अन्य नागाओ का गाँवो के प्रति विशेष मोह नही है। यह भी धारणा है कि नागाओ मे सफाई की बहुत महत्ता है। विशेषत: उनका विश्वास है कि शरीर न धोने से बीमारी हो जाती है, परन्तु हटन के अनुसार इस तरह का विश्वास अगामी नागाओं मे प्रचलित है। अभ्यास मे अगामी की अपेक्षा होटा अधिक साफ तथा सेमा, आव, नागा इत्यादि काफी गदे रहते हैं। भाषा के आधार पर सास्कृतिक अन्तर दिखलाना खतरे से खाली नही है, फिर भी सर जार्ज ग्रियर्सन की खोज है कि उत्तर-पूर्व के नागाओ की भाषा दक्षिण के कूकी और बोडो की भाषाओ से विशेष मिलती-जुलती है। उनकी भाषाएँ मध्य क्षेत्र मे रहने वाली नागा जनजातियो मे, जो दक्षिण की जातियो की अपेक्षा युग के समीप हैं, कोई साम्य नही रखती।

साराशत नागा को एक बड़ी जनजाति मानना प्रमाण-रहित मालूम पड़ता है। नागा के रक्त मे कितनी ही तरह के मिश्रण होते रहे है। जहाँ नागा का आधुनिक निवास-स्थान है, वहाँ समय-समय पर उत्तर-पूर्व, उत्तर-पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर से कितनी ही तरह की प्रजातियो की शाखाएँ आती रही है और आपस मे मिश्रित होती रही है।

इस जातीय मिश्रण तथा सास्कृतिक आदान-प्रदान के कारण कितनी ही तरह की जनजातियाँ बन गयी है जिन्हे अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि आज भी ये जनजातियाँ अपनी-अपनी कुछ मूल सास्कृतिक विशेषता को सुरक्षित रखे हुए है, फिर भी उनके अलग-अलग मूल निवास-स्थान और सस्कृति का पता लगाना सभव नही है। हटन और मिल्स ने इस दिशा मे खोज करने की कुछ चेष्टा की है, और मोटे तौर पर कुछ बातें मालूम भी हुई है। हटन का मत है कि मानखमेर तत्त्व के लोग असम के आदि-निवासी हैं। वे उत्तर-पश्चिम की बोडो नामधारी प्रजाति से ज्यादा प्रभावित हुए। सक्षेपत: उनका मत है कि अधिकाश जनजातियाँ, मानखमेर, बोडो, थाई और कुछ दक्षिण प्रजातियाँ मुख्यत फिलिपाइन और बोर्नियो के निवासियो के मिश्रण से बनी है और उन्ही की सांस्कृतिक विशेषता अपनाये हुए है।

उपर्युक्त परिच्छेदों से विभिन्न नागाओं की सास्कृतिक विशेषताओ की एक झाँकी

मिलती है। परस्पर की समानता तथा विभिन्नता से अवगत होने के बाद प्रत्येक नागा के बारे मे सविस्तार विचार किया जा सकता है।

परन्तु प्रस्तुत पुस्तक मे सभी नागाओ के बारे मे लिखना संभव नही दीखता। पुस्तक के कलेवर के दृष्टिकोण से मै इस स्थल पर तीन नागाओ—उत्तर के कोन्यक, मध्य के ल्होटा और दक्षिण के अगामी—पर कुछ विस्तार मे वर्णन करूँगा। इन तीनो जनजातियों पर क्रमशः हैमनडार्फ, जे० पी० मिल्स और जे० एच० हटन की विशेष महत्त्वपूर्ण पुस्तकें है।

ल्होटा नागा—नागा जनजातियो की उत्तरी और दक्षिणी सस्कृतियो के मध्य में ल्होटा जनजातियो की सस्कृति फैली है। ल्होटा पर सेमा और अगामी सस्कृतियों का प्रभाव पडा है। उत्तर की अओ सस्कृति के भी कितने ही लक्षण परिलक्षित होते है। १९६१ की जनगणना के अनुसार ल्होटा की आबादी २६,५६५ है। यह जनजाति नागा पहाडी क्षेत्रो के एक छोटे हिस्से मे रहती है। असमियो से उनका सम्पर्क बहुत दिनों से चला आ रहा है और दोनो मे साधारणतया अच्छा सम्बन्ध रहा है।

ल्होटा की उत्पत्ति और आगमन के बारे मे कितनी ही परम्परागत कहानियाँ प्रचलित है। कहा जाता है कि ल्होटा सर्वप्रथम जिस मैदानी क्षेत्र मे रहते थे, उसे लेन्का कहा जाता था। यह क्षेत्र नागा पहाडो के उत्तर या उत्तर-पूर्व मे पडता है। वही से ल्होटा इस क्षेत्र मे आये जहाँ वे आज भी निवास करते है। ल्होटा की शारीरिक विशेषता के बारे मे जे० पी० मिल्स ने लिखा है। उनके शरीर का रग हल्के भूरे रग का होता है। उनके केश सीधे और खडे होते है। कभी-कभी लच्छेदार और घुंघराले केश के भी उदाहरण मिलते हैं। उनके केश कटवाने के ढग सेमा और अओ नागाओं से मिलते-जुलते है। कोई भी मनुष्य अपने पीछे और बगल के सिर के बाल उस समय तक नही कटवाता जब तक उसने अपने किसी शत्रु को मारा न हो। सात वर्ष की आयु तक नागा लडकियाँ सिर के बाल एकदम कटवाती रहती है।

ल्होटा, नागा के सभी गाँव पहाड़ो की चोटियो पर स्थित है। ये गाँव सुरक्षित स्थान मे तथा झरने या अन्य जलाशय के पास होते है। कुछ गाँवो के नाम अओ भाषा मे है। सम्भवत. ये गाँव ल्होटा ने अओ नागाओ को भगाकर प्राप्त किये होगे। गाँव की रक्षा के लिए अगामी बडी दीवार खडी कर देते है और कोन्यक बेत की बनी झोपडियाँ लगा देते हैं, परन्तु ल्होटा साधारणत. गाँव की रक्षा के लिए तग खाईं खोदते है। ल्होटा गाँव छोटे होते है और बडे भी। इनके गाँव मे बारह से लेकर तीन सौ पचास मकान तक होते हैं। ये मकान एक चौड़ी सड़क के दोनों किनारों पर बने रहते हैं। इन मकानो मे मनुष्यों और जानवरो दोनो के रहने की व्यवस्था रहती है, परन्तु ल्होटा घर में धान रखना अच्छा नही समझते। वे उसे मकान के समीप बनी बाँस की कोठार (अन्न-भण्डार) मे रखते हैं।

प्रत्येक ल्होटा गाँव दो या दो से अधिक खेल मे बँटा होता है। खेल गाँव के एक हिस्से या टोल्ली को कहते हैं। दो खेलो के बीच मे खुला मैदान होता है। प्रत्येक खेल में अनेक गोत्रो के सदस्य रहते हैं। प्रत्येक खेल मे एक युवा-गृह रहता है, जिन्हें असम मे मोरंग कहा जाता है। ल्होटा इसे चाम्पो कहते है। चाम्पो ल्होटा के सामाजिक सगठन मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी चाम्पो मे गाँवो के निवासी इकट्ठा होते है और सभी तरह के विचार-विमर्श करते है। ल्होटा की प्रथा के अनुसार यदि वे नरमुण्ड के शिकार से लौटते थे, तो सर्वप्रथम मुण्ड यही लाया जाता था। आज भी शादी के पहले तक ल्होटा युवा वहीं सोते हैं। औरतो के लिए युवा-गृह मे आना वर्जित है। यह गृह गाँव के किनारे परन्तु सड़क के सामने मे रहता है, फिर भी ल्होटा के गाँव मे यही सुन्दरतम मकान होता है। इसकी लम्बाई बारह मीटर तथा चौड़ाई साढे तीन मीटर होती है।

युवा-गृह का भीतरी हिस्सा आकर्षक नही होता। यह अँधेरा, गंदा और धुआँ भरा होता है। दीवारें लाज की बनी होती हैं। प्रत्येक किनारे मे एक दरवाजा होता है। साधारणतया प्रत्येक नौ साल मे युवा-गृह का पुनर्निर्माण होता है। इस अवसर पर उत्सव मनाया जाता है। चाम्पो के सचालक के लिए अलग सम्पत्ति की व्यवस्था की जाती है।

ल्होटा गाँव की दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु वह वृक्ष है, जिसे 'मिनगेटुग' अथवा 'प्रधान' वृक्ष कहते हैं। यह वृक्ष गाँव के बीच मे एक ऊँची जगह पर होता है। यह वृक्ष बहुत पवित्र माना जाता है। कहा जाता है कि पहले इनकी शाखाओ मे नरमुण्ड लटकते रहते थे। गाँव की भलाई-बुराई इसी वृक्ष की कृपा पर निर्भर रहती है। इसकी पूजा होती है और इस वृक्ष से पत्ता या टहनी तोड़ने का सर्वथा निषेध है।

ल्होटा का मुख्य पेशा कृषि है। उनकी कृषि-प्रणाली को झूम कहते हैं। जंगल के एक खण्ड के पेड़-पौधे काट कर जलाये जाते हैं। ऐसी जमीन पर वे दो साल तक खेती करते हैं और फिर इस जगह को छोड़ कर दूसरी जगह जगल जला कर खेती करना प्रारम्भ करते हैं। बीज बोने के पहले प्रत्येक साल धार्मिक उत्सव मनाया जाता है। इसी तरह के कितने ही कृषि-सम्बन्धी उत्सव मनाये जाते है। धान के अलावा मक्का, मिरचाई, बाजरा इत्यादि की भी खेती होती है। धान के बाद उसी खेत मे रूई की फसल उपजायी जाती है। इसके अलावा तम्बाकू, नील और फल, विशेषतया सतरा, और पान की उपज की जाती है।

ल्होटा शिकार करने मे भी प्रवीण होते हैं। वे शिकार अधिकतर कुत्तों की सहायता से भाले से करते हैं। शिकार मे जाने के पहले वे कुत्तों को पूजा द्वारा पवित्र बना देते हैं। जिस दिन गाँव में किसी का देहांत हो जाता है, उस दिन शिकार में जाना निषिद्ध है।

वे मुख्यतया मांस के लिए शिकार करते हैं। अधिकतर जंगली सूअर, हरिण, शेर इत्यादि का शिकार होता है। हाथी बझाकर पकड़े जाते हैं।

ल्होटा मछुए तथा तैराक भी होते हैं। दो या दो से अधिक गाँवों के सदस्य मिल कर पहले किसी जलाशय को मछली मारने के लिए विषाक्त करते हैं। मछली मारने की सर्वप्रिय प्रणाली यही है। इसके अलावा मछली मारने के लिए कितनी ही तरह के जाल भी प्रचलित है, जिनमें ओसा नामक जाल विशेष लोकप्रिय है।

ल्होटा महिलाएँ अनेक तरह के गृह-उद्योग-धन्धों में हाथ बँटाती हैं। सूत कातना तो प्रत्येक ल्होटा महिला जानती है। प्रत्येक स्त्री से यह आशा की जाती है कि वह अपने पति तथा परिवार के अन्य सदस्यों को कपड़ा बुन कर देगी। कपड़ा रँगने का काम भी औरतें करती है। ल्होटा औरतें मिट्टी के बर्तन बनाना भी जानती है। ल्होटा का विश्वास है कि यदि मनुष्य की नजर पकते हुए मिट्टी के बर्तन पर पड़ती है, तो सब बर्तन फूट जाते हैं। टोकरी बनाने का काम मर्दों का है। वे इस उद्योग में बहुत प्रवीण होते हैं। औरतों को टोकरी बनाना निषिद्ध है। लोहे के उद्योग में ल्होटा पिछड़े हैं। दक्षिण के ल्होटा हथियार तथा औजार रेंगमा से और उत्तर के ल्होटा आव नागा से खरीदते हैं जो इस उद्योग मे बहुत कुशल हैं।

ल्होटा का प्रधान भोजन चावल है। मांस भी इनका प्रिय खाद्य पदार्थ है। वे लगभग सभी जानवरों का मास खाते हैं। हाँ, मनुष्य-भक्षी शेर तथा अन्य ऐसे ही जानवरों का मास कुछ ल्होटा नही खाते है। मास काफी समय तक सुरक्षित रखने की युक्ति के अधीन मांस को छोटे-छोटे टुकड़ों मे काटकर तथा धुएँ से सेंक कर लगभग साल भर तक सुरक्षित रखा जाता है। ये चावल से बनी शराब के भी बड़े शौकीन होते हैं और खाते समय उसके बिना उन्हें चैन नही मिलती।

ल्होटा पुरुषों की पोशाक बहुत ही साधारण होती है। वे कमर में एक लँगोटी पहनते हैं जिसे 'लेंगटा' कहते हैं। शरीर मे पहनने की पोशाकें तरह-तरह की होती हैं। नाचने की पोशाक अलग होती है और शिकार करने की भी अलग। सेमा और अन्य नागाओं की तरह ल्होटा औरतें भी बाजू पहनती हैं। गले मे वे हार पहनती हैं। दाव ल्होटा के प्रमुख हथियार है जिनसे वे अपने शत्रुओं की हत्या करते अथवा वृक्ष काटते हैं। दूसरा हथियार भाला है जिसकी लम्बाई साधारणतया दो मीटर होती है। एक विशेष प्रकार का धनुष, जिसे ओलो कहा जाता है, इस क्षेत्र मे विशेष प्रचलित है। इनका प्रिय वाद्य-यन्त्र बाँसुरी है जिसकी मधुर आवाज से हमेशा ल्होटा के वन-पर्वत गूँजते रहते हैं।

ल्होटा का सामाजिक संगठन भी कम विशिष्ट नहीं है। पूरी जनजाति तीन गोत्र-समूहों में बँटी है। ये श्रेणियाँ हैं—टोमपायकटसेरा, इजमोटसेरा और मी-पोंगसाले।

इन तीनों श्रेणियों में से प्रत्येक में नौ-दस गोत्र पाये जाते हैं। इनमें से कुछ गोत्र छोटे-छोटे उपगोत्रो में विभक्त है। इन श्रेणियों और कबीलो के नाम की उत्पत्ति के साथ कितनी ही परम्परागत किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि तीनों गोत्र-समूहों की उत्पत्ति उन तीनो भाइयो के नाम पर हुई है जो पृथ्वी पर सर्वप्रथम अवतरित हुए। इसी तरह प्रत्येक श्रेणी मे गोत्र की उत्पत्ति के बारे मे भी अलग अलग किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं।

ल्होटा समाज मे एक ही गोत्र के सदस्यो मे विवाह नहीं होता है। कुछ गोत्रो में उपगोत्र भी होते हैं। इन उपगोत्रो के सदस्य पारस्परिक उपश्रेणी मे विवाह कर सकते हैं। आधुनिक काल मे इस तरह का विवाह (एक ही गोत्र की दो उप-श्रेणियो में) बहुत प्रचलित होता जा रहा है। इसी के साथ-साथ एक ही गाँव की दो श्रेणियों मे भी शादी-विवाह करना अब पसन्द किया जाने लगा है। इससे वधू-मूल्य की किश्त वसूल करने में कन्या के पिता को सहूलियत होती है। इस प्रचलन के कारण 'सेवा-विवाह' करने मे भी सहूलियत होती है। अपने घर मे रहकर भी कोई युवक अपनी पत्नी के पिता के घर मे काम कर सकता है। ल्होटा मे भाई के मरने के बाद उसकी विधवा से छोटा भाई विवाह कर सकता है, परन्तु यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। वह अपने पिता की विधवा से भी शादी कर सकता है, परन्तु विधवा उसकी अपनी माँ नही होनी चाहिए। जे० पी० मिल्टन का कथन है कि यद्यपि ऐसी प्रथाएँ प्रचलित है और इस तरह की कितनी ही शादियाँ भी होती हैं, परन्तु यह ल्होटा-समाज मे अच्छा नही समझा जाता।

ल्होटा-समाज मे पारिवारिक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुरुष ही होता है। पिता के मरने पर सम्पत्ति भाइयों के बीच बाँट दी जाती है। बँटवारे का ढंग बहुत ही न्यायसगत प्रतीत होता है। बड़े भाइयों को, जिनकी शादी इत्यादि हो चुकी होती है, कम सम्पत्ति मिलती है और छोटे भाइयो को अधिक। पिता के द्वारा लिये गये ऋण के देनदार भी पुत्र ही होते है और यदि ऋण सम्पत्ति से अधिक हो तो वह भी उसी अनुपात से भाइयो मे बाँट दिया जाता है। गोद लेने की प्रथा ल्होटा मे अधिक प्रचलित नही है। नागा की अन्य जनजातियो में चैम, सेमा इत्यादि मे गोद लेने की प्रथा प्रचलित है परन्तु ल्होटा में उतनी नहीं। लड़की को गोद लेने की बात तो ल्होटा जानते ही नही है। हाँ, कभी-कभी लड़के को गोद लिया जाता है।

ल्होटा-समाज मे स्त्रियों का स्थान साधारणतया बराबरी का होता है। फिर भी, ल्होटा औरतों को अधिक इज्जत की नजर से नहीं देखते हैं। स्त्रियो का काम पति के लिए खाना बनाना, बच्चो की देखरेख करना, परिवार के सदस्यो के लिए कपड़ा तैयार करना

तथा पानी और जलावन तक इकट्ठा करना होता है। इन कामों को पूरा करने में पति सदा कदा उनकी सहायता करता है। लड़कियों की शादी छोटी उम्र में ही हो जाती है। उनसे शादी के मामले में सम्मति नहीं ली जाती। इसी कारण बड़ी होने पर वे अपने पति को तलाक देने मे नहीं हिचकती। वधू-मूल्य लौटाने के कारण पत्नी तो अक्सर पति को छोड़ देती है, परन्तु पुरुष ल्होटा अलाभ मे रहने के कारण इस अवसर पर अपनी पत्नी का बहुत अनुनय-विनय करता है और तलाक न देने के लिए राजी करने की कोशिश करता है। अग्रो नागाओ मे यह बात नही है। वहाँ वधू-मूल्य की प्रथा न होने के कारण पुरुष अपनी पत्नियो को तलाक देकर नयी नयी शादी किया करता है। मिल्स ने अपने एक परिचित अग्रो को नौ शादियाँ करते हुए देखा था।

साधारणतया ल्होटा के धार्मिक विश्वास को 'जीववाद' की संज्ञा दी गई है। उन्हें किसी परम इष्टदेव में विश्वास नही है। उनके देवी-देवता अधिकांशतया न भले हैं और न बुरे ही और न कुछ ऐसे प्रेत हैं जो ल्होटा को हानि ही पहुँचाते है। उनकी आस्था कुछ ऐसे देवी-देवताओ में है, जिन्हें पोटसो कहा जाता है। पोटसो की दुनिया आसमान मे है। आसमान मे भी पोटसो की कितनी ही दुनियाँ है जो तह मे एक पर एक एक सजी है। ल्होटा का विश्वास है कि जो पोटसो पृथ्वी के अधिक नजदीक है, उन्हे प्रभावित करता है। पोटसो आकृति मे मनुष्य से मिलते-जुलते हैं। उनके पास कितने ही सेवक और सेविकाएँ होती हैं। यह भी विश्वास है कि जिस तरह ल्होटा के पोटसो हैं उसी तरह सेमा और अग्रो के भी पोटसो हैं। समय-समय पर पोटसो पृथ्वी पर आते हैं और गाँव के (राटसेन) साधुओ से बात करते है। आने के पहले वे इन राटसेनो के पास अपने सेवको को भेजते हैं। यही सेवक राटसेनो को उनके आने की सूचना स्वप्न मे देते हैं। जिस दिन उनके आने का कार्यक्रम रहता है, सभी ग्रामीण अपने-अपने दरवाजे बन्द कर सबेरे ही सो जाते है। राटसेन भी अपने परिवार से अलग, एक कमरे मे होता है। पोटसो अपने सेवको के साथ आता है और राटसेन के कान मे अपने उन चिह्नो के बारे में बोलता है, जिन्हे उसने अपने घर के बाहर बनाया है और जिनसे भविष्य के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। प्रात: राटसेन उन चिह्नो को ग्रामीणों को दिखलाता है और उनके रहस्यों को समझाता है।

'सिटीगों' जंगली जानवर का स्वामी समझा जाता है। सिटींगों जंगल में निवास करता है और कभी-कभी जानवरों को बुलाते हुये सुना जाता है। देखने में वह मनुष्य के समान होता है, परन्तु उसकी अँगुलियाँ लम्बी होती हैं और उसके पूरे शरीर में बाल होते हैं। गागों जंगल का दूसरा प्रेत है जो सिटींगों से मिलता-जुलता है। प्रत्येक गाँव का

एक अलग देवता होता है, जिसे रागंसी कहते हैं। उसी की कृपा से गाँव की फसल अच्छी होती है। फसल और जानवरों के प्रेत की तरह ल्होटा नदियों के देवता में भी विश्वास करते हैं। छुपफू अथवा नदी का मालिक एक मनुष्य होता है, जो बड़ी नदी की तह मे रहता है और नरमुण्डो से चूल्हा बनाता है।

ल्होटा का विश्वास है कि उनमे दो आत्माएँ होती हैं, जिन्हें ओमोन और मोगयी की संज्ञा दी गयी है। ओमोन मनुष्य की परछाई के रूप मे दिखती है और जब बदली रहती है अथवा वर्षा होती है तब यह आत्मा मनुष्य के शरीर मे विलुप्त हो जाती है। भयंकर रोग के समय भी शरीर को छोड़कर यह आत्मा पहले ही मृत्युलोक में चली जाती है। अब नागाओ मे भी इस तरह का विश्वास प्रचलित है। उनका विश्वास है कि मृत्युलोक इस दुनिया के नीचे है। वहाँ मृतात्माएँ उसी प्रकार रहती हैं, जिस प्रकार मनुष्य इस पृथ्वी पर रहता है। वे अपने परिवार के सदस्यों के स्वप्न मे आती हैं और अपनी कुशलता के लिए हमेशा तत्पर रहती हैं। ल्होटा समाज मे अनेक धार्मिक उत्सव मनाये जाते हैं, जिनमे गेना का विशेष महत्त्व है। गेना सामूहिक भोज को कहते हैं जिसमे गाँव के सभी लोग शामिल होते हैं, परन्तु जो मनुष्य गेना करना चाहता है वह उस समाचार को तब तक नही कहता, जब तक सब प्रबन्ध ठीक न हो जाये।

ल्होटा मे अन्य नागाओ की तरह नरबलि की प्रथा थी। उनके धार्मिक विश्वास एवं सामाजिक सगठन मे नरमुण्ड के शिकार का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इनके समाज में युद्ध, मारपीट, खून-खराबी तथा शत्रुओ के शिकार की प्रथा खूब प्रचलित थी परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इस प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया और बहुत हद तक वे शातिप्रिय हो गये। ल्होटा नरमुण्ड-सग्रह के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते थे। परन्तु इसके लिए वे ऐसे खतरनाक काम नही करते थे जिनसे उनकी हत्या सभव हो। ल्होटा नर-नारी और बच्चे सिर काटने में नही हिचकते थे। हाँ, जिस बच्चे के दाँत नही होते थे, उसे वे मार तो डालते थे परन्तु उसका सिर काट कर अपने पास नही लाते थे। औरतों के सिर प्राप्त करने में विशेष इज्जत की बात समझी जाती थी। जिस दिन किसी गाँव पर चढाई करनी होती, उस रात योद्धाओ के लिए अपनी पत्नी के साथ सोना वर्जित था। प्रातःकाल वे सभी एकांगी गृह में जमा होते, नरमुण्ड की पूजा करते, और सारे गाँव में घूमकर युवा-गृह में पुनः लौट आते। वहाँ ग्राम के वृद्ध और अनुभवी लोग उन्हें खाना खिलाते, अपनी पुरानी कहानी सुनाते और खुशी-खुशी नर-शिकार के लिए उन्हें विदा करते थे।

अंगामी नागा

दक्षिण नागा पहाड़ियों में अंगामी नागा जनजाति की सबसे अधिक आबादी है। यह क्षेत्र मणिपुर के उत्तर में अवस्थित है। नागा पहाड़ी संभवतः अंगामी का मूल निवासी-

स्थान नहीं है। हटन और मिल्स के महत्त्वपूर्ण अध्ययन से पता लगा है कि वे किसी दूसरी जगह से आकर यहाँ बस गये हैं। कहाँ से, कब और कैसे आये है, इन बातों का सही-सही पता लगाना कठिन है, परन्तु उनकी सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर यह स्पष्ट है कि वे दक्षिण के देशों से यहाँ आकर बसे हैं। अंगामी नागा कई श्रेणियों मे बँटे हैं, जिनमें खोनामा, कोहीमा, बिसवेमा, टेगीमा, चकरीमा इत्यादि मुख्य हैं। खोनेमा श्रेणी के नागा ही मुख्य अंगामी समझे जाते हैं। इनकी अधिकांश आबादी छः गाँवों मे केन्द्रित है। अंगामी नागाओं की इन श्रेणियो की बोली तथा रीति-रिवाज मे थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है।

अंगामी नागा लम्बे कद के होते हैं। उनकी लम्बाई साधारणतया पौने दो मीटर होती है। पूर्वी श्रेणी के अंगामी खोनोमा श्रेणी के अंगामी से कम लम्बे होते हैं। उनके शरीर पुष्ट, भारी और सुन्दर होते हैं। शारीरिक बनावट एवं आकृति के दृष्टिकोण से एक स्थान का अंगामी दूसरे स्थान के अंगामी से भिन्न होता है। केशो का रंग बचपन में लालिमा लिये होता है, परन्तु प्रौढ़ होने पर काला हो जाता है। उनके केश अधिकतर सीधे होते हैं और कभी-कभी लहरदार भी, परन्तु संकुचित केश का एकदम अभाव रहता है। उनके शरीर का रंग, विशेषतया उच्चतम गाँवो मे, गौरवर्ण ही है। हटन का मत है कि अंगामी का कपाल-आयतन (Cranial capacity) यूरोपियन व्यक्ति के बराबर है और वे तीक्ष्ण बुद्धि के होते है। वे आगन्तुकों का भरपूर स्वागत करते हैं। प्रहसन तो उनके व्यक्तित्व का एक अंग ही बन गया है और वे कठिन परिस्थितियों में भी हँसते रहते हैं।

अंगामी गाँव पहाड़ों की चोटियो पर स्थित रहते हैं। मकानों की सजावट किसी सड़क या गली के किनारे नही होती। सेमा की तरह उनके मकान भी गाँवो में इधर-उधर बने रहते हैं। ल्होटा की तरह इन्हें ग्राम-नियोजक का कोई ज्ञान नही होता। साधारणतया उनके मकान का रुख पूरब की ओर होता है और इसलिए ये पश्चिम को किसाटा कहते हैं, जिसका अर्थ 'मकान के पीछे' होता है। प्रत्येक मकान के सामने थोड़ी खुली जमीन होती है। एक मकान को दूसरे मकान से टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डी मिलाती है। उनके मकान लकड़ी और बाँस के बने होते हैं और सामने काफी सुन्दर आँगन में नक्काशी की रहती है। गाँवों में यहाँ-वहाँ बैठने के लिए छोटे-बड़े चबूतरे बने होते हैं। ये चबूतरे पत्थर के बने होते हैं और इनकी ऊँचाई सवा मीटर से लेकर साढ़े छः मीटर तक होती है। इनके आधार की लम्बाई कहीं तिरछी और कहीं गोलाकार होती है। इनके गाँव की दूसरी उल्लेखनीय वस्तु स्मारक-पाषाण है। ये स्मारक-पाषाण साधारणतया चौलाकार और आयताकार होते हैं तथा पत्थर के बनाये जाते हैं। स्मारक-पाषाण साधारणतया गाँव के किनारे स्थित होते हैं। कहीं-कहीं ये गाँवों के बीच में भी देखे जाते हैं। इन

स्मारक-पाषाणों के ऊपर, सामान्यतया पूर्वी अंगामी गाँवो मे, मृतक की काठ की लम्बी मूर्ति बनाकर स्थापित कर दी जाती है।

मोरंग या युवा-गृह का महत्त्व अंगामी गाँवों मे विशेष नही है। अन्य नागा जन-जातियों की तरह न मोरंग के लिए अलग मकान होते है और न वहाँ युवक ही एकत्र होते हैं। किसी परिवार के कमरे में सोने के लिए एक ऊँचा चबूतरा बना दिया जाता है, अथवा बरामदे मे ही एक ऊँचा मचान गाड़ दिया जाता है। किसी-किसी गाँव में तो मोरग का चिह्न तक नही पाया जाता। जहाँ मोरंग हैं भी, वहाँ उनका उपयोग उत्सव या पर्व के अवसर पर ही किया जाता है। दूसरे अवसरो पर यदा-कदा कुछ समय के लिए युवक इकट्ठा होते है। आधुनिक काल मे अगामी नागाओ के बीच मोरग का और भी ह्रास हो चुका है।

अंगामी अन्य नागाओ की तरह झूम प्रणाली द्वारा खेती करते हैं। परन्तु इनके अलावा उनके बीच सीढीदार खेती भी बहुत प्रचलित है। इस तरह की खेती के लिए ढालू जमान पर चबूतरा बनाया जाता है और बाँध बाँधकर मिट्टी के कटाव को रोका जाता है। पानी के आधिक्य के कारण इस खेती मे काफी धान उपजता है। कई प्रकार के धानो के अलावा मक्का, ज्वार, रूई तथा मिर्चा इत्यादि की भी उपज होती है। कुल्हाड़ी, खुर्पी, सीमू (गन्ती) तथा हो इनके मुख्य कृषि-सम्बन्धी औजार है। मवेशियो मे मिथन गाय, कुत्ते, सुअर उल्लेखनीय हैं। मुर्गे और मधु-मक्खी भी पाले जाते है।

अगामी कई प्रकार के गृह-उद्योग-धन्धो में भी प्रवीण होते है। औरते काफी पतला सूत कातती और कपडे बुनती है। कपड़े मे तरह-तरह की नक्काशी निकालने की कला से भी वे परिचित हैं। प्रत्येक गाँव मे लोहार का काम भी कुछ पुरुष जानते है। प्रत्येक गाँव में दो-तीन परिवारो का काम मैदान से लोहा लाकर उससे भाला तथा अन्य औजार बनाना होता है। टोकरी बनाने का उपयोग सभी गाँवो मे प्रचलित है। अनेक कामो के लिए तरह-तरह की टोकरियाँ बनायी जाती हैं। बाँस की चटाइयाँ भी बनायी जाती हैं। मिट्टी के बर्त्तनो का उद्योग कुछ ही गाँवों तक सीमित है। इनके अलावा वे वाद्य-यन्त्र, मकान, औजार, तीर-धनुष इत्यादि भी बनाना जानते है।

अगामी का प्रमुख खाद्य-पदार्थ चावल है। चावल के साथ-साथ कई प्रकार के जानवरो का मांस भी वे प्रायः खाया करते हैं। गाय, सुअर और मुर्ग के मास उनके लोकप्रिय खाद्य पदार्थ हैं। हाथी, मिथन गाय, बिल्ली इत्यादि के मांस को भी स्वादिष्ट समझते हैं। मांस खाने में औरतों, बच्चो इत्यादि को भी निषेध बरतना पड़ता है। उदाहरणार्थ, औरतें बन्दर तथा ऐसे जानवरों का मांस जिन्हें किसी जंगली पशु ने मारकर छोड़ दिया हो,

कभी नहीं खातीं। बच्चे के लिए गाय, सुअर, कुत्ते या दूसरे जानवरों की मज्जा खाने का 'गेना' अथवा निषेध है। साधारणतया दिन भर में वे दो बार खाना खाते हैं। जू नामक शराब को दिन भर पिया जा सकता है। जू शराब चावल से बनायी जाती है और कई प्रकार की होती है।

अंगामी के आभूषण और पोशाक का अध्ययन बड़ा ही दिलचस्प है। अंगामी लाल या काले रंग की किनारी लगी धोती पहनते हैं। किनारी चौड़ी और कहीं-कहीं पतली भी हो सकती है। इसके अलावा वे रंग-बिरंगी किनारी लगी धोती का भी उपयोग करते हैं। बरसात के दिनों मे पत्ते के बने टोप और उसी के बने बरसाती कोट का भी उपयोग किया जाता है।

अंगामी औरतों की पोशाक नीले रंग की साड़ी होती है। वे काली किनारीदार साड़ी भी पहनती है। मर्दों की पोशाक पहनने में उन्हें कोई आपत्ति नही। अंगामी औरतें शरीर के ऊपरी भाग मे बिना बाँह की बोडिस भी पहनती हैं। अविवाहित लड़कियों के सिर पर बाल नहीं होते और विवाहित औरतों के केश अच्छी तरह सजे रहते हैं। अंगामी पुरुष तथा औरतो दोनो के लिए उत्सव के समय अधिक रंगीन तथा आभूषित पोशाक पहनने की प्रथा है। औरतें और मर्द दोनों ही आभूषण पहनते हैं। मूँगा तथा मोती की मालाएँ दोनो ही पहनते हैं। सीप की मालाएँ भी वे पहनते हैं। कान में वे अनेक प्रकार की मालाएँ पहनते है। बाँह पर वे हाथी-दाँत की बनी बाजू पहनते हैं। पूर्वी अंगामी का यह सबसे प्रिय आभूषण है। इसके अलावा वे पैर में काले रंग के बेंत के कड़े पहनते हैं।

सामाजिक व्यवस्था—अंगामी जनजाति अन्य जनजातियों को तरह कई गोत्रों में विभक्त है। प्रत्येक गोत्र मे अनेक परिवार होते हैं। प्रत्येक गाँव में एक से अधिक गोत्र के परिवार रहते है। इन गोत्रो में तरह-तरह के मतभेद के कारण झगड़े होते रहते हैं। एक ही गाँव के कबीलों के बीच काफी प्रतिद्वन्द्विता रहती है। यह अंगामी गाँवों की एक प्रमुख विशेषता है। ये गोत्र अंगामी सामाजिक संगठन की विशेष इकाई हैं, परन्तु अंगामी के सामाजिक इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि उनके रूप बदलते रहे हैं। एक गोत्र-विशेष दो तीन छोटी-छोटी श्रेणियों में विभक्त होता जा रहा है। इन गोत्रों का नामकरण पूर्वजों के नाम पर किया गया है। एक ही गोत्र के सदस्य, आपस में शादी-विवाह नहीं करते, परंतु एक ही गोत्र की विभिन्न श्रेणियों के मध्य विवाह हो सकता है।

अंगामी परिवार पितृ-सत्तात्मक हैं। सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र होता है। साधारणतया पिता के जीवन-काल ही मे भाइयों के बीच सम्पत्ति का बँटवारा हो जाता है।

ज्योंही पुत्र शादी करने के पश्चात् पिता से अलग घर बनाकर रहने लगता है, उसे पैतृक सम्पत्ति का एक भाग मिल जाता है। साधरणतया बड़े-छोटे सभी भाइयो को बराबर-बराबर सम्पत्ति मिलती है। हाँ, सबसे बडे भाई को अधिक उपजाऊ जमीन मिल जाया करती है। पिता के मरने पर, जो सम्पत्ति उसके अधिकार मे रहती है, वह सबसे छोटे भाई को मिल जाती है। पिता के मकान का अधिकारी भी उसका छोटा पुत्र होता है। यदि कोई अगामी पुत्रहीन रह जाता है, तो उसकी सम्पत्ति उसके भाइयो के बीच बराबर-बराबर बाँट दी जाती है। पिता की सम्पत्ति पर पुत्री का कोई अधिकार नही होता। हाँ, पिता के आभूषण की अधिकारिणी पुत्रियाँ ही होती है। पिता व्यक्तिगत सम्पत्ति गाय, रुपये—पैसे इत्यादि भी अपनी पुत्री को दे सकता है।

अगामी के बीच गोद लेने की भी प्रथा है। पुत्रहीन पिता अधिकतर अपने गोत्र के बाहर के युवक को दत्तक पुत्र के रूप मे ग्रहण करता है। ज्योंही बालक या युवक इसमें प्रवेश करता है, उसे नये सम्बन्धियो से नाता जोड़ना पडता है। दत्तक पुत्र ही सम्पत्ति का अधिकारी होता है। परन्तु दूसरे गोत्र का सदस्य होने के कारण कितनी ही तरह की बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं। उसके अपने पुराने गोत्र का अधिकार जाता रहता है। गोद लेने के समय उत्सव मनाया जाता है। उत्सव उस गोत्र के पंच या पंचो द्वारा भी मनाया जाता है, जिसको छोडकर वह युवक दूसरे गोत्र मे प्रवेश करता है। परन्तु गोद लेने का उदाहरण देखने को कम मिलता है।

अंगामी समाज मे औरतो का स्थान निम्न दीखता है। औरतें कानूनी रूप से सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं होती। परन्तु घरेलू और व्यावहारिक स्थलो पर उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। प्रत्येक दृष्टिकोण से स्त्री अपने पति की सहयोगिनी है और प्रत्येक क्षेत्र मे दोनो मिलकर काम करते है। पति प्रत्येक अवसर पर पत्नी की सम्मति लेता है। दोनों के आर्थिक कामों मे सुन्दर विभाजन है। यदि पुरुष शिकार और युद्ध करता है तो औरतें बुनाई और खाना बनाने का काम करती हैं। कृषि और वाणिज्य के काम तो दोनो के द्वारा किये जाते हैं। जब परिवार मे कोई अतिथि आता है तब औरतें ही अतिथि-सत्कार का भार वहन करती है। यदि परिवार के सदस्यो के बीच झगड़ा शुरू होता है, तो उन्हीं का इनमे विशेष हाथ रहता है। ब्याह के अवसर पर महिलाएँ ही इस उत्सव को सफल बनाती हैं। वर के निर्वाचन में युवती को पूर्ण आजादी रहती है। तलाक की प्रथा प्रचलित है। कन्या-मूल्य थोड़ा-बहुत दिया जाता है। बहु-विवाह का अभाव है। विधवा पुनः विवाह कर सकती और यौन-सम्बन्ध को जारी रख सकती है। शादी के पहले भी अंगामी लड़कियों को पूरी आजादी रहती है। उस अवस्था में भी यौन-सम्बन्ध रहता है, परन्तु वे बड़ी सतर्कतापूर्वक इस सम्बन्ध का निर्वाह करती हैं।

अंगामी गाँव की शासन-पद्धति भी कम दिलचस्प नहीं है। प्रत्येक गाँव में एक मुखिया होता है जिसे 'पेहुमा' कहा जाता है। 'पेहुमा' का पद वंशगत होता है। मुखिया के मरने पर उसका सबसे बड़ा लड़का ही उस पद का उत्तराधिकारी होता है। पिता की बीमारी के समय भी शासन का काम उसी को देखना पड़ता है। अँगरेजों के समय में अंगामी गाँवों में उपायुक्त द्वारा एक दूसरे मुखिया की नियुक्ति की जाने लगी। इसके कारण प्रत्येक गाँव में दो मुखिया रहने लगे हैं। अभी भी यही परम्परा जारी है। इन दोनों मुखियों के बीच वैमनस्य और मतभेद बना रहता है और इसी कारण गाँव का नेतृत्व दो भागों में विभक्त रहता है।

अपराध की जाँच मुखिया के तत्वावधान में नियोजित पंच द्वारा होती थी किन्तु अब तो अधिकांश मुकदमें सरकारी कचहरियों में चले जाते हैं। अपराध की जाँच में परम्परागत रीति-रिवाजों को आधार माना जाता है। रीति-रिवाज के मामले में बड़े और बूढ़े की सम्मति मानी जाती है। अंगामी समाज में वृद्ध लोगों की काफी इज्जत है। अंगामी में किसी बात की सच्चाई प्रमाणित करने के लिए शपथ की प्रथा है। उनका विश्वास है कि झूठी शपथ लेने से धन-जन की क्षति होती है।

अंगामी के प्रति सामाजिक अपराध प्रमाणित होता है तो उसे परम्परागत नियमों के अनुसार कठोर दंड दिया जाता है। अंगामी नागाओं में कई प्रकार के परम्परागत दंड प्रचलित हैं। किसी 'गेना' या निषेध की अवहेलना करने के लिए दण्ड के रूप में जो आय होती है, वह ग्राम-कोष मे जाती है। कभी-कभी इसके लिए गाँव-निष्कासन का भी दण्ड दिया जाता है। बलात्कार के अपराध के लिए अपराधी औरतों द्वारा पीटा जाता है। चोरी का अपराध प्रमाणित होने पर चुराई हुई सम्पत्ति की सात गुनी अधिक वस्तुएँ वसूल की जाती हैं। हत्या के अपराधी को सात से लेकर दस वर्षों तक के लिए गाँव से निकाल दिया जाता है।

अंगामी नागा भी नियोजित रूप से एक गाँव से दूसरे गाँव पर चढ़ाई करता था। ब्रिटिश राज्य मे ऐसी चढ़ाई पर जबरदस्त रोक लगा दी गयी थी, जो अभी भी जारी है। परन्तु इसके पहले तो गाँवों के बीच की चढ़ाई बहुत प्रचलित थी और नरमुण्ड शिकार तो खूब ही होता था। इस तरह की चढ़ाइयों से गाँव की रक्षा करने के लिए अंगामी कितनी ही तरह के प्रबन्ध करते थे। गाँव के चारों तरफ खाई खुदवा देते थे। गाँव के किनारे पर पत्थर की दीवार बनाते थे और रात में कितने ही अन्य उपाय किया करते थे। अभी भी उनके अवशेष अंगामी गाँवों में देखने को मिलते हैं।

धर्म—अंगामी प्रेत-पूजक होते हैं, फिर भी उन्हें प्रेत के आकार-प्रकार का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। आम तौर पर ये अपने प्रेतों को 'टरहोमा' कहते हैं। 'टरहोमा' अच्छे भी

होते हैं और बुरे भी। परन्तु पादरियों ने इनके 'टरहोमा' को शैतान की संज्ञा दी और उन्हें हानिकारक प्रेत बतलाया है। प्रेतों में सबसे मुख्य 'केपेनापूफ' है। 'केपेनापूफ' का अर्थ 'जन्मदाता' प्रेत है और इस प्रेत का परम्परागतकार्य सृष्टिकर्त्ता का है। 'केपेनापूफ' साधारणतया स्त्री समझी जाती है परन्तु कुछ अगामी उसे पुरुष भी समझते हैं। केपेनापूफ का निवास-स्थान आकाश मे समझा जाता है। अगामी का यह भी विश्वास है कि जो मनुष्य अपने जीवन मे पवित्रतापूर्वक रहता है, वह मरने के बाद आकाशलोक में चला जाता है और केपेनापूफ के साथ निवास करता है। केपेनापूफ एक उपयोगी प्रेत है।

'रटजेह' हानिकारक प्रेत है। इसी के इच्छानुसार अकस्मात् मृत्यु होती है। यदि किसी व्यक्ति की अकस्मात् मृत्यु खून गिरने के कारण हो जाती है तो ऐसी मृत्यु के लिए 'रटजेह' को ही उत्तरदायी ठहराया जाता है। 'भवेनो' अगामी का तीसरा प्रेत है। इसी की प्रसन्नता से धन, जानवर इत्यादि मे वृद्धि होती है। यह उत्पादन-सम्बन्धी प्रेत है। इसके विपरीत 'टलेपफू' हानिकारक प्रेत है। यह औरत, मर्द, बच्चे इत्यादि को ले भागती है और छिपा देती है तथा विवेकहीन बना देती है। यदि उस मनुष्य या औरत का पता लग जाता है, तो वह पुन. होश मे लाया जा सकता है। 'टसूखो' और 'डजूराबीदो' प्रेत हैं। प्रथम पुरुष है और दूसरी स्त्री है और दोनो मे पति-पत्नी का सम्बन्ध है। ये सभी जानवरो के मालिक हैं। इनका कद नाटा होता है। इन्हे मनुष्य से दुश्मनी नही रहती। शिकार मे जानवर इन्ही की प्रसन्नता से मिलता है। 'मेटसीमा' स्वर्ग की राह की रखवाली करता है। 'टेखुरो' शेरो का मालिक है। 'अथेपी' एक अन्य प्रकार की परी है, जो मनुष्यों के घर मे रहती है और उनकी सहायक होती है। 'केचीकेरो' एक दूसरा प्रेत है, जो पत्थरो मे निवास करता है। इनके अलावा दूसरे 'टरहोमा' प्रेत हैं जिनके बारे में अगामी को स्पष्ट ज्ञान नही है। यह पूछने पर कि सूर्य क्या है, उनका उत्तर होता है कि शायद वह नही जानता है, परन्तु सम्भवत: वह 'टरहोमा' है। इस तरह से कितने ही प्रेतो या टरहोमा का अस्पष्ट वर्णन अगामी समाज मे प्रचलित है, जिनकी तालिका प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नही है।

मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति की क्या दशा होती है, इसके बारे में अंगामी अधिक माथा-पच्ची नही करता। मृत्यु उसके लिए भयावह अवश्य है परन्तु फिर भी उसके लिए वह चिन्तित अथवा भयभीत नही रहता।

प्रेतों और देवताओं की आराधना के लिए अंगामी में कुछ खास व्यक्ति निर्धारित हैं। ये अंगामी समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ऐसे व्यक्तियो मे सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान 'केमोवो' का है। प्रत्येक अंगामी गाँव में एक 'केमोवो' रहता है। 'केमोवो' उस

गाँव का मूल निवासी होता है और उसके पूर्वज गाँव के निर्माताओं में से एक होते हैं। 'केमोवो' सार्वजनिक उत्सवों का निर्देशक होता है और उनके मनाने की तिथि निश्चित करता है। वही गाँव के परम्परागत रीति-रिवाजों का लेखा-जोखा रखता है। इस पद का अधिकारी परिवार का सबसे वयस्क व्यक्ति होता है। उदाहरणार्थ, पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र ही 'केमोवो' होगा, फिर क्रमशः उसका दूसरा भाई, तीसरा भाई इत्यादि।

पूजा को अंगामी लोग 'गेना' कहते हैं। 'गेना' अंगामी बोली के 'केना' शब्द का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ निषेध है। अतएव 'टैबू' या निषेध के लिए भी 'गेना' शब्द का उपयोग होता है, जो जाति की किसी श्रेणी पर लागू होता है, परन्तु 'केना' उन निषेधों को कहते हैं, जो पूरी जाति पर लागू होता है। 'केना' और 'गेना' के अलावा 'नानु' भी एक शब्द है जो दोनो का बोधक है।

अंगामी कितनी ही तरह के 'गेना' या धार्मिक उत्सव मनाते हैं। इस अवसर पर भव्य नृत्य और संगीत का आयोजन होता है। युवक अपनी पूरी पोशाक में, कतार में खड़े होकर भाव-भंगिमा के साथ नृत्य करते हैं। इन पर्वों के नृत्य मे बूढ़े प्रायः हाथ नही बँटाते। नृत्य के साथ-साथ वे गीत भी गाते है। विशेष अवसर के लिए अलग-अलग गीत होते हैं और ऐसे भी परम्परागत गीत है जो सभी अवसरों पर गाये जाते है। अंगामी बहुत तरह के सार्वजनिक और आर्थिक उत्सव मनाते है। सेकरेजगी (फरवरी या मार्च) में, करामी काचू की पूर्णिमा (जून) में, सूगी रेचे की पूर्णिमा (सितम्बर) मे और थेजू, केपु रेये (सितम्बर) मे मनाये जाते हैं। इनके अलावा लीकवेगी, थेलूकूकली, टीथो, लीडेल, टेकेडेहे, टेकहेगी इत्यादि दूसरे पर्व भी है जिन्हें अंगामी मानते हैं। सेकरगी गेना बीमारी को रोकने के लिए प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भ में मनाया जाता है। केजूकेपी शायद अंगामियों के सभी पर्वो मे ऊँचे स्थान रखते हैं और बड़े दिलचस्प तरीके से मनाये जाते हैं। ये धान के खेत की चूहो से रक्षा करने के लिए मनाये जाते है। 'थेकरगी' उस अवसर पर मनाया जाता है जब धान की मोरी सिचेहा खेत मे लगायी जाती है।

अंगामी के ये सार्वजनिक पर्व कृषि के विभिन्न पहलुओ से सम्बन्धित हैं। कोई बीज रोपने के समय और कोई फसल काटने अथवा तैयार होने के समय मनाये जाते हैं। इन पर्वों के मनाने मे नृत्य-गान का आधिक्य रहता है। चावल, मुर्गा, जू इत्यादि का भी उपयोग होता है। इस अवसर पर उनके परम्परागत श्रेतों की भी पूजा की जाती है। सचमुच, उनके धार्मिक उत्सव तथा पर्व उनकी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति के परिचायक हैं।

अंगामी नागा अन्य नागाओ की तरह दिन-दिन परिवर्तित होते जा रहे हैं। उनकी पुरानी सांस्कृतिक परम्परा उनके धार्मिक विश्वास तथा रीति-रिवाज इत्यादि में सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण आशातीत परिवर्तन हो रहे है। जिस सास्कृतिक विशेषता का वर्णन बटलर ने किया है, उसमे कितने ही उलट-फेर हटन (१६२१) को मिले और फिर हटन के बाद तो सास्कृतिक परिवर्त्तन की गति और भी तेज होती जा रही है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि अगामी तथा अन्य नागाओ के बदलते रूप का सविस्तार अध्ययन किया जाय।

अध्याय ४

मध्य भारत की जनजातियाँ

बिहार की जनजातियाँ

बिहार की जनजातियाँ राज्य के दक्षिणी भाग मे रहती हैं जो मुख्यत: पहाड़ी और जंगली पठार है। राज्य का उत्तरी अर्द्धभाग चिकनी मिट्टी की समतल भूमि है तथा यहाँ की आबादी बहुत घनी है। यहाँ मुख्यतया ग्रामीण लोग रहते हैं तथा वैदिक काल से ही यह भारतीय सभ्यता का केन्द्र रहा है। बिहार के जनजातीय क्षेत्र मे, जो भूगर्भशास्त्र के दृष्टिकोण से छोटा नागपुर तथा राजमहल पठार का एक अविच्छिन्न सिलसिला है, राँची, हजारीबाग, गिरिडीह, पलामू, धनबाद, सिंहभूमि तथा संथाल परगना के प्रशासकीय जिले सम्मिलित हैं। १९७१ की जनगणना के अनुसार लगभग पचास लाख आदिवासी इन जिलो मे रहते है और इनकी सख्या राँची में ६१.६ प्रतिशत, संथाल परगना मे ३८.२ प्रतिशत तथा सिंहभूमि में ४७.१ प्रतिशत है। इससे स्पष्ट है कि इनकी जनसंख्या काफी घनी है। राज्य मे तीस अनुसूचित जनजातियाँ हैं। इनमे संथाल (१५,४१,३४५), उराँव (७,३५,०२५), मुंडा (६,२८,९२१), हो (४,५४,७४६), भूमिज (१,०१,०६१), खड़िया (१,०९,३५७), सौरिया पहाड़िया (५५,६०६), बिरहोर (२,४३८) तथा असुर (५,८१९) आदि कुछ प्रमुख जनजातियाँ हैं।

प्रजाति, भाषा तथा इतिहास

मानवविज्ञान की दृष्टि से इस क्षेत्र मे बहुत ही कम अध्ययन हुआ है परन्तु वर्त्तमान जानकारी के आधार पर इन जातियों के प्रजातीय तत्त्वों के बारे में साधारण रूप से कुछ न कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। गुहा ने १९४७ मे इन जनजातियो को प्रोटो-आस्ट्रोलायड की संज्ञा दी है। इन सभी जनजातियों में भाषा के विचार से विभिन्नता पायी जाती है। ग्रियर्सन (१९०६) ने इस प्रदेश की भाषाओं को दो भागों—आस्ट्रिक (जिसे स्थानीय रूप से मुंडा कहते हैं) तथा द्राविडियन—में विभक्त किया है। अधिकतर जनजातीय भाषाएँ मुंडा समूह से मिलती-जुलती हैं। सिर्फ उराँव लोगों की 'कुरुख' तथा सौरिया पहाड़ियों की 'मालेटो' भाषा ही द्राविडियन समूह से सम्बन्ध रखती हैं।

इन लोगों की भाषा-सम्बन्धी समानता तथा परम्परागत लोकगीतो के आधार पर राय (१६१५) ने आर्यों के आगमन के पश्चात् छोटा नागपुर मे आने वाली सभी मुंडा जनजातियो का उत्तरी भाग से ऐतिहासिक सम्बन्ध जोडा है। दूसरी ओर राय यह भी बतलाते है कि द्राविडियन भाषा बोलने वाले कबीले, जैसे उरॉव तथा सौरिया पहाड़िया, सर्वप्रथम दक्षिण से, कदाचित् नर्मदा क्षेत्र से, आकर पहले रोहतास मे और तत्पश्चात् छोटा नागपुर तथा सथाल परगना मे बस गये।

सांस्कृतिक प्रकार

इन जनजातियो मे समकालीन (सिक्रोनिक) अन्वेषणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लगभग विगत एक हजार वर्षों मे इन लोगो ने आर्थिक विशिष्टता प्राप्त कर ली है। इन विभिन्नताओं के कारण उनके भाषीय और ऐतिहासिक सम्बन्ध का महत्त्व जीवन मे तुलनात्मक दृष्टि से तुच्छ है। उदाहरणार्थ, हम देख सकते हैं कि ऐतिहासिक तथा भाषीय सम्बन्ध के दृष्टिकोण मे बिरहोर मुडा से सम्बन्धित है, परन्तु अपनी अनुकूलात्मक विशिष्टताओ (इकोलोजी स्पेशलाइजेशन) के कारण वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। मुडा गाँवो मे रहते है, हल द्वारा खेती करते है तथा उनकी एक विस्तृत क्रियाविधि (रिचुअल सिस्टम) की पद्धति है, जबकि इसके विपरीत बिरहोर छोटे-छोटे समूहो मे होकर शिकार की तलाश मे तथा अन्य जगली पदार्थो की खोज मे एक जंगल से दूसरे जगल मे घूमते रहते है। उसी प्रकार सौरिया पहाडिया भी यद्यपि ऐतिहासिक रूप से उरॉव (समतल भूमि पर रहने वाली मुडा के समान एक जाति) से सम्बन्धित हैं, फिर भी खाडिया (मुडा समूह के समतल पर रहने वाली खाडिया जनजाति की एक पहाडी शाखा) मे आर्थिक अनुकूलता तथा सामाजिक, सास्कृतिक समीकरण की दृष्टि से ज्यादा समानता रखते है। दोनो जगल की खेती करते है और छोटे-छोटे गाँवो मे रहते है। बहुत ही अल्प यान्त्रिक उपकरण तथा घरेलू सामग्री उनके पास होती है। उनकी सामाजिक और सास्कृतिक पूर्णता का स्तर नीचा है। इन दोनो जनजातियो और दूसरी जनजातियो के बीच विपरीत सास्कृतिक व्यवस्थाओं का समानान्तर आंशिक रूप से, कम-से-कम सास्कृतिक परिस्थिति (कल्चरल इकोलोजी) के द्वारा, समझा जा सकता है। इन मान्यताओ के साथ हम बिहार की जनजातियो को इन चार सास्कृतिक प्रकारों में बाँट सकते हैं :

(१) जगल शिकारी प्रकार
(२) समतल कृषि प्रकार
(३) साधारण कारीगर प्रकार
(४) पहाड़ कृषि प्रकार

इन प्रकारों के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे साधारण रूप से प्रत्येक के अनुकूल वातावरण तथा आर्थिक पेशे की ओर संकेत करते हैं। प्रत्येक प्रकार के साथ एक विशेष प्रकार की आबादी तथा सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्णता (सोशीओ-कलचरल इण्टीग्रेशन) सम्बद्ध है, जिसका वर्णन आगे किया गया है। यहाँ पर पाठकों को ध्यान रखना चाहिए कि इस वर्णन में संस्कृति की व्याख्या, विशेषकर साधारण समुदायों के अध्ययन मे, अनुकूल वातावरण (इकोलोजिकल इन्वायरनमेंट) मे व्यवस्थित होने की क्रिया को समझने के महत्त्व पर विशेष जोर देने के लिए की गयी है। किसी प्रकार भी निम्न-लिखित विवरण को वातावरण तथा निर्धारित आर्थिक ढाँचे के अन्तर्गत नही समझना चाहिये। इस लेख में वातावरण और निर्धारित आर्थिक सिद्धान्तो का किसी प्रकार प्रति-पादन नही किया गया है। इस संक्षिप्त स्पष्टीकरण के पश्चात् जंगल शिकारी, समतल कृषि तथा साधारण कारीगर तीनो प्रकारों का एक प्रारूप प्रस्तुत किया जाता है और उसके बाद पहाड कृषि प्रकार की सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

(१) जगली शिकार प्रकार

बिरहोर तथा कोरवा लोग इसी प्रकार में आते है जो विशेष रूप से शिकार और खाद्य-सग्रह की स्थिति में हैं तथा प्रायः पारिवारिक स्तर की पूर्णता प्रदर्शित करते हैं। प्रत्येक पितृवशीय परिवार एक जंगल से दूसरे जंगल शिकार तथा रस्सी के लिए कच्ची सामग्री की खोज में घूमते है। उनके शिकारों में मुख्यतः बन्दर, चूहा, रूखी, जगली बकरे है तथा शिकार के उनके मुख्य उपकरणों में जाल, लाठी और कुल्हाड़ी प्रमुख हैं। चूँकि बन्दर तथा चूहो के शिकार मे एक प्राथमिक परिवार से भी अधिक सहकारी लोगो की जरूरत पड़ती है इसलिए बिरहोर के घूमने वाले समूह अपने अन्य भाइयो को भी शामिल कर लेते है। यदि यह पितृवशीय परिवार भी छोटा पड जाता है तो वे मित्रो तथा सम्बन्धी परिवारो को अल्पकालिक तौर पर 'टडाओं' मे शामिल कर लेते है। इस प्रकार दो या तीन परिवार एक साथ सामूहिक शिकार मे सम्मिलित हो जाते है। वे लोग शिकार के अगुआ का भी नाम रख सकते है तथा साधारणतया एक इकाई के रूप मे शिकार करते है। परन्तु कुछ खास-खास कामो, जैसे रस्सी बनाने के लिए 'चोप' का संग्रह, प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से करता है। बिरहोर औरतें भी महुआ के फल-फूल तथा सब्जियाँ, जो जगलों के बाहरी हिस्सो में मिलती हैं, जमा करते समय चुपचाप और एकान्त मे रहना ही अधिकतर पसन्द करती हैं।

दो या तीन छोटे-छोटे मित्र परिवार जब एक 'टडा' या पड़ाव में ठहरते हैं तो इसका मतलब यह नहीं होता कि वे साथ ही साथ एक से दूसरी जगह जायें अथवा गिरोह के नाम से पुकारे जायें। ये परिवार अपने पड़ाव बहुधा आर्थिक स्थिति, सम्बन्ध या दूसरे कारणों से बदलते रहते हैं। जीवन का संघर्ष इनके लिए इतना कठिन होता है कि पिता बहुत ही

कम अपने पुत्रों को, जिन्होंने अपने पिता के समूह को छोड़ दिया है, अपनी मृत्यु होने तक देख पाता है, यद्यपि अपने पिता की मृत्यु तक साथ रहना उनका कर्तव्य माना जाता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् एक समूह साधारणतया सबसे बडे लड़के के नेतृत्व में एक साथ रहता है, परन्तु अनेक कारणो से इस नियम का भी वे भली-भाँति पालन नही कर पाते।

किसी एक स्थान मे एक परिवार या एक समूह का रहना इस बात पर निर्भर करता है कि साप्ताहिक हाटो मे बेचने के लिए कब तक उसे शिकार तथा रस्सी बनाने के समान जंगल से मिलते रहते हैं। साधारणतया एक स्थान पर इनका पड़ाव पाँच महीने से लेकर चार वर्ष तक का होता है। कभी-कभी वे उस स्थान को किसी धार्मिक कारण से भी छोड़ सकते हैं, जब कि एक अपेक्षाकृत स्थायी पडाव मे प्रत्येक विवाहित जोडा छोटी शकु के आकार की झोपडी मे रहता है। ऐसी झोपड़ियाँ जगली पेड़ो की पत्तियो तथा डालों से बनायी जाती है।

प्रत्येक पितृवंशीय परिवार का अपना एक धार्मिक पवित्र स्थान होता है जहाँ एक छोटा-सा मिट्टी का डला शाल के पेड की एक टहनी पर लटका रहता है। यह हमेशा परिवार के सबसे बडे सदस्य की झोपड़ी के पीछे रखा जाता है। इसे 'बोगा कुआँ' कहा जाता है। जब वे एक जगह से दूसरी जगह जाने लगते हैं तो सबसे बड़ा सदस्य बडी गम्भीरता तथा पवित्रता की भावना के साथ इसको लेकर आगे-आगे चलता है। इस बोगा कुआँ के अलावा, बिरहोर परिवार बहुत से जंगली भूत-पेतो, जगली जानवरों जैसे बाघ, भालू तथा हनुमान की भी पूजा करते है। उनके सभी धार्मिक विधि-संस्कार पारिवारिक स्तर पर किये जाते है। निम्नलिखित सूची से, जो बिरहोर के चार स्थायी पड़ावो के अध्ययन के आधार पर बनायी गयी है, हमे उनकी सामाजिक-सास्कृतिक पूर्णता के स्तर के बारे में और भी बातो का पता चलता है.

क्र.सं.	स्थायी गाँव के नाम	परिवार की सख्या	भ्रमण करने वाले समूहो की सख्या	मनुष्यो की कुल संख्या	झोपडियो की सख्या	विशनपुर थाना (जिला राँची) से उसकी दूरी
१.	मजीरा	३	२	२७	६	५ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व
२.	सरका	२	१	१०	५	३ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व
३.	घटकपुर	७	३	२८	१०	१६ किलोमीटर उत्तर-पूर्व
४.	नरमा	३	३	१०	५	१३ किलोमीटर उत्तर-पश्चिम

(२) समतल कृषि प्रकार

दूसरे प्रकार में संथाल, मुण्डा, उरांव, हो तथा अन्य जनजातियाँ आती हैं जो साधारणतया इस पठार के लहरदार प्रदेशों में रहती हैं तथा मुख्यतया हल की खेती करती हैं। शिकार तथा मछली मारना प्राचीन काल में उनके लिए बहुत ही महत्त्व रखता था परन्तु अब उसका सिर्फ आनुष्ठानिक या औपचारिक महत्त्व ही रह गया है। ये लोग स्थायी गाँवो मे बसते है जहाँ ५० से लेकर १०० परिवार तक रहते हैं। गाँव की जनसंख्या १०० से लेकर ५०० तक होती है। सभी जनजातियाँ पितृवंशीय तथा पितृस्थानीय हैं, तथा कुल गाँवों के बाहर शादी-विवाह करते हैं। प्रत्येक गाँव दो मुखियो के अधीन रहता है—एक लौकिक, दूसरा धार्मिक। इनका पद बिलकुल आनुवंशिक होता है। परम्परागत रूप से, प्रत्येक जनजाति में एक क्षेत्रीय राजनीतिक अधिकारी भी होता है जो एक गाँव के बीच अथवा एक-दूसरे गोत्र के लोगों के बीच होने वाले झगड़ों का निपटारा कराता है।

धार्मिक तथा सामाजिक कार्य गाँव के स्तर पर सम्पादित किये जाते हैं। प्रत्येक गाँव में नृत्य के लिए तथा आपस मे मिलने के लिए एक स्थान होता है। प्रत्येक गाँव के लिए एक धार्मिक पवित्र स्थान, कब्रगाह तथा शयनागार (यह संथाल लोगो में लागू नही होता) होता है। गाँव एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक इकाई है तथा स्टीवार्ड के शब्दो मे 'सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्णता लोक-स्तर पर है।'

(३) साधारण कारीगर प्रकार

तीसरे प्रकार मे बहुत से कारीगर हैं, जैसे—करमाली (२६,५०९), लोहरा (९२,६०९), महली (६७,९७९) तथा चीक बड़ाइक (३०,७७०)। ये खेती करनेवाली जनजातियो के गाँवो में बिखरे पाये जाते हैं तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। करमाली तथा लोहरा परम्परागत रूप से लोहार का काम करते हैं तथा गाँव वालो को कृषि और अन्य औजार देते है एवं पुराने यन्त्रों की मरम्मत भी करते हैं। महली व्यावसायिक ढंग से डलिया बनाने का काम करते है तथा ढोल बजाते हैं, जबकि चीक बड़ाइक जनजातियों के परम्परागत जुलाहे होते है। इनके दो से छः तक जनजाति परिवार एक कृषि जनजाति के गाँव में रहते हैं तथा सभी व्यावहारिक कार्यों में ये उनके अभिन्न भाग समझे जाते हैं। अपनी जीविका के लिए ये गाँव की हाटों पर निर्भर करते हैं जो परम्परागत वस्तु-विनिमय के सिद्धांत पर संगठित किया जाता है। वे अपनी आजीविका और भी अन्य फुटकर कामों से चलाते हैं परन्तु बाजारो के प्रभाव तथा मुद्रा-प्रचलन (मनी इकोनोमी) के कारण उन लोगो के पेशे पर इसका बहुत बुरा असर पड़ा है। वे या तो अब चाय के बागानों में या शहरों में जाकर नौकरी खोजते हैं या गाँवों में ही खेती के कामों की तलाश करते हैं।

(४) पहाड़ कृषि प्रकार

इस प्रकार में तीन जनजातियाँ आती हैं---सौरिया पहाड़िया, पहाड़ी खाड़िया तथा असुर। ये तीन जनजातियाँ तीन विभिन्न क्षेत्रों मे पहाडों पर निवास करती हैं। उनके विकसित होने की अपनी अलग ही पृष्ठभूमि है जिसका उल्लेख किया जा चुका है। फिर भी, सांस्कृतिक अनुकूलता (कल्चरल इकोलोजी) की दृष्टि से ये लोग समान हैं तथा एक ही वर्ग में रखे जा सकते है।

पहाडी खड़िया---पहाड़ी खड़िया सिंहभूमि जिले की पहाड़ियो में रहते है। ये लोग समतल स्थान पर रहने वाली खडिया की, जो हल की खेती करते हैं तथा सगठित गाँवों में रहते हैं, एक विशिष्ट शाखा माने जाते है जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है। वे पाँच से लेकर बारह परिवारों तक के समूह मे रहते हैं। ये सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्णता के पारिवारिक स्तर पर रहते है।

असुर---असुरो की सामाजिक-सास्कृतिक पूर्णता भी पहाडी खडिया तथा सौरिया पहाडिया के ही स्तर पर है। वे एक ही प्रकार के आर्थिक कार्यकलापो मे भाग लेते हैं---परम्परागत रूप से वे लोहा गलाने का काम करते हैं। वस्तुत छोटा नागपुर की जनजातियों को लोहा देने मे उनका एकाधिकार (मोनोपोली) था। कच्चा लोहा तो वे जिन पहाड़ियो मे रहते थे, वहीं मे मिल जाता था। कोयला भी आसपास के जगलो की लकड़ियो से मिल जाता था तथा इस प्रकार उन्होंने लोहा गलाने की साधारण प्रविधि (टेकनीक) का विकास किया। परन्तु गत साठ वर्षों में बहुत से सामाजिक, आर्थिक तथा प्रशासकीय कारणों से इन लोगो ने अपने इस प्राचीन पेशे को छोड दिया है। इन लोगो के बीच लोहा गलाने की इस प्रविधि का ह्रास होता जा रहा है तथा इसी कारण उनकी आर्थिक स्थिति में बहुत-सी कठिनाइयो के आ जाने से उनमें तथा उनके वातावरण में एक प्रकार की अव्यवस्था आ गयी है। उनके सामने शिकार, खाद्य-सचय तथा मछली मारने के अलावा कोई दूसरा चारा नही रह गया है, फलस्वरूप उन्होंने खेती को अपना लिया है।

असुर छोटे-छोटे गाँवो मे रहते है। वे अब अपने रीति-रिवाज तथा पर्व-त्योहारों को उतने बड़े पैमाने पर नही मनाते। वे मुश्किल से अपना पेट भर पाते हैं तथा उनकी जन-संख्या पर प्रभाव पड़ रहा है। गाँव का तथा पारिवारिक सगठन भी ढीला पड़ गया है। उदाहरण के लिए, किसी औरत को पत्नी के रूप में, कुछ दिनों के लिए रख लेना एक व्यावहारिक बात-सी हो गयी है क्योंकि उनके पास इतने पैसे नहीं रहते कि वे आवश्यक वैवाहिक खर्च जुटा सके। परन्तु वैवाहिक भोज को कुछ महीनों तक टालने का फल बहुधा यह होता है कि वह हमेशा के लिए टल जाता है तथा गाँव वालों की दृष्टि में वह

मनुष्य मवीरा ही रह जाता है । जो भी हो, इससे वह एक साधारण पारिवारिक जीवन-यापन करने के लायक हो जाता है ।

सौरिया पहाड़िया (मालेर)—सौरिया पहाड़िया राजमहल के पहाड़ों की चोटियों पर, संथाल परगना जिले के अन्तर्गत राजमहल, पाकुर तथा गोड्डा अनुमण्डलों में, निवास करते हैं । उनके अधिकतर गाँव समुद्र की सतह से ४५० मीटर से लेकर ६०० मीटर की ऊँचाई पर बसे हुए हैं, परन्तु पड़ोस के समतल क्षेत्रों से अन्य गाँवों की ऊँचाई ६० से लेकर २०० मीटर तक है । बरहाट (बंगाल) मे बहुत से सौरिया गाँव पहाड़ी की तलहटी में बसे हुए हैं । सामान्य रूप से पहाड़ियों के बीच समतल भूमि की तरह जो नीचे वाले हिस्से हैं, उनमें संथाल रहते हैं जो एक खेती करने वाली जनजाति है तथा जिसके साथ सौरिया लोगो का अन्तर दिखाया जा सकता है ।

सौरिया प्रदेश की जलवायु विशेष रूप से समशीतोष्ण है । ग्रीष्म काल में तापक्रम ४७° सें० से लेकर शीतकाल मे ४३° सें० तक रहता है । वर्षा पूर्व से पश्चिम की ओर घटती जाती है तथा १४० से ११० सेण्टीमीटर के बीच होती है । आर्द्र समशीतोष्ण जलवायु के कारण पहाड़ी भागो पर, जिनमे लावा मिट्टी की अधिक प्रचुरता है, पेड़-पौधे तथा वनस्पति बहुतायत से होते हैं । इन जंगलों मे बाघ, भालू आदि बहुत से जंगली जानवर रहते है जो सौरिया लोगों के पालतू जानवरो पर आक्रमण करते रहते हैं । इन जंगलो मे शिकार ज्यादा नही मिलता । इस इलाके में पानी की सतह स्वभावतया अधिक नीची है तथा ग्रीष्मकाल मे पहाड़ी सोते तथा झरने सूख जाते हैं और सौरिया को, जो बिलकुल इन्ही के पानी के ऊपर निर्भर करते हैं, अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है ।

सौरिया पहाड़िया के गाँव लहरदार पहाड़ो की चोटियों पर बसे हैं तथा जंगलों से भरे पहाड़ी ढाल पर लोग जंगल खेती करते हैं जिसपर उनकी पूरी आर्थिक स्थिति निर्भर करती है । छः सौरिया गाँवो का अध्ययन करने के पश्चात्, जो तीन क्षेत्रों में से चुने गये थे, खेती की दो अन्य प्रकार की विधियाँ, जिन्हें मिट्ठा (बागवानी) तथा धानी (धान का खेत) कहते हैं, ज्ञात हुईं । मिट्ठा खेती तथा धानी खेती में अधिक मजदूरी तथा प्रविधि (तकनीक) की आवश्यकता होती है । साधारणतया सौरिया इस तरह की खेती के तरीकों की चिन्ता नही करते । आज इस प्रकार की खेती की पद्धति को विकसित करने के लिए उनके पास जमीन भी नहीं है । मुख्यतया उनके पास जो जमीन है उसे वे जंगल खेती के लिए ही, जिसे स्थानीय भाषा में 'कुरुवा' या 'खालू' कहते हैं, उपयुक्त समझते हैं । प्रत्येक परिवार का ५ से १० बीघा तक खेत होता है जिसमें ये कुरुवा खेती करते हैं । यह 'कुरुवा' खेती एकाध वर्ष के लिए दूसरे परिवार के साथ साझेदारी के रूप में पट्टे पर भी दी जा सकती है ।

'कुरूवा' खेती की विधि पूरे सौरिया प्रदेश में एक ही-सी है। फरवरी अथवा मार्च के महीने मे जंगल का एक विशेष टुकड़ा चुन लिया जाता है तथा उसमे कुछ विधि-संस्कार और बलिदान करने के पश्चात् जंगल काट दिया जाता है और पेड़-पौधे सूखने के लिए छोड़ दिये जाते हैं। मई और जून मे मानसून की पहली वर्षा होने के पहले सूखे पेड़-पौधे जला कर राख कर दिये जाते है और जो कुछ बच जाता है उसे खेत से हटा दिया जाता है तथा जलावन के रूप मे उसका उपयोग होता है। पहली बारिश के साथ खेत मे बहुत बड़ी-बड़ी घास उग आती है। इस घास को उखाड़ कर खेत मे ही छोड़ दिया जाता है जो खेत की पैदावार के लिए लाभदायक सिद्ध होती है। इस प्रकार खेत की पथरीली जमीन पर जब एक मोटी परत जम जाती है तो सौरिया पति और पत्नी अपने युवा बच्चो के साथ नुकीली छड़ियो से खेत में सुराख बनाकर उसमे बीज बो देते हैं। बोने का समय दो महीने तक अर्थात् जुलाई और अगस्त तक रहता है। तीन महीनो के बाद जब उन खेतों में अंकुर निकल आते हैं तो सौरिया अपने खेत मे एक चबूतरा तथा झोपड़ी भी बनाता है तथा जंगली जानवरो, विशेषकर भालू से, खेत की सुरक्षा के लिए दिन और रात वही पर पहरा देता है। इस काल मे अधिकतर गाँव के लोग, गाँव के बाहर कुरूवा खेतो मे ही रहने के लिए चले जाते हैं क्योंकि वे पाँच-सात किलोमीटर से भी अधिक दूरी पर अवस्थित होते है।

जब दिसम्बर मे खेत पक कर तैयार हो जाता है तो वह फिर अपने खेत मे, इस बार खेत के भूतो को, बलि देता है और पूजा करता है, फिर फसल को काटना शुरू कर देता है। जब वह अनाज को अपने गाँव की झोपडी में लाता है तो वह फिर एक बार विविध संस्कार सम्पन्न करता है, विशेषकर चूल्हे और झोपड़ी के नाम पर बलि-पूजा करता है। इन सभी बलि-सस्कारों के कामो मे वह स्वय पुजारी का काम करता है तथा प्राथमिक परिवार (न्यूक्लियर फैमिली) के लोगो में ही यह सीमित होता है। इससे पता चलता है कि सौरिया जैसे समाज मे भी, जहाँ लोग जगम खेती करते हैं, स्थायी प्रवास होता है।

सामान्य रूप से एक खेत के टुकड़े को दो बार जोता जाता है तथा उसके बाद उसे यूँ ही बंजर के रूप मे कम-से-कम पाँच वर्ष तक छोड़ दिया जाता है। कम उपजाऊ जमीन में सिर्फ एक ही बार खेती की जाती है और उसे काफी लंबे अर्से तक छोड़ दिया जाता है। बिहार के बाहर दूसरे राज्यों में भी, जैसे असम (झूम की खेती), मध्य प्रदेश (पोडु की खेती), उड़ीसा (दाही की खेती) के पहाड़ों पर बसने वाली जनजातियाँ भी लगभग यही जंगम खेती करती हैं, यद्यपि वे इसे विभिन्न स्थानीय नामों से पुकारती हैं। कुरूवा खेती के अलावा, ग्रीष्मकाल मे वर्षा होने से पहले कुछ महीनों तक सौरिया पुरुष तथा स्त्री जगलों

से लकड़ी काटकर और इकट्ठाकर पहाड़ों के नीचे लगनेवाली साप्ताहिक हाटों में उसे बेचने जाते हैं। स्त्रियाँ तथा बच्चे भी मौसमी जंगली फल तथा कन्द-मूल अपने भोजन की न्यूनता की पूर्ति के लिए इकट्ठा करते हैं। सभी प्रकार की खाद्य सामग्री, जिसमें मृतक गायों का मांस भी शामिल है, उपयोग में लायी जाती है। इसका प्रचलन क्रमशः घटता चला जा रहा है। इसी कारण वे पास-पड़ोस के रहने वाले हिन्दुओं से प्रभावित जनजातियो द्वारा हेय दृष्टि से देखे जाते हैं। परन्तु इतने मुश्किल से खाद्य की पूर्ति के पश्चात् भी वे बड़ी कठिनाई से किसी तरह अपनी जीविका का निर्वाह कर पाते हैं।

जीने के लिए उन्हें अनवरत संघर्ष करना पड़ता है। उनके वातावरण की कमी इतनी ज्यादा है तथा उनके विधि-उपकरण इतने अविकसित हैं कि उन्हें काफी परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं, दुःखमय जीवन व्यतीत करना पड़ता है, भरपेट भोजन नहीं मिलता तथा स्वास्थ्य भी बहुत खराब रहता है। जीवन में भोजन की चिन्ता तथा अनिश्चितता उनके लोक-गीतो, उनके खेलों तथा उनके स्वप्नों और एक प्रकार से उनके सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में व्यक्त होती है।

सौरिया गाँव छोटे-छोटे तथा बिखरे हुए होते हैं। उनमें दस से लेकर पचीस प्राथमिक परिवार होते हैं। एक गाँव से दूसरे गाँव तक की दूरी १० से २० किलोमीटर की होती है। प्रत्येक गाँव मे एक लौकिक मुखिया होता है, जिसे 'महतो' कहते हैं, परन्तु वर्तमान अवस्था मे उसका स्थान समाप्त-सा ही गया है। ब्रिटिश सरकार के समय 'महतो' गाँव वालो से जमीन का लगान वसूल करता था परन्तु अब यह सीधे सरकारी ऐजेन्सियों द्वारा स्वय ही वसूल किया जाता है। सौरिया लोगों के बीच कोई स्थायी धार्मिक मुखिया नहीं होता, जैसा कृषि करने वाली जनजातियों के बीच पाया जाता है। धार्मिक विधि-संस्कार, केवल कुछ को छोड़कर, सभी पारिवारिक स्तर पर होते हैं। मुखिया प्रत्येक बार अलग-अलग चुना आता है। सौरिया लोगों के बीच न गोत्र-संगठन होता है और न वे ग्राम-बहिर्विवाह की पद्धति का ही व्यवहार करते हैं। बहिर्विवाह के लिए वे दोनों पक्षों के सम्बन्धियों में तीन पुश्त तक की दूरी का विचार करते हैं।

अधिकतर सौरिया ग्रामीण अपने दादा के भाई तथा उसके बच्चों के नाम तक भी याद नहीं कर पाते। यह भी सौरिया-परिवार की सीधी-सादी प्रकृति की ओर संकेत करता है, जिसमें केवल पति-पत्नी तथा अविवाहित बच्चे तक ही पूरी घनिष्ठता होती है। यह बात स्मरणीय है कि दो भाई एक पहाड़ी पर कभी नहीं रहते। सबसे बड़ा पुत्र अपने पिता की मृत्यु के बाद उसकी जायदाद का उत्तराधिकारी होता है। वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद तथा दुबारा शादी की प्रथा इनमें बहुत पायी जाती है। लेखक की ऐसे

तीन लोगों से मुलाकात हुई है जो अपनी पत्नियो को पाँच बार छोड़ चुके थे। बहुत थोड़े यौन तथा खाद्य-निषेध (टैबू) सौरिया द्वारा पालन किये जाते हैं। वे सभी प्रकार के मांस खाते हैं। जहाँ तक यौन-सम्बन्ध का सवाल है, वे उस हद तक निषेध का पालन नही करते जिस हद तक संथाल तथा मुडा जैसी खेती करने वाली जनजातियाँ करती हैं। विवाह-पूर्व (प्री-मैरिटल), विवाहेतर (अल्ट्रा-मैरिटल) तथा निकटाभिगमन (इनसेस्ट) यौन-सम्बन्ध के उदाहरण मिलते हैं। यदि किसी व्यक्ति के चार लडके हैं जो अलग-अलग गाँवो में रहते हैं, और वह अपने सबसे बड़े लडके के घर पर मर जाता है तो उसका सबसे बड़ा लड़का तथा उसके घर के सभी रहने वाले लोग (इनमेट्स) ही साधारण रूप से मलिन होगे। परन्तु खेती करने वाली जनजातियों मे पूरे गोत्र तथा कुछ स्थितियों में पूरे गाँव के लोग मलिन अथवा दूषित हो जाते है, तथा शुद्धीकरण के लिए विस्तारपूर्वक एक रीति-विधि का प्रयोग किया जाता है। संक्षेप मे, पारिवारिक स्तर मे भी सामाजिक-सास्कृतिक पूर्णता बड़ी ही ढीली तथा निष्क्रिय मालूम पड़ती है। यही बात पहाड़ी खारिया तथा असुर लोगो पर लागू होती है।

न केवल आर्थिक एव सामाजिक -सास्कृतिक पूर्णता ही, वरन् उनकी भावनाएँ भी, सौरिया की प्राकृतिक अवस्था के अनुरूप बन गयी है। अनेक सौरिया लोगों से साक्षात्कार करने के पश्चात् देखा गया है कि वे अभी वर्तमान प्राकृतिक अवस्था तथा वातावरण में ही रहना अधिक पसन्द करते है। मिट्टी के मकानो की अपेक्षा बाँस की बनी झोपड़ियो को वे अधिक पसन्द करते है। वे कुओ के बजाय झरनों से पानी पीना अधिक पसन्द करते हैं और प्रत्येक दशा मे वे समतल भूमि पर रहने की अपेक्षा पहाड पर ही रहना अधिक दृढतापूर्वक पसन्द करते है। कुछ लोगो ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि सरकार उन्हें समतल भूमि पर जाने को मजबूर करेगी तो वे नीचे जाकर आराम की जिन्दगी बिताने के बावजूद पहाड़ो पर ही बन्दूक की गोली खाकर मर जाना अधिक श्रेयस्कर समझेगे। इसके पक्ष मे वे जो कुछ भी तर्क पेश करते हैं, वे अत्यन्त रोचक हैं। बहुत से लोगों ने *बतलाया है कि पहाड़ो पर ही उनका परपरागत घर है तथा* उनके भूत और देवता वहीं निवास करते हैं इसलिए वे पहाड़ को छोडकर किसी अन्य जगह नही जा सकते। दूसरा तर्क जो प्रायः सुनने में आया, वह यह था कि वे लोग 'कुरूवा' खेती और पेड-पौधों के वातावरण को छोड़ना नही चाहते, क्योंकि यह सब उन्हें नीचे समतल भूमि पर नहीं मिलेगा। इन सर्वसाधारण तर्कों के अतिरिक्त आधे से अधिक लोगों ने नीचे रहने वाले लोगों के क्रूर स्वभाव के बारे में भी शिकायत की और कहा कि उनके साथ वे रहना पसन्द नही करते। ५७ प्रतिशत स्त्रियो ने भी नीचे मैदानी क्षेत्रों में जाने के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट की तथा बताया कि नीचे जाने से बच्चो को बीमारी हो जायेगी और वे मर जायेंगे।

सौरिया का यह संक्षिप्त विवरण यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि किस प्रकार उन्होंने अपने को वातावरण के अनुकूल कर लिया है तथा एक बार अभ्यस्त हो चुकने के बाद वे किसी भी दशा में इसे छोड़ना नहीं चाहते। सौरिया का यह वर्तमान अध्ययन और भी रोचक हो जायगा यदि हम उनकी अवस्थाओं पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें।

इस जनजाति के उद्‌गम तथा देशान्तर-गमन के विषय में बहुत थोड़ी बातों का पता चलता है परन्तु उनके परम्परागत तथा भाषा-सम्बन्धी सांस्कृतिक बातों से पता चलता है कि छोटा नागपुर के उराँव तथा राजमहल के सौरिया दो भाग हैं जो भूतकाल में सम्भवतः कभी एक ही जनजाति रही होंगी (राय, १९२८)। स्वदेश-सूची के आधार पर पता चलता है कि किसी समय वे एक भाषीय इकाई थीं, तथा उन्हें एक-दूसरे से अलग हुए लगभग १,००० से १,५०० वर्ष हो गये हैं। उनकी पौराणिक दन्तकथाओं तथा परम्पराओं के आधार पर ही राय (१९१५) का यह विश्वास है कि यह पृथक्करण पश्चिमी बिहार के रोहतास नामक जगह पर हुआ जहाँ वे लोग (प्राचीन समूह) खेती का पेशा करते थे। यद्यपि उनके देशान्तर-गमन का निश्चित कारण विदित नहीं है, तथापि किसी प्रकार के हिन्दुओं का आक्रमण ही उनके इस पृथक्करण का कारण समझा जाता है। एक समूह छोटा नागपुर के जिलों में जा बसा जहाँ उसकी मुंडाजनजाति से मुलाकात हुई जो शायद उराँव लोगों की तरह उन्नत नहीं थी। दूसरा समूह भी पूर्व की ओर बढ़ता राजमहल के पहाड़ों में चला गया।

यदि यह ऐतिहासिक पुनर्निर्माण लगभग सही है तो यह सचमुच बहुत ही रोचक है क्योंकि यहाँ हम खेती करने वाली एक ऐसी जनजाति के बारे में जानते हैं जिसे पहाड़ों और जंगलों के बीच शरण लेनी पड़ी और फिर सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्णता के शिकारी तथा जगम खेती के स्तर को अपनाना पड़ा। यदि यह सत्य है तो टोटमी के (टोटामिक) कुल-बहिर्विवाह, युवक-शयनागार तथा एक ठोस पारिवारिक व्यवस्था, ये सभी संस्थाएँ जो उराँव लोगों के द्वारा अभी तक सुरक्षित रखी गयी हैं, सौरिया लोगों में लुप्त हो गयी हैं।

यद्यपि सामाजिक सांस्कृतिक पूर्णता का यह विपरीत स्तर एक रोचक कल्पना है, तथापि यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की घटना बहुत असम्भव है। राय (१९१५) ने, जिस समय बड़े ऊँचे तार्किक ऐतिहासिक पुनर्निर्माण का प्रचलन था, उराँव तथा सौरिया के लिए देशान्तर-गमन तथा अब गाँव के पक्ष में बहुत ही अपर्याप्त आधार पेश किया।

इसके अलावा आज के सांस्कृतिक विकास तथा परिवर्तन के सिद्धान्त के आधार पर यह कहना अधिक सम्भव जान पड़ता है कि उरांव लोगों के बीच उपर्युक्त संस्थाओं का न तो विकास ही हुआ और न सौरिया लोगों ने उसे खो ही दिया।

यदि सौरिया किंवदंतियों के सामाजिक तथ्यों पर विचार किया जाय तो इसका काल्पनिक पुनर्निर्माण का एक दूसरा ही तर्कयुक्त रूप प्रस्तुत होता है। भारत की बहुत-सी जनजातियों के विषय में यह दावा किया गया है कि वे संस्कृति के ऊँचे स्तर से नीचे गिर गयी है। राय (१९२८) ने भी उल्लेख किया है कि उरांव लोगो मे किसी जमाने में बहुत सी महत्त्वपूर्ण (हिन्दू) प्रथाएँ, जैसे जनेऊ, एक ही देवता की पूजा करना, शाकाहारी भोजन तथा अन्य भी बहुत सी चीजें प्रचलित थीं। इसी आधार पर उनका यह मत था कि १५२० में संगठित कुरूख धर्म, एक धार्मिक आन्दोलन था। कुरूख धर्म का मूल अर्थ होता है—कुरूख या उरांव के वास्तविक पुराने धर्म की ओर लौटना। इस प्रकार के विश्वास तथा आन्दोलन का कारण हिन्दू तथा आदिवासियो के परस्पर सम्बन्ध की स्थिति में निहित है। भारत के बहुत से भागो की जनजातियाँ हिन्दुओ की रीति-विधियो का व्यवहार करने के लिए अपने पद बनाने की कोशिश कर रही है। उनका यह दावा उन्हें प्राचीन काल के उन महत्वपूर्ण दिनो की ओर ले जाता है जब मलिनता (पोल्यूशन) का आचार-विचार (प्रैक्टिसेज) अज्ञात था और उनका स्वयं अपना शासन था, आदि-आदि। इसका दूसरा दृष्टान्त भूमिज जनजाति (सिन्हा, १९५९) का है जिसमे आदिवासी लोग यह दावा करते हैं कि एक समय वे क्षत्रिय थे तथा अब वे अपनी इस ऊँची सामाजिक स्थिति मे लौटना चाहते हैं।

ऊँची हिन्दू जातियों की कर्मकाण्डी प्रदूषणता (रिचुअल पोल्यूशन) का दावा करते हुए इन जनजातियो का समूह अपने पड़ोसियो की आँखो मे ऊँचा उठने की कोशिश कर रहा है, तथा ऊँचे स्तर पर अपनी अवस्था को सुधार कर जाति-व्यवस्था में प्रवेश कर रहा है।

उपसंहार

वर्तमान अध्ययन से बहुत से निष्कर्ष निकलते हैं जो सैद्धान्तिक सत्यता की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यह जनजातियो के समूहों की, जो एक ही भौगोलिक प्रदेश के होते हुए भी विपरीत वातावरण में पले हैं, सांस्कृतिक अनुकूलता (कल्चरल इकोलोजी) की विधि के अध्ययन को प्रतिपादित करता है। इससे यह भी पता चलता है कि किस प्रकार वर्तमान विधि संस्कृति और विवरण-सम्बन्धी जानकारियों का पारिभाषिक (टाइपोलोजिकल) दृष्टि से अध्ययन करने की एक संभावित पद्धति

(मेथोडोलॉजी) की ओर संकेत करती है। यह विधि संस्कृति का विवरण देनेवालों को सांस्कृतिक प्रकारों में विभक्त करने तथा उनकी विपरीत सांस्कृतिक या समानान्तर सांस्कृतिक व्यवस्था को समझने का मौका देती है। बिहार में जनजातियों के वर्गीकरण की सभी विधियों में यह विधि मुझे सबसे अधिक लाभदायक जान पड़ती है। इससे हम जनजातियों का इतिहास जान सकते हैं। यह विधि किसी सांस्कृतिक प्राविधिक (टेक्नोलॉजिकल) स्तर पर अनुकूलता के कारणों तथा उसकी प्रक्रिया (प्रोसेसेज) के ऊपर अपना ध्यान केन्द्रित करती है और तब कुछ विपरीत सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को उनके क्रियात्मक (फंक्शनल) सम्बन्ध की दृष्टि से समझने में सहायक होती है; उदाहरणार्थ, हमें यह जानने में सुविधा मिलती है कि पहाड़ी खारिया और सौरिया पहाड़ियों में यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि भाषा में बहुत फर्क है। दोनों भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में रहते हैं फिर भी सामाजिक संगठन में बहुत समानता रखते हैं। इस समानता के कारण उन दोनों का अनुकूल वातावरण है।

संक्षेप मे इस अध्ययन का मुख्य प्रयोजन एक ऐसी पद्धति (Method) का सुझाव देना है जिससे भारत की जनजातियों की स्थिति का सामाजिक सांस्कृतिक (Socio-cultural-integration) के स्तर और सामाजिक वातावरण की दृष्टि से विचार किया जा सके अथवा धारणाओं (Conceptualised) के रूप में समझा जा सके।

उड़ीसा की जनजातियाँ

भारतवर्ष के सभी राज्यों की अपेक्षा उड़ीसा में जनजातियों की प्रतिशत आबादी सबसे अधिक है। यहाँ जनजातियों की राज्य की आबादी कुल आबादी का २३.११ प्रतिशत है। पूरे राज्य में १९७१ की जनगणना के अनुसार जनजातियों की कुल संख्या ५०,७१,९३७ है जो भारतवर्ष की जनजातियों की कुल संख्या का १२.३४ प्रतिशत है।

इस राज्य के कुल क्षेत्र का दो-तिहाई से ज्यादा भाग अगम्य पहाड़ियों तथा घने जंगलों से भरा पड़ा है। पूरे क्षेत्र का एक-तिहाई से अधिक भाग, जो ५६,३५६ वर्ग किलोमीटर है, अनुसूचित-क्षेत्र घोषित कर दिया गया है। इसमें मोटे तौर पर कोरापुट जिला, गंजाम एजेन्सी (सोरापा, पड़ाखोले मुंडा को छोड़कर), कन्दामातस तथा बालीगुडा डिविजन के साथ (उदयगिरि ताल्लुक के चोकापाड़ा खाड़ा को छोड़कर), मयूरभंज तथा सुन्दरगढ़ (गंगपुर और बोनाई राज्य) आते हैं। इसके अलावा केओंझर के भूइयापीढ़ तथा जुआंगपीढ़ और कालाहाड़ी जिला के अन्तर्गत काशीपुर के क्षेत्र जैसे छोटे-छोटे भाग भी हैं जहाँ अधिकतर जनजातियों की आबादी है। लगभग १८,२०० वर्ग किलोमीटर क्षेत्र को,

विशेषकर भूतपूर्व देशी राज्यों के कुछ भाग को अनुसूचित क्षेत्र घोषित करने के बारे में विचार किया जा रहा है।

उड़ीसा में न केवल भारतवर्ष के अन्य राज्यों की अपेक्षा जनजातियों की सबसे अधिक प्रतिशत आबादी है और न केवल असम के विभिन्न जनजातियों की तरह विभिन्न आर्थिक प्रकार, जातीय गुण, तथा विभिन्न परिवारों के जनजाति के लोग पाये जाते हैं, वरन् राज्य के अगम्य भागो मे रहने वाले बहुत से प्राचीनतम ढंग की रहन-सहन वाली जनजातियाँ भी पायी जाती हैं जो सम्भवतः बाहरी सम्पर्क से अछूती हैं। ऐसी भी जनजातियाँ पायी जाती हैं जो केवल अपने नाम के अलावा अपनी संस्कृति के सभी तरीकों को सुरक्षित नहीं रख सकी हैं और हिन्दू समाज मे पूरी तरह से घुल-मिल गयी है। ये अपनी जन-जातीय विशेषताओ को छोड़कर हिन्दू जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रवेश कर गयी हैं। ऐसी जनजातियो मे सुन्दरगढ, सम्बलपुर तथा बालंगीर-पटना जिलों के गोण्ड तथा भूइयाँ लोग भूतपूर्व देशी राज्यो के सैनिक के रूप मे काम करते थे। उनके बड़े-बड़े राज्य थे जिनसे पर्याप्त आय होती थी। आज वे आधुनिक सभी सुविधाओ से सम्पन्न घरो मे रहते हैं। एक विशेष जनजाति के बीच भी, भौगोलिक तथा सामाजिक कारणो के द्वारा, बिलकुल प्राचीन ढंग से लेकर उन्नत प्रकार के रहन-सहन वाले विभिन्न आर्थिक स्तर के लोग पाये जाते हैं। इन्ही कारणों से एक विशेष जनजाति के बीच भी अनेक प्रकार के लोग पाये जाते है। उदाहरण के लिए सवरा मे इस प्रकार के ग्यारह विभाजन पाये जाते हैं जिनमें ऊँचे पठारो पर रहने वाले, लुहार तथा कृषकों का उल्लेख किया जा सकता है।

इस राज्य मे बासठ जनजातियाँ पायी जाती हैं। उनमें चौदह जनजातियों को अलग किया जा सकता है, जिनकी विभिन्न जातीय तथा भाषायी समूह के होने के कारण, अपनी निजी सास्कृतिक विशेषताएँ हैं, उनके नामो और सस्कृतिक विशेषताओ को निम्नाकित तालिका मे दिखाया गया है :

संख्या आदिम जाति का नाम	जिले के अनुसार वितरण	पेशा	पूरी जनसख्या	प्रजातीय समूह	भाषायी परिवार
			१९६१		
१. कान्ध	फूलबनी, गजाम, कोरांजोन्स, कालाहाण्डी, विश्वस्त रूप से पूरे राज्य में	भोजन-संग्रह शिकार तथा जंगम खेती, स्थायी खेती	८,१८,८४७	प्रोटो-आस्ट्रोलायड	द्राविडियन

२.	गोंड	सम्बलपुर, कालाहाण्डी बालनगीर, कोरापुट तथा भूतपूर्व राज्यक्षेत्र में बिखरे	स्थायी खेती	४,४५,७६५	,,	,,
३.	सवरा	मुख्यतः गंजाम तथा कोरापुट में परन्तु पूरे राज्य में बिखरे	जंगम खेती तथा स्थायी खेती	३,११,६१४	प्रोटो मास्ट्रो लायड	आस्ट्रिक
४.	संथाल	अधिकतर मयूरभंज, बालासोर तथा केंओझर में	स्थायी खेती	४,११,१८१	,,	,,
५.	परजा	कोरापुट	,,	१,५६,८६६	,,	,,
६.	कोल्हा	केओंझर, बोनाई, तथा मयूरभज	,,	२,०३,५१५	,,	,,
७.	उरांव	सुन्दरगढ़	,,	१,२६,०५९	,,	द्राविडियन
८.	किसान	गंगपुर, बोनाई, बामडा	,,	१,२५,६६८	,,	,,
९.	मुंडा	सम्बलपुर, बामंडा, मयूरभज तथा गंगपुर	,,	२,२१,३९९	,,	आस्ट्रिक
१०.	गदबा	कोरापुट	,,	४३,९३६	,,	(अल्प नीग्रीटो तत्व के साथ)
११.	कोया	कोरापुट	,,	५५,२८४	,,	,,
१२.	भूइयाँ	केओंझर, सुंदरगढ़, पाल, ढाहरा	शिकार, भोजन-संग्रह, जंगम खेती तथा स्थायी खेती	१,५६,८७८	,,	अपभ्रंश उड़िया
१३.	जुआंग	केओंझर	जंगम तथा स्थिर खेती	२१,८९०	(कुछ आस्ट्रिक मंगोलायड तत्व के साथ)	
१४.	बोंडो	कोरापुट	,,	४,६७७	प्रोटो आस्ट्रो-लायड	,,

इनके अलावा कोरवा, बिरहोर तथा खड़िया जैसी जनजातियाँ भी हैं जो पूर्णरूप से शिकार तथा भोजन-संग्रह की स्थिति में हैं और खानाबदोश स्वभाव की हैं।

भौगोलिक दृष्टि से ये जनजातियाँ मुख्यतया उड़ीसा के दक्षिणी तथा उत्तरी भागों में निवास करती है। दक्षिणी उड़ीसा में कान्ध, सबरा, गोंड, परजा, गदबा, कोया तथा सेण्डो तथा उत्तरी उड़ीसा मे संथाल, कोल्हा, उराँव, किसान, मुंडा, भुइयाँ, तथा जुआंग जैसी जनजातियाँ निवास करती हैं।

सम्पूर्ण रूप से दक्षिणी उड़ीसा में तथा विशेषकर कोरापुट जिले मे रहने वाली जन-जातियाँ अधिकतर प्राचीन तथा अविकसित दशा मे पायी जाती हैं क्योंकि ये भाग अधि-कांशतया अगम्य पहाड़ियों तथा घने जंगलों से आच्छादित हैं, फलतः बाहरी दुनिया से उनके सम्पर्क मे अधिकतम कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं।

अधिकांश जनजातियाँ एक जगह से आकर दूसरी जगह भिन्न-भिन्न कालों मे स्थाना-न्तरित होती रही हैं परन्तु उनमे से प्रत्येक के बारे मे यह जानना सम्भव नही है। उदा-हरण के लिए हम लोग यह जानते है कि कान्ध, कान्धामाल से (जो उड़ीसा मे उनका असली निवास-स्थान था) कालाहाण्डी जिले मे अगम्य पहाड़ियो से लेकर कोरापुट जिले के मलकानजीरो तक, बाहरी प्रभावों से वंचित एक सुरक्षित स्थान मे, जहाँ वे सुविधापूर्वक अपना प्रिय 'पोदू' या जंगम खेती कर सकें, स्थानान्तरित हुए। फिर, उनमे से अधिकतर लोगों ने नीचे के समतल भागो मे आकर स्थायी खेती को अपना लिया है, और वे उडीसा के हिन्दू-समाज मे पर्याप्त रूप से सम्मिलित हो गये हैं। अभी भी अधिकतर पहाड़ियों तथा जंगलो मे उनका रहना इस बात का द्योतक है कि ये जनजातियाँ राज्य के प्राचीनतम निवासियों में से है।

प्रजाति

इस राज्य का बहुत कम ही शारीरिक मानव-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन हुआ है। अभी तक किये गये, अवलोकन के आधार पर उड़ीसा की जनजातियो मे एकरूपता पायी गयी है तथा उन्हें प्रोटो-आस्ट्रोलायड के रूप में वर्गीकृत किया गया है। संस्कृत साहित्य में सबरा तथा कान्ध जैसी कुछ प्राचीन जनजातियो के शारीरिक गुणो का उल्लेख भी उपर्युक्त अवलोकन की पुष्टि करता है। केओंझर जिला के जुआंग मे कुछ मंगोलायड शारीरिक तत्त्व तथा कोरापुट के गदवा में नीग्रोटो तत्त्व के भी कुछ प्रमाण मिले हैं।

भाषा

भाषायी दृष्टिकोण से ये जनजातियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। यह भिन्नता एक ही जनजाति की कई शाखाओं के बीच पायी जाती है, विशेषकर कांध के साथ इस प्रकार की

बात पायी जाती है। इन सभी भिन्न-भिन्न भषायी भाषाओं को द्राविडियन तथा ऑस्ट्रिक, इन दो भाषायी परिवारों में बाँटा गया है तथा उपर्युक्त तालिका में इन जनजातियों का भाषायी सम्बन्ध देखा जा सकता है।

आर्थिक वर्गीकरण

जीवन-यापन के आधार पर उन्हें मुख्यतया तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) शिकारी और भोजन-संग्रह-कर्त्ता, (२) जंगम खेतिहर तथा (३) स्थायी कृषक। यों तो जनजातीय संस्कृति में आर्थिक विशिष्टता नहीं पायी जाती तथापि इन श्रेणियों की प्रत्येक जनजाति अन्य पेशों से भी अपनी जीविका का निर्वाह करती है। उदाहरण के लिए, कोरवा जो मुख्यतया शिकारी तथा खाद्य के लिये कन्द-मूल तथा फल के संग्रहकर्त्ता हैं, अपने अल्प आर्थिक साधनों की पूर्ति मधु-संचय के द्वारा करते हैं। इस काम में उन्हें निपुण समझा जाता है। सवरा तथा कान्ध जैसे स्थायी कृषकों के भी पहाड़ों के ऊपर जमीन के छोटे-छोटे भाग होते हैं जहाँ वे जंगल खेती, अस्थायी कृषि के द्वारा बाजरा तथा दलहन की पैदावार करते है और जिसकी बिक्री बाजारों में तुरन्त हो जाती है। ये सब बातें सीधे-साधे समाजों मे केवल उनके आर्थिक जीवन की जटिलता की ओर संकेत करती है। उपर्युक्त श्रेणियो का निम्नलिखित रूप से विश्लेषण किया जा सकता है।

(१) वन-शिकार प्रकार

इस श्रेणी में बिरहोर तथा पहाड़ी खड़िया का उल्लेख किया जा सकता है। स्थानीय लोगों के बीच 'बिरहोर' जनजाति 'मनकडखीया' के नाम से प्रचलित है क्योंकि वे बंदर का मास खाते है तथा उनके शिकार मे वे प्रवीण होते हैं। इसके अलावा वे चूहा, लक्खी तथा कभी-कभी हरिण का मांस भी खाते हैं, यद्यपि जिस भौगोलिक वातावरण में वे रहते हैं उसमे बाघ, चीता और भेड़िया जैसे जानवर भी पाये जाते हैं। वे जंगली कन्द-मूल तथा फल भी संग्रह करते हैं, जिन्हे वे वर्षा के दिनों के लिए रख छोड़ते हैं क्योंकि वर्षा के दिनों में उनका स्थानान्तरण कुछ दिनों के लिए रुक जाता है। वे मधु का सचय भी करते और उसकी बिक्री करते हैं तथा अपनी आवश्यकता की चीजों से उसे बदलते हैं। उनकी आर्थिक स्थिति जिस प्रकार की है उसे देखते हुए एक ही जगह पर ज्यादा दिनों तक रहना तथा अधिक संख्या मे रहना उनके लिए सम्भव नहीं है और इसीलिए वे पत्तों की बनी अस्थायी झोपड़ियों में रहते हैं और छः से आठ परिवारों के छोटे गिरोहों में वे घूमते रहते हैं। वे सुन्दरगढ़ जिले में पाये जाते हैं।

कोरवा सम्बलपुर तथा सुन्दरगढ़ जिलों के कुछ भागों में पाये जाते हैं तथा सिमला-पाल की पहाड़ियों में रहते हैं। वे लोग खाद्य के लिये कन्द-मूल तथा फलों के अलावा मधु तथा

सींग इकट्ठे करते हैं जिन्हें बाजारों में बेचते हैं। मैना जैसे छोटे-छोटे पक्षियों तथा पेड़ पर रहने वाली मक्खियों को पकड़ने में वे बड़े निपुण होते हैं। इन्हें वे समतल भूमि पर रहने वाले लोगों के हाथ बेचते हैं।

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इन घुमक्कड़ जनजातियो को अपने स्थान छोड़ने के लिए बाध्य किया गया था तथा समतल भूमि मे रहने वाले अधिक शक्तिशाली लोगो के द्वारा वे पहाड़ियो मे भगा दिये गये थे।

(२) पहाड़ी खेती प्रकार

केवैंझर जिला के कुटिया तथा डागरिया कान्ध, बोंडो, लजीय, सवरा, जुआंगपीढ़ के जुवांग तथा बोनाई के पड़ी भूइया मुख्यतः इस श्रेणी में पाये जाते हैं। वे क्षेत्र जिसमें ये जनजातियाँ रहती हैं, बहुत अगम्य है और बाहरी प्रभावो से चिन्तामुक्त होकर जंगम खेती करने का एक अत्यन्त उपयुक्त स्थान है। इस प्रकार की खेती को प्रचलित रूप में 'पोद चासा' कहा जाता है। उत्तरी उड़ीसा मे यह 'कउराई', 'बीरीबाजा', 'दाही' और 'रौरा' तथा दक्षिणी उडिसा मे 'गीदीया' तथा 'दौउरगर चारा' कहलाता है। इस प्रकार मुख्य फसल मे चावल, विभिन्न प्रकार के बाजरे दाल तथा तेलहन पैदा किये जाते हैं।

जंगम खेती इस विधि से की जाती है : पहाडी का कोई एक ढालवाँ भाग इस काम के लिए चुन लिया जाता है जिसे वहाँ के पेडों को काटकर तथा छोटे-छोटे पौधो को उखाड़कर साफ कर लिया जाता है। इसके बाद कुछ समय तक इन पेड़-पौधों को यों ही छोड़ दिया जाता है। फिर उन्हे जलाकर राख कर दिया जाता है तथा उस राख को पूरे भाग में बिछा दिया जाता है। यह काम प्रायः मार्च और मई के बीच किया जाता है तथा पहली मानसून वर्षा प्रारम्भ होते ही बीज बो दिये जाते हैं। अक्तूबर और नवम्बर में जब पौधे बडे हो जाते हैं तब जगली जानवरो तथा चोरो से उनकी रक्षा करनी पड़ती है। दिसम्बर—जनवरी में फसल काटी जाती है। फसल काटने के बाद जमीन कई वर्षों तक परती छोड़ दी जाती है। साधारणतया तीसरे साल फिर जमीन के उसी टुकड़े मे खेती की जाती है। उसके बाद इस जमीन के टुकड़े को चार से छः साल तक लगातार परती छोड दिया जाता है, जिससे उस अवधि मे वह जमीन फिर प्राकृतिक रूप से अपनी उर्वरता वापस पा सके। उसके बाद गाँवो से दूर दूसरी जमीन के टुकड़ों को चुन लिया जाता है तथा उनमें बारी-बारी से खेती की जाती है।

आपसी समझौते के अनुसार जमीन के टुकड़ों को परिवार के बीच बाँट दिया जाता है। फिर भी, निजी स्वामित्व को मान्यता नहीं दी जाती तथा पूरे समुदाय द्वारा

सम्मिलित रूप से वह अधिकतर होती है। कड़ी मेहनत के बावजूद भी खाद्य सामग्रियों को जमा करना खेती की प्रकृति तथा जीवन की विषम स्थिति के कारण सम्भव नहीं है।

इस प्रकार जो कुछ भी पैदावार होती है, उसकी पूर्ति जंगल से कंदमूल तथा फलों को इकट्ठा कर होती है। ये काम मुख्यतया औरतों के द्वारा और कभी-कभी मर्दों के द्वारा भी (जब उन्हें फुर्सत होती है) किये जाते हैं। पुराने रहन-सहन के तरीकों को छोड़ने की अनिच्छा, नये विचारों की अनभिज्ञता, तथा स्थिर खेती के लिए उपयुक्त जमीन की कमी, अभी तक किये जाने वाले विनाशकारी अन्न-उत्पादन के तरीकों के मुख्य कारण है।

(३) समतल कृषि प्रकार

इस श्रेणी के अन्तर्गत देसुआ, कान्ध, परजा, गदबा, भाला, सवरा, समतल पर रहने वाले भूइया, छोनकनल के जुबांग, किसान, उराँव, कोटाडा और गोंड जैसी जनजातियाँ आती हैं। स्थायी खेती इनके जीविकोपार्जन का मुख्य साधन है। इसके अलावा ये व्यापार, कारखानो तथा खानो में दैनिक मजदूरी जैसे काम-धन्धों के लिये भी जाती हैं। ये लोग लगभग चालीस से साठ परिवार वाले स्थायी गाँवों में रहते हैं। प्रायः इन गाँवों में दूसरी जनजातियो तथा दूसरी जातियों के लोग भी रहते हैं जिनका अपना-अपना विशेष पेशा होता है। आर्थिक स्थिति ज्यादा स्थायी तथा सुरक्षित होने के कारण उससे एक बड़ी जनसंख्या के लोगों का भरण-पोषण होता है, जिसमे पेशों पर आधारित अमीर और गरीब जैसे आर्थिक वर्ग की उत्पत्ति होती है। यह उन्नत समाज की विभिन्न शाखाओं के साथ रहने से और भी स्पष्ट हो जाता है। ये सब एक बड़े ही सामाजिक सांस्कृतिक महत्त्व की बातें हैं।

सामाजिक-धार्मिक विशेषतायें

जनजातियों की ऐतिहासिक, प्रजातीय भाषायी तथा भौगोलिक भिन्नताओं के बावजूद भी कुछ सामान्य मूल सिद्धांत हैं जिनके आधार पर इन लोगों का सामाजिक-धार्मिक जीवन व्यवस्थित है। गाँव (या शिकारी तथा भोजन संग्रहकर्त्ताओं के अस्थायी पड़ाव) सभी जगहों पर क्षेत्रीय इकाई समझे जाते हैं तथा अभी तक गाँव के मुखिया के अधीन ही सभी प्रकार के अधिकार दिये गये हैं। मूठा या संस्थाएँ जैसी विस्तृत क्षेत्रीय संस्थाएँ कलोहा में पायी गयी हैं। हरेक जगह परिवार पितृवंशीय है। नातेदारी का संगठन अधिकांशतया वर्गसूचक आधार पर किया जाता है। सम्पत्ति का हस्तान्तरण, उत्तराधिकार तथा वंशावली, सभी पितृवंशीय सिद्धान्त पर आधारित हैं। लड़के तथा लड़कियों का शयनागार कान्ध, भुइया, बोन्डो, उराँव तथा जुबांग में पाया जाता है। फिर

भी जहाँ लोगों पर आधुनिक प्रभाव अधिक है, वहाँ इसका क्रमशः ह्रास होता जा रहा है। उदाहरण के लिए विवाह की प्रथा पहाड़ियों में रहने वाली जनजातियों, विशेषकर केरतिया कान्ध के बीच पायी जाती है। लोक-नृत्य और संगीत सभी लोगों के बीच पाया जाता है परन्तु जुवांग तथा सथाल लोगो के बीच विशेष तौर पर पाया जाता है। इनके पास लोक-गीतों का बहुत बड़ा संग्रह है। धर्म के अन्तर्गत मुख्यतया बलिदान के द्वारा ये अच्छे-बुरे भूतों की पूजा करते हैं। उर्वर पूजा (फर्टिलिटी कल्ट) से सम्बन्धित मानव बलिदान की प्रथा पहले कान्ध के बीच पायी जाती थी परन्तु मानव के स्थान पर अब भैंस की बलि दी जाती है। फिर भी, ऐसे लोगों का विश्वस है कि प्राचीन ढंग का मानव-बलिदान अब भी अगम्य तथा दुर्गम हिस्सो मे प्रचलित है। जादू टोना तथा इन्द्र-जाल काफी प्रचलित हैं। कब्र परप त्थर खड़ा करने की प्रथा (मेगालिथिक कल्ट) विशेष कर बोण्डो के बीच पायी जाती है।

उड़िसा की एक पिछड़ी जनजाति —जुवांग

उडीसा की एक प्रमुख जनजाति जुवाग है। यह आदिवासी जाति केओंझर, ध्याका-नाल इत्यादि क्षेत्रो मे विशेष रूप से निवास करती है और मुख्यतया इन क्षेत्रों के जंगलों तथा पहाड़ो पर पायी जाती है। इसकी जनसंख्या के बारे मे ठीक-ठीक कहना कठिन है क्योंकि प्रत्येक परिवार की गिनती करना सम्भव नहीं है। १९६१ के जनगणनानुसार इसकी आबादी २१,८९० है। कुछ मानव वैज्ञानिको का विचार है कि इसकी आबादी कम होती जा रही है परन्तु जनगणना के आधार पर यह कहना कठिन हो जाता है क्योंकि १९२१ ई० की जनगणना के अनुसार इसकी आबादी केवल १०,००० के लगभग थी।

आर्थिक व्यवस्था

जुवांग के बीच जंगल जलाकर खेती करने की प्रणाली प्रचलित है और इसी तरह खेती कर वे अपनी जीविका चलाते हैं। मार्च के महीने मे वे जंगलों को काट डालते है और पौधो को सूखने के लिए छोड़ देते हैं। जब पौधे सूख जाते हैं तो उनको जलाकर फैला देते हैं; फिर वे लकड़ी के औजार से जमीन मे छेद करते हैं और बीज रोपते हैं। इस तरह के औजार को वे अपनी भाषा में 'गारोडा' कहते हैं। गारोडा उस युग की याद दिलाता है जब इसी तरह की लकड़ी से खेती होती थी और उस समय के लोग हल से एकदम अपरिचित थे। जुवांग कुछ पर्वतीय समतल क्षेत्रों मे अब अपने छोटे हल चलाते नजर आते हैं। इस तरह जंगल जलाकर खेती कर बाजरे और कहीं-कहीं धान की भी खेती करते हैं। जहाँ वे पहली बार जंगल जलाते हैं, वहाँ दो-बार से अधिक खेती नही करते। उस स्थान मे पौधे बढने के लिए छोड़ देते हैं और लगभग दस वर्ष के बाद फिर वहाँ जंगल जलाकर खेती करते हैं।

शिकार में भी वे प्रवीण होते है और खेती के अलावा वे शिकार करके भी अपनी जीविका चलाते हैं। जुवांग शिकार करना अधिकांशतया गर्मी में आरम्भ करते हैं। प्रत्येक साल जब वे प्रथम बार शिकार करना शुरू करते हैं तो दो-चार गाँव के लोग इकट्ठे होते हैं, पूजा-बलिदान सम्पन्न होता है और तब इसके बाद नये आम खाकर वे सभी एक साथ मिलकर उत्सवपूर्वक शिकार करने जंगलों में चले जाते हैं। जो व्यक्ति सफलता-पूर्वक कोई जानवर मारता है, वह राजा घोषित किया जाता है, उसे लोग माला पहनाते, सिर पर पगड़ी बाँधते हैं और मरे जानवर को उसके घर या जंगल के किसी झरने के पास लाते हैं। वहाँ जानवर के खून को पत्ते के दोने में रखकर उसे पूर्वजों के नाम पर अर्पित किया जाता है और इसके बाद जानवर का मांस बराबर हिस्सों में बाँट दिया जाता है। यदि किसी के कुत्ते ने शिकार में पूरी सहायता की है तो उसके मालिक को कुत्ते का हिस्सा भी मिलता है। शिकार करने वाले को कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। जंगलों में वे घूमते हैं, गाते हैं और जो भी जानवर मिलते हैं उनका शिकार करते हैं। तीर और धनुष ही उनके शिकार के प्रमुख अस्त्र हैं। बिरहोर की तरह वे बन्दर का शिकार अधिक करते है। मछली मारने मे भी वे बड़े प्रवीण होते हैं। वे जाल और अन्य तरीकों से मछलियाँ पकड़ते हैं और उन्हें उबाल कर मसाले के साथ खाते हैं।

जुवांग कुछ समय पूर्व तक कपड़े की जगह पत्ते पहनते थे। कुछ मानव वैज्ञानिकों ने जुवांग के कुछ क्षेत्रो मे उन्हें १९४२ मे पत्ते पहने भी देखा परन्तु अब उनके बीच कपड़े का प्रचलन हो गया है और वे पत्तों की जगह कपड़े पहनने लगे हैं।

सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक दृष्टि से जुवांग बहुत से कबीलों में बँटे हुए हैं। इन कबीलों के नाम किसी जानवर, वृक्ष, पक्षी, फूल इत्यादि के नाम पर रखे जाते हैं। जिस पक्षी, जानवर या पौधे के नाम पर इनके गोत्र का नाम होता है, उनका वे आदर करते हैं और किसी भी हालत में उन्हे क्षति नही पहुँचाते हैं। अपने गोत्र में शादी भी नहीं करते हैं। इस तरह के गोत्र को वे अपनी भाषा में 'बोक' कहते हैं। जुवांग के गाँव में युवा-गृह की भी संस्था है जिसे वे अपनी भाषा में 'दरबार' या 'मंडाघर' कहते हैं। मंडाघर केओंझर के अधिकांशतया गाँवो मे पाये जाते हैं परन्तु ब्यकानाल और पाललहरा इत्यादि क्षेत्रों में वे लुप्त-से हो गये हैं। मंडाघर जुवांग के गाँवों के बीच रहता है। यह झोपड़ी गाँव की अन्य झोपड़ियों से अधिक भव्य और बड़ी होती है। इसी के पास दूसरी झोपड़ी होती है जिसमें गाँव की अविवाहित युवतियाँ सोती हैं। इस घर को वे अपनी भाषा में 'छागरी-बासा' कहते हैं। जुवांग के ये दोनों युवा और युवती-गृह ही गाँव के सामाजिक और धार्मिक कार्यों के अड्डे होते हैं। ये वे स्थान हैं जहाँ गाँव के सभी नर-नारी, बाल-वृद्ध इकट्ठे होते

और नृत्य-गान इत्यादि करते हैं। उनके परम्परागत स्कूल भी हैं जहाँ गाँव की युवक-युवतियाँ रात्रि में सोती ही नहीं वरन् अपनी संस्कृति, रीति-रिवाज, लोक-कथा, जातीय इतिहास इत्यादि की भी जानकारी प्राप्त करती हैं।

जुवांग के गाँव की शासन-व्यवस्था दो सरदारों के हाथ में रहती है। प्रत्येक गाँव में एक डिहुरी होता है जो उनका पुरोहित होता और पूजा-पाठ मे उनका नेतृत्व करता है। दूसरा 'पाधान' होता है जो गाँव से कर उगाहता और गाँव में शान्ति बनाये रखता है। सात से दस पाधान के ऊपर एक सरदार होता है जो गाँव के बीच झगड़ो का निबटारा करता है।

धार्मिक विश्वास

जुवांग का सबसे बड़ा देवता या महाप्रभु 'धरम देवता' है। 'धरम देवता' या 'महाप्रभु' के रूप को वे सूरज देवता मे देखते है। धरती माता उनकी दूसरी देवी है जो महाप्रभु की पत्नी के रूप मे देखी जाती है। इन दो प्रमुख देव-देवियो के अलावा वे कितने ही अन्य ग्राम-देवताओ, जैसे पहाड और नदी के देवता, जगल साफ करने के देवता और गृह-देवता इत्यादि के नाम पर समय-समय पर बलिदान करते है। हिन्दुओ के प्रभाव मे आकर इन्होने महादेव और पार्वती, लक्ष्मी और दुर्गा, राम-लक्ष्मण और सीता इत्यादि के नाम भी जान लिये हैं और उनके नाम की भी पूजा करते है। पुराने मानव वैज्ञानिकों ने इनके बीच पर्वों का अभाव पाया था परन्तु इस समय के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उनके बीच कई पर्व प्रचलित है। ऐसा लगता है कि इन्होंने बहुत से पर्व आसपास के हिन्दुओ अथवा जनजातियो से सीखे हैं। इनका प्रमुख पर्व 'माघ जतरा' है जो भूइया जाति से लिया गया है। इसके अलावा दशहरा, दीवाली इत्यादि पर्व हैं जिन्हें सम्भवतया हिन्दुओ के सम्पर्क मे आने से सीखा है। कुछ उनके अपने पर्व भी है, जैसे राजो पर्व, अनख पूजा इत्यादि। वे भूत-प्रेत और डाइन इत्यादि से बहुत डरते हैं और समझते हैं कि उनकी मृत्यु अथवा बीमारी के कारण वे ही हैं। वे बीमार पड़ने पर जादूगरों और डिहुरी की सहायता से अच्छे होने की कोशिश करते हैं।

विवाह और मृत्यु उनके जीवन की प्रमुख घटनाएँ हैं। अधिकांशतया वे १६ से २० वर्ष की उम्र में शादी करते हैं। शादी मुख्यतया उनके माता-पिता के द्वारा निश्चित की जाती है। शादी के समय नाच-गान, खाना-पीना प्रमुख विशेषताएँ हैं। मृत्यु से वे बहुत डरते हैं क्योंकि मरने के बाद वे भूत हो जाते हैं। इससे बचने के लिए वे तरह-तरह के उपाय, पूजा-पाठ और बलिदान करते हैं। जुवांग के बीच लाश जलाने की प्रथा पायी जाती है।

मध्य प्रदेश की कुछ जनजातियाँ

मध्य प्रदेश भारतवर्ष के उन राज्यों में से एक है जहाँ आदिवासियों की आबादी अधिक संख्या में पायी जाती है। यहाँ लगभग ४८ लाख आदिवासी रहते हैं जो इस राज्य की पूरी आबादी के लगभग २० प्रतिशत हैं।

प्रदेश की प्रमुख जनजाति—गोंड

मध्यप्र देश की प्रमुख जनजाति गोंड है जो अधिकांशतया बस्तर जिले में निवास करती है। गोंड कहने से किसी एक जनजाति का बोध नहीं होता है। वस्तुतः यह नाम समीपवर्ती हिन्दुओं तथा सरकारी अधिकारियों द्वारा उन सभी जनजातियों के लिए उपयोग में लाया जाता है जो 'कोइतार' नामक प्रजाति के हैं। वस्तुतः गोंड का मूल नाम 'कोईतार' ही है जिससे कितनी ही जनजातियों का बोध होता है, जैसे—मुरिया, मारिया, भत्रा, प्रजा, आदि। इसके अलावा कुछ हिन्दुओं द्वारा प्रभावित जन-जातियाँ भी हैं जो छत्तीसगढ़ से आकर यहाँ बसी हैं, जैसे राजगोंड, राजकोरक, राज मुरिया, नायक गोंड। इन्हें भी गोंड कहा जाता है। इन सभी गोंड जनजातियों में मुरिया और मारिया विशेष उल्लेखनीय है जो मुख्यतया मध्य प्रदेश के बस्तर जिले के पहाड़ी तथा समतल क्षेत्रों में निवास करती हैं। प्रस्तुत प्रसंग में, विशेषतया मुरिया गोंड की सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है।

मारिया गोंड की आबादी में से बस्तर मे अधिकांशतया मारिया पहाड़ों पर रहते हैं और बाकी मारिया मैदानों में निवास करते हैं। मारिया लगभग १५० पहाड़ी गाँवों मे रहते हैं। मैदान में रहने वाले मारिया, जिनको 'बाइसन', 'हॉर्न मारिया' या 'मैदानी मारिया' कहा जाता है, बड़े-बड़े गाँवो में रहते हैं। मैदानी मारिया की बस्तियाँ अधि-कांशतया नदी की घाटियो और समतल भूमि पर अवस्थित है जहाँ वे हल द्वारा खेती-बारी सरलतापूर्वक कर सकते हैं। मारिया की तरह मध्य प्रदेश के मुरिया गोंड भी भौगोलिक दृष्टिकोण से पहाड़ और मैदान दोनों तरह के क्षेत्रों में रहते हैं।

पेण्डा खेती प्रणाली

इस तरह भौगोलिक दृष्टि से मध्य प्रदेश के गोंड को दो भौगोलिक श्रेणियों में बाँट सकते हैं—पहाड़ी और मैदानी गोंड। इन दोनों के आर्थिक, व्यावसायिक और सांस्कृतिक विशेषताओं में भी काफी अन्तर आ गया है। जहाँ पहाड़ पर रहने वाले गोंड जंगल जलाकर खेती करने की प्रणाली पर आश्रित हैं, वहीं मैदान मे निवास करने वाले गोंड हल द्वारा खेती करके अपनी जीविका का निर्वाह करते हैं। अबुझमार पहाड़ के मारिया गोंड जंगल जलाकर खेती करने की प्रणाली के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। वे इस प्रणाली

को अपनी 'हबली' भाषा में पेंडा कहते हैं। मध्य प्रदेश के दूसरे क्षेत्रों में जंगल जलाकर खेती करने की प्रणाली को दाही, बेवर, पोरका इत्यादि भी कहा जाता है। भारत के अन्य पहाड़ी क्षेत्रों में भी इस तरह की खेती प्रचलित है जिसे असम में झूम और बिहार के संथाल परगना में कुरूवा या खालू इत्यादि कहा जाता है। संक्षेप में गोंड की पेण्डा प्रणाली की खेती के तरीके इस प्रकार हैं—

जनवरी और फरवरी महीनों में वे जंगल को काट कर सूखने के लिए छोड़ देते हैं। जब लकड़ियाँ और पत्ते सूख जाते है तब मई माह में वे उन्हें जला डालते हैं। जब वे राख के रूप मे परिणत हो जाते हैं तब राख को पटका लाठी नामक औजार से वे फैला देते हैं। जब प्रथम बार मानसूनी वर्षा होती है तो वे जमीन मे लकड़ी से छेदकर बीज-रोपण करते हैं। जब वे एक ही स्थान मे दो या तीन बार खेती कर चुकते हैं तो उस स्थान को छोड़ कर जगल के दूसरे हिस्से को काटते हैं। इस क्षेत्र में भी वे इसी तरह जंगल जलाकर खेती करते हैं। इस पेण्डा प्रणाली के द्वारा जगलों का दिनो दिन ह्रास होता जा रहा है और पहाड़िया गोंड इस खेती-प्रणाली के कारण आलसी से हो गये हैं। इस तरह की पेण्डा-प्रणाली द्वारा खेती करने के अलावा पहाड़िया गोंड जंगलों से खाद्य-सग्रह करके अपनी जीविका निर्वाह करते हैं। जंगलों मे बहुत तरह के खाद्य-पदार्थ कन्द-मूल, फल-फूल मिलते है। ऐसे पदार्थों मे महुआ के फूल तथा तेन्दू, जामुन और जंगली आम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका सग्रह प्राय: औरतें करती है।

पहाडी मारिया शिकार करने में भी प्रवीण होते हैं और गर्मी मे वे शिकार करने निकलते हैं। उन शिकारों मे अधिकांशतया सिंह, जंगली भैंस, हरिण इत्यादि भी मारा करते हैं। जंगली भैंस, बाईसन और हरिण के मास भी वे बड़ी रुचि से खाते हैं। उनके शिकार के प्रमुख औजार हैं—तीर, धनुष, लाठी, गँडासा और कुल्हाड़ी। वे मछली भी मारते है और मछली मारने के कितने ही तरीको से परिचित हैं।

भौतिक संस्कृति

पहाडी गोंड के मकान अधिकाशतया लकड़ी, बाँस और घास के बने होते हैं जो मुश्किल से पाँच साल तक रहने के लायक होते है। मैदानो में रहने वाले गोंड के मकान इनकी अपेक्षा मजबूत, टिकाऊ तथा मिट्टी के बने होते हैं। कपड़े के नाम पर पहाड़ी गोंड नर-नारियाँ एक छोटा टुकड़ा कमर में लटकाये रहती हैं। उनकी औरतों को आभूषण से बहुत प्रेम है और उनके शरीर काँसे के आभूषण, बड़ी-बड़ी अँगूठियाँ, हार आदि से भरे रहते हैं। गोदना गुदाने मे भी उनकी अभिरुचि है और उनका पूरा शरीर गोदने से सुशोभित रहता है।

सामाजिक व्यवस्था

गोंड की प्रत्येक जनजाति अनेक गोत्रों में बँटी है। इन गोत्रों के नाम किसी वृक्ष, पक्षी या पशु के नाम पर होते हैं। जिस जानवर या वृक्ष के नाम पर उनके गोत्र का नाम होता है, उस जानवर या वृक्ष को वे कभी हानि नहीं पहुँचाते और न उसे खाते हैं। अपने गोत्र की लड़की के साथ विवाह करना उनके समाज में नितान्त वर्जित है।

घोतुल

गोंड की, विशेषकर मुरिया गोंड की सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषता घोतुल नामक संस्था है। घोतुल वह सामूहिक घर या शयनागार है जहाँ मुरिया गाँव की अविवाहित युवक-युवतियाँ सोती है और अनेक सामाजिक कामों में हिस्सा बँटाती हैं। घोतुल वस्तुतः मुरिया जनजाति के परम्परागत स्कूल हैं। यहाँ युवक और युवतियाँ केवल सोती ही नहीं, बल्कि सामाजिक रीति-रिवाज, सांस्कृतिक नृत्य-गान एवं समाज के अन्य मूल्यों की शिक्षा भी पाती हैं। घोतुल मुरिया की एक सुव्यवस्थित संस्था है और गाँव के सामाजिक एव सांस्कृतिक कार्य का स्थान भी है।

प्रत्येक घोतुल का एक सरदार होता है जिसे 'सलाउ' कहते हैं। घोतुल की युवक-युवतियाँ आयु के दृष्टिकोण से लगभग पाँच श्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं। घोतुल के सदस्यों की औसत आयु साधारणतया १५ वर्ष की होती है। पहाड़ी मारिया के मध्य केवल अविवाहित युवकों के लिए घोतुल की प्रथा है। मैदानी मारिया कोया, प्रजा इत्यादि विकसित गोंड जनजातियों मे घोतुल संस्था का एकदम अभाव है।

ग्राम-शासन

प्रत्येक मारिया गाँव का शासन एक व्यक्ति-विशेष के हाथों मे रहता है जिसे 'गैता' कहते हैं। गैता गाँव के पंचायत की मदद से सभी काम करता है। गैता ही गाँव का धार्मिक गुरु होता है और पूजा-पाठ, बलिदान इत्यादि करवाता है।

धर्म

गोंड साधारणतया पृथ्वी, ग्राम माता और कविला नामक तीन देव-देवियों की पूजा करते हैं और उनके नाम पर बलिदान भी करते हैं। वे अपने पूर्वजों के नाम पर भी बलि देते हैं। मृत्यु के बाद इनके बीच गाड़ने और जलाने, दोनों की प्रथाएँ हैं। साधारणतया गाँव के मुख्य व्यक्तियों तथा उनकी पत्नियों की लाश जला दी जाती है पर साधारण लोगों के मरने पर उन्हें गाड़ दिया जाता है।

जलाने की प्रथा हिन्दुओं से मिलती-जुलती है। मृतात्मा के नाम पर स्मारक पत्थर रखने की प्रथा इनमें प्रचलित है। इस तरह के पत्थर को अंग्रेजी में 'मेनहीर' कहा जाता है। मृत्यु के एक मास बाद यह स्थापित किया जाता है। उस अवसर पर गाय या सूअर की बलि दी जाती है।

गोंड संस्कृति पर हिन्दू धर्म का पूरा प्रभाव पड़ा है। जो गोंड मैदान में रहते हैं, उन-पर आधुनिकता के प्रभाव के कारण बहुत अधिक परिवर्तन हो चुके हैं। पहाड़ी इलाके की गोंड जनजाति पर भी आधुनिकता का प्रभाव पड़ रहा है और वह दिन दूर नहीं जब गोंड प्रगति के पथ पर पूर्ण रूप से अग्रसर होते दिखायी देंगे।

अध्याय ५

उत्तर प्रदेश और पश्चिमी भारत की जनजातियाँ

उत्तर प्रदेश की जनजातियाँ

भौगोलिक दृष्टि से उत्तर प्रदेश भारत का सबसे बड़ा राज्य है। यहाँ कई तरह की जनजातियाँ पायी जाती हैं। जनजातियों के प्रसार, वितरण एवं जनसंख्या के आधार पर उत्तर प्रदेश का विभाजन इन दो क्षेत्रों में सम्भव है—

(क) **तराई क्षेत्र**—यह उत्तर प्रदेश के उत्तर में है, जो भोटिया (Bhutia), बुक्सा (Buksa), जौनसारी (Jaunsari), राजी एवं थारू (Raji and Tharu) जनजातियो की निवास-भूमि है।[1]

(ख) **पहाड़ी क्षेत्र**—उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भाग के पहाड़ी क्षेत्रों में कोल एवं कोरवा पाये जाते हैं।

१९७१ की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश की कुल जनसंख्या ८,८३,४१,१४४ है। इसमे आदिवासियो की जनसख्या १,९८,५७५ है जो समस्त जनसंख्या का ०.२२ प्रतिशत है। इन सभी जनजातियो का विस्तृत अध्ययन नही हुआ है। इनके जो अध्ययन हुए हैं, वे बहुत पहले के है और उनका अध्ययन नये सिरे से होना आवश्यक है। इनमे से कुछ प्रमुख जनजातियो की जीवन-प्रणाली के बारे में जानना आवश्यक है।

थारू

थारू उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र में पाये जाते हैं। नैनीताल की किच्छा तहसील के खितारगंज और खातिमा परगनो में थारुओं की संख्या अधिक है। थारुओं पर कई विद्वानों ने कार्य किया है, जिनमें मजुमदार (१९४४), श्रीवास्तव (१८५८), सिंह (१९६५) आदि प्रमुख हैं।[2]

---

१. १९६७ ई० के पूर्व उत्तर प्रदेश में कोई भी अनुसूचित जनजाति घोषित नहीं थी। इन्हें १९६७ ई० में अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया है।

२. द फोर्टून ऑव प्रिमिटिव ट्राइब्स, लखनऊ, १९४४;

थारू जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो में अनेक मत हैं। उनके अनुसार थारू मंगोल प्रजाति के है। निम्नलिखित तालिका से थारुओ की जनसख्या एव वितरण की जानकारी होती है :

जिला	१८९१	१९०१	१९११	१९२१	१९३१	१९४१	१९६१
नैनीताल	१५,३९७	१६,०५८	१९,३७२	१८,४८८	२०,७५३	१५,४९५	२६,१५०
खीरी	१,९७५	१,५५८	१,९१६	४,१९४	३,६२४	४,९३९	१०,०४७
गोंडा	२,४७५	१,४६०	३,४५८	२,९९०	४,०१४	३,०२३	४,२५१
बहराइच	२,३११	१,५९९	८४२	१,२१५	१,५३१	६४१	२,५६८
गोरखपुर	३,०७१	२,७४७	२,०३३	१२७२	१,६३५	१,२७२	१,१०६
बस्ती	२०८	४९	७६	३	२	११	–
पीलीभीत	४६	६०	२२	१२	४	–	–
योग	३५,४९२	२४,२३२	२७,७२०	२८,९३४	३१,५८३	३५,३९१	४४,२८८

थारुओ का मुख्य पेशा खेती है। वे खेती से सम्बन्धित बहुत से टोटके एव पूजा करते हैं। खेती के अलावा जगल से जगली कन्द-मूलो का चयन भी करते हैं। थारू कृषक मजदूरो के रूप मे भी काम करते है। वे महावत का काम बडी खुशी से करते हैं। शिक्षा के प्रसार के कारण कुछ लोग शिक्षक, लेखपाल, ग्रामसेवक आदि पदो पर भी कार्य कर रहे हैं। थारू औरते अपनी वस्तुओ का दूसरे से आदान-प्रदान करती है। चावल उनका मुख्य भोजन है। उनकी अपनी पंचायत भी है जहां वे प्रायः आपस मे मिलकर अपनी शिकायतो को दूर करते है।

द थारूस–ए स्टडी इन वेअर कल्चरल डाइनैमिक्स, अहमदाबाद, १९५८;
द तराई रीजन ऑव यू० पी०, इलाहाबाद, १९६५;
विस्तृत जानकारी के लिए देखिये–द तराई रीजन ऑव यू० पी०, एल० आर० सिंह, पृ० १०५।

उनकी मुख्य देवी कालिका है, किन्तु शिक्षा के प्रसार एवं पर-संस्कृतीकरण के प्रभाव-स्वरूप वे हिन्दुओं, मुसलमानों एवं सिक्खों के भी कई देवी-देवताओं की पूजा करने लगे हैं। भरारा (मेडिसिन मैन) की मुख्य आराध्या कालिका देवी हैं, जिनका वे अपने मन्त्रों के द्वारा आवाहन कर आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। समय-समय पर उनकी पूजा होती है और उन्हे बलि भी दी जाती है। भैरव या महादेव भी उनके आराध्य हैं। उनका शिवलिंग पत्थर का न होकर बाँस का होता है जिसकी पूजा वे बड़ी धूमधाम से करते हैं। वे सत्य-नारायण भगवान् की भी पूजा करते है और हिन्दू ब्राह्मणो से कथा कहने का आग्रह भी करते हैं। वे राम एव कृष्ण की भी पूजा करते हैं। इसके अलावा वे कई अन्य छोटे-छोटे देवी-देवताओ की भी पूजा करते हैं, जिनमे बीर, आक, गरार, रतिनाथ, देवहर, सावन, लूटा इत्यादि प्रमुख है। इनके अलावा वे अन्य की भी पूजा करते है जिनमे पर्वतिया गुण्यगिरि, बनस्पति, भेरमेल इत्यादि प्रमुख हैं। थारू गाय, बन्दर और साँप को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और समय-समय पर उनकी पूजा करते है। वे वृक्षों में पीपल की पूजा बड़ी श्रद्धा से करते हैं।

बदलते परिवेश मे उन्होंने कई त्यौहारो को अपनाकर अपने सामाजिक जीवन को रंगीन बनाया है। वे प्राय. सभी हिन्दू त्यौहारो को मनाते हैं, जिनमें होली, दशहरा, दिवाली, नागपंचमी, जन्माष्टमी इत्यादि प्रमुख है।

होली उनका मुख्य त्यौहार है। यह फाल्गुन पूर्णिमा से आठ दिनों तक मनाई जाती है। इस अवसर पर वे नाचते-गाते है और रंग और अबीर का खुलकर प्रयोग करते हैं। इसमे भद्दी गालियाँ और मजाक-भरे गीत भी गाये जाते हैं। इस अवसर पर थारू औरतें भी पुरुषों के साथ नाचती-गाती हैं।

अन्य जनजातियों की तरह उनके बीच जादू-टोने का प्रयोग भी बहुलता से होता है।

थारू ईमानदार, सरल, सीधे और शांतिप्रिय होते हैं। उन्हें अपनी सामाजिक परम्परा एव रीति-रिवाजो मे पूर्ण आस्था है।

विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि थारू अपने को आदिवासी की श्रेणी में नहीं गिनते। वे अपने को हिन्दू मानते है और अपनी जाति राजपूत बतलाते हैं।

कोल

उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में कोल पाये जाते हैं। ये मध्य प्रदेश (३,८६,००९) और उत्तर प्रदेश (१,२६,२८८) में सबसे अधिक पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश की जनजातीय जनसंख्या का २२ प्रतिशत कोल जाति का है जो अन्य जनजातियों की तुलना में अधिक है।

ये महाराष्ट्र (५२) और उड़ीसा (४६,३१७) मे भी पाये जाते हैं। कोल उत्तर प्रदेश में अधिकतर वाराणसी, मिर्जापुर, इलाहाबाद और बाँदा जिलो में हैं।

निम्नलिखित तालिका कोल जनजाति के वितरण पर प्रकाश डालती है :

कोल की जनसंख्या

क्षेत्र	जिला	प्रखण्ड	जनसंख्या	परिवार की संख्या
इलाहाबाद	इलाहाबाद	माडा		
		उरवा	४०,३६५	८,०१६
		शंकरगढ़		
		करछना		
		चक		
झाँसी	बाँदा	मानिकपुर	१५,२१९	२,५७३
		मऊ	५,५४०	१,२४०
		चित्रकूट	७५७	१३९
वाराणसी	मिर्जापुर	शहर		
		रार्वटसगज		
		मैदान	६५,६२२	१३,१००
		हलिया		
		राजगढ		
	वाराणसी	नौगढ	३,५०७	३५५
		सारेवगन	१६९	२९
		योग—	१,३१,१७९	२५,४५२

इलाहाबाद मे केवल कोल ही पाये जाते हैं। वाराणसी मे वे चेरो और खेरवारों के साथ रहते है। बाँदा मे कुछ गोड भी पाये जाते हैं।

कोल का मुख्य पेशा खेती है। ये कृषक मजदूर के रूप मे तथा अन्य तरह की मजदूरी करके अपना जीवन-यापन करते है। खेती के अलावा ये पशुपालन भी करते है।

इनकी अपनी पचायत होती है और दूसरी जनजातियो की तुलना मे इनमें राजनीतिक चेतना कहीं अधिक है।

ये दूल्हा देव, बैरम एवं बड़े देव जैसे देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। इनका अपना मन्दिर होता है जहाँ वे धूमधाम से पूजा करते हैं। ये भूत-प्रेत में भी विश्वास करते हैं। जादू-टोना में भी इनका विश्वास है, और ये उसका प्रयोग भी करते हैं। साधु-संन्यासियों को वे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

बदलते परिवेश मे कोल भी बदल रहे हैं।

कोरवा

यह बहुत ही पिछड़ी जनजातियों में से एक है जिसकी जानकारी बहुत ही कम है। यह जनजाति उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर, मध्य प्रदेश के जशपुर और सरगुजा और बिहार के पलामू जिलो मे मुख्य रूप से पायी जाती है।

उत्तर प्रदेश के कोरवा का मजुमदार ने (१९२९) ने कुछ बृहत् अध्ययन किया था, किन्तु यह पूर्ण नही है। इसपर विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है। पलामू के कोरवा का सण्डवार ने विस्तृत रूप में अध्ययन किया है (सण्डवार: १९७२)।[1]

उत्तर प्रदेश में कोरवा मिर्जापुर के कुछ हिस्सों, जैसे दुद्धी परगना, जो सोन नदी के दक्षिण मे है तथा सरगुजा की उत्तरी सीमा में पाये जाते है। ये बिहार के बाँका थाना में अधिक सख्या मे पाये जाते हैं जो सरगुजा की सीमा पर है।

कोरवा को भौगोलिक आधार पर दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी के कोरवा पहाड़ों पर छुट-पुट सख्या में पाये जाते हैं जिन्हें पहाड़ी कोरवा कहते हैं और दूसरी श्रेणी के कोरवा समतल क्षेत्रों में रहते हैं जिन्हें डीहा कोरवा कहते हैं। पहाड़ी कोरवा मुख्यतया जंगली कन्द, मूल एवं शिकार पर निर्भर करते हैं और वे अपना निवास बदलते रहते हैं। इन क्षेत्रों में ये अभी भी जंगली जाति के रूप में प्रसिद्ध हैं। पहाड़ी कोरवा पहले बेमोरा खेती (शिफ्टिंग कल्टिवेशन) भी करते थे, लेकिन सरकारी बन्धन के कारण अब इस तरह की खेती बन्द हो गयी है। इनका जीवन-स्तर बहुत ही निम्न है। डीह कोरवों में से जो खेती करते हैं उनकी आर्थिक अवस्था और रहन-सहन अपेक्षाकृत पहाड़ी कोरवा से अच्छा है।

---

१. मजुमदार, डी० एन०: द कोरवा ऑव यूनाइटेड प्रोविन्सेज, मैन इन इण्डिया, जिल्द ९, पृ० २३७-२५०, १९२९।

सण्डवार, ए० एन०, द कोरवा ऑव पलामू: ए स्टडी ऑव देयर सोसायटी एण्ड इकोनोमी (पी-एच० डी० थीसिस, सबमिटेड टु राँची यूनिवर्सिटी, १९७२, अप्रकाशित)।

मिर्जापुर के कोरवा अपने लोगों को तीन श्रेणियों में विभक्त बतलाते हैं। ये श्रेणियाँ हैं—(१) डीह कोरवा, (२) डड कोरवा और (३) पहाड़ी कोरवा। शुरू में एक श्रेणी में शादी नहीं होती थी किन्तु अब ऐसा बन्धन नहीं है।

अन्य जनजातियों की भाँति, ये अपनी जाति में ही विवाह कर सकते हैं। एक गोत्र में विवाह होना सम्भव नहीं है। इनके बीच क्रास कजन, लैमीरेट, सोरोरेट इत्यादि विवाह सम्भव हैं।

लेकिन पलामू के कोरवा के बीच ऐसा होना सम्भव नहीं है। विवाह स्त्री-मूल्य चुकाने पर ही होता है। विधवा-विवाह भी इन लोगों में प्रचलित है। ये एक-दूसरे को तलाक भी दे सकते है। इन लोगों के बीच विवाह विभिन्न प्रकार के होते हैं, जिनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनमें बहुत कम पैसा खर्च होता है।

इनकी अपनी पंचायत होती है जिसे 'मैयारी' कहते हैं। सारे गाँव के कोरवा के बीच एक प्रधान होता है जिसे 'मुखिया' कहते हैं। बडे-बूढ़े जो बुद्धिमान हैं, कोरवा पंचायत के सदस्य होते है। वे लोग आपस में मिलकर किसी भी मुकदमे का फैसला करते हैं। यह फैसला सबको मान्य होता है।

इनका घर बहुत ही साधारण होता है। ये जंगल में घास-फूस से बने छोटे-छोटे घरों में रहते है। जो लोग गाँव मे बस गये है, वे बाँस और लकड़ी के घर बनाते हैं जिन्हें वे खपड़े और पुआल-खर से छाते है।

मरने पर मृत शरीर को जलाते और गाड़ते भी है अर्थात् दोनों प्रथाएँ प्रचलित है। पहाड़ी कोरवाओं के बीच केवल गाड़ने की ही पद्धति है। साँप काटने से, चेचक या प्लेग की बीमारी से मरने पर मृत शरीर को जाति-परम्परा के अनुसार न तो जलाया जाता है और न गाड़ा ही जाता है वरन् या तो जंगल के अन्दर फेंक दिया जाता है या नदी में प्रवाहित कर दिया जाता है।

कोरवाओं में अत्यधिक धार्मिक आस्था मिलती है। ये भगवान्, सूर्य और चण्डी देवी के अलावा पितर-पूजा में भी विश्वास रखते है। पहाड़ी कोरवा जंगली कन्द-मूल इत्यादि की अच्छी फसल के लिए पूजा करते हैं जब कि इसके विपरीत डीह कोरवा धान, मकई इत्यादि की अच्छी फसल के लिए पूजा करते हैं। इन लोगों का मुख्य त्योहार करमा है। इन लोगों में सर्पपूजा की प्रथा भी पायी जाती है।

समय के साथ ही कोरवा जाति में आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं किन्तु इनका जीवन-स्तर बहुत ही निम्न है।

हिमाचल प्रदेश के आदिवासी

१९७१ की जनगणना के अनुसार हिमाचल प्रदेश की कुल जनसंख्या ८,२३,४१,१४४ है। इनमें आदिवासियों की कुल जनसंख्या १,९८,५६५ है जो कुल जनसंख्या का ०.२२ प्रतिशत है। हिमाचल प्रदेश में गद्दी, गूजर, जाद, किन्नर, लाहउला, पगवाला, और स्वागला नामक अनुसूचित आदिवासी पाये जाते हैं। १९६१ की जनगणना के अनुसार उनकी अलग-अलग जनसंख्या निम्नांकित है :

१—गद्दी	५१,३५६
२—गूजर	१६,८८७
३—जाद, लम्बा, खम्बा और भोट या बोध	२,०१६
४—कनौर या किन्नर	२७,२५१
५—लाहउला	२,८६०
६—पगवाला	७,७२४
७—अवर्गीकृत	१००
योग—	१०८,१९४

राजस्थान के आदिवासी

राजस्थान की कुल जनसख्या १९७१ की जनगणना के अनुसार २,५७,६५,८०६ है तथा आदिवासियोकी जनसंख्या ३१,२५,५०६ है जो सारी जनसंख्या का १२.१३ प्रतिशत है। यहाँ भील, भीलचीना दामोर या दमरिया, गरसिया (राजपूत गरसिया को छोड़कर), मीना या सेहरिया या शहरिया नामक जनजातियाँ हैं। १९६१ की जनगणना के अनुसार इनकी जनसख्या निम्नलिखित है :

१—भील	९,०६,७०५
२—भीलचीना	२,०६३
३—दामोर या दमरिया	१४,५३४
४—गरसिया	६२,५०९
५—मीना	१,१५,१६२
६—सेहरिया या सहरिया	२३,२९९
७—अवर्गीकृत समुदाय	१,८६,७४०
योग—	२३,५१,४७०

भील

भील का स्थान भारत की अनुसूचित जनजातियो में तीसरा है। जनसंख्या के अनुसार भीलों का राजस्थान में अपना महत्त्व है। ये निम्नलिखित प्रान्तो में पाये जाते हैं:

गुजरात	११,२४,२८२
मध्य प्रदेश	१२,२६,६३०
राजस्थान	६,०८,७६८
महाराष्ट्र	५,७५,०२२
योग–	३८,३८,००२

राजस्थान के भील आदिवासी राज्य की अन्य जनजातियो मे प्रमुख स्थान रखते हैं। ये अधिकाशतया राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों के किनारे पाये जाते हैं। उदयपुर, सिरोही, डूंगरपुर और बांसवाडा जिलो की सीमाएँ, गुजरात के साबरकांठा पंचमहल और बनासकांठा जिलो से मिलती हैं। राज्य के ये ही जिले भील जनजाति के लोगों के निवास-केन्द्र हैं। राज्य के अनुसूचित क्षेत्रो में से डूंगरपुर, बांसवाडा तथा चितौड़ जिले की प्रतापगढ तहसील में से प्रधानत दो जिलो (डूंगरपुर, बांसवाड़ा) मे भील जनजाति निवास करती है। इस तरह उदयपुर जिले मे भीलों की जनसख्या २,२६,६६१ है। राज्य भर मे उनकी पूरी जनसख्या ६,०६,७०५ है।

सभी राज्यो के भील अपने को एक ही भील जाति के अंग मानते हैं[1]। इन्होंने विश्वसनीय सैनिको के रूप मे राजस्थान के राजाओ की ओर से मुगल बादशाहों से लडाइयाँ लडी हैं। आरम्भ मे भील मुख्य रूप मे 'शिफ्टिग कल्टिवेशन' करते थे।[2] किन्तु अब भीलो की मुख्य आजीविका कृषि है। भीलो की प्रधान बस्तियाँ राजस्थान के दक्षिणी भाग मे मगमेर, मगरा आदि स्थानो मे केन्द्रित है। सारा प्रदेश जगलो से घिरा है। अतः यहाँ की भूमि उपजाऊ नही है। स्वभावतया भील अलग-अलग पहाड़ी टेकरियो पर झोपड़ियाँ बनाकर रहते हैं। अलग-अलग झोपडियो को मिलाकर 'फला' बनता है और 'फला' सम्मिलित होकर गाँव बनता है जिसे 'पाल' कहा जाता है।[3] जमीन के उपजाऊ न होने के कारण, मवेशियों की कमी, सिंचाई के अभाव, खाद की

१. नायक, टी॰ बी॰ : ट्राइबल गुजरात इन ट्राइब्स आव इण्डिया, पृ० सं० १६८।
२. वही, पृ० सं० १६६।
३. व्यास, नरेन्द्रनाथ : राजस्थान में भीलों का आर्थिक जीवन, लेख–राजस्थान के भील, पृ० ३।

कमी इत्यादि बहुत से कारणों से भील की खेती की पैदावार बहुत कम है और उनकी आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय है।

भील समुदाय का महत्त्वपूर्ण अंग ग्राम होता है। नियन्त्रण और संगठन की दृष्टि से उनके इस अंग का सर्वाधिक महत्त्व है। ये कई प्रकार के गाँवों में निवास करते हैं, जैसे बहुजातीय ग्राम, सघन भील-ग्राम और बिखरा ग्राम।

ये अनेक बहिर्विवाही कुलों में बँटे हुए हैं जिन्हें ये जात या अखड़ कहते हैं। एक ही कुल में विवाह वर्जित है। यदि कोई दूसरी जाति में विवाह करता है तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उसे अपनी जाति में तभी मिलाया जाता है जब वह जाति-पंचायत को जुर्माना दे देता है। विवाह बहुत से रीति-रिवाजों द्वारा सम्पन्न होता है। वधू-मूल्य चुकाये बिना विवाह सम्भव नहीं है। भील बाला का विवाह परिवार को आर्थिक लाभ पहुँचाता है। आजकल पति के पिता को वधू-मूल्य देना होता है। इन लोगों के बीच विधवा-विवाह भी प्रचलित है। स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को तलाक भी दे सकते हैं।

इन लोगो की अपनी जाति-पंचायत होती है जिसमें बड़े-बूढ़ों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

भील समुदाय में मृतक को केवल जलाया जाता है। मृत्यु से लेकर एक वर्ष तक नित्य मृत व्यक्ति के नाम से खाना दिया जाता है। पर्व-त्योहारो के अवसर पर भी जितने पकवान बनते हैं, उनमें से थोड़ा-थोड़ा निकालकर मृत व्यक्ति के नाम से अलग किया जाता है।

जहाँ तक भील धर्म का प्रश्न है यह उल्लेख्य है कि इस जाति में अधिकतर भूत-प्रेत की ही पूजा की जाती है। इसके अलावा भील बहुत से देवी-देवताओं को भी पूजा करते हैं। बहुत से देवी-देवता पहाड़, जंगल, पानी, इत्यादि से सम्बन्धित हैं। उनके त्योहार में 'जतरा' मुख्य है।

यद्यपि उनकी आस्था अपने पुरातन धर्म में है, तथापि बहुत से धार्मिक आन्दोलनों, जैसे सुरमादास का आन्दोलन, गोविन्द गिरि का आन्दोलन[1], इत्यादि का उनके जीवन के धार्मिक और अन्य पहलुओं पर प्रभाव पड़ रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य कारणों से भी उनके जीवन में बहुत-से परिवर्तन हुए हैं।

---

१. विस्तृत जानकारी के लिए देखिए, 'राजस्थान के भील', पृ०० ३१-३६।

उनका आर्थिक जीवन निम्न स्तर का है तथापि तभी वे मुख्यतया ईमानदार और कर्मठ होते है।

गुजरात की जनजातियाँ

१९७१ की जनगणना के अनुसार गुजरात की जनसंख्या २,६६,१७,४७५ है जिनमें जनजातीय लोगों की जनसख्या ३७,३४,४२८ है जो सारी जनसंख्या का १३.९४ प्रतिशत है।

गुजरात की जनजातियो मे नायक जाति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। १९६१ की जनगणना के अनुसार उनकी आबादी ६५,६३० है।

कुछ स्थानो मे नायक को 'नायकदा' भी कहते हैं। ऐसे तथ्य उपलब्ध हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि कभी ये एक ही जाति के थे जो बाद मे अलग-अलग स्थानो पर जाकर बस गये।[1]

नायक बहुत विस्तृत क्षेत्रो मे फैले हुए है—पूरब मे पंचमहल, उत्तर मे सम्भवतः राजस्थान और बनासकाँठा, दक्खिन मे सूरत, भड़ोच, राजापीपला और कुछ पश्चिम मे सौराष्ट्र तथा कच्छ मे।

नायक तीन शाखाओ—ऊँचा, नीचा और चोलीवाला—मे विभक्त हैं। चोलीवाला का स्थान मर्यादाक्रम की दृष्टि से ऊँचा से नीचा है, लेकिन नीचा से ऊपर है। ऊँचा नायक चोलीवाला नायक नीचा से वधू ले सकता है लेकिन किसी ऊँचा नायक से नही। ऊँचा, नीचा और चोलीवाला पुन छोटी-छोटी शाखाओ में विभाजित है।

नायक प्राय भूमिहीन मजदूर होते है। इनकी आर्थिक अवस्था बहुत निम्न है अतः इनमे गरीबी बहुत ज्यादा पायी जाती है।

नायको के यहाँ स्त्रियो का स्थान काफी ऊँचा है। आर्थिक व्यवस्था मे इनकी भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। विवाह के समय लडकियो की इच्छा को महत्त्व दिया जाता है। वे अपनी इच्छा से शादी कर सकती हैं। वे तलाक भी दे सकती हैं और उन्हें दूसरी शादी करने की भी स्वतन्त्रता है।

विवाह के समय लड़केवाले को लडकीवालों के लिये वधू-मूल्य देना पड़ता है। पहले वधू-मूल्य ५० रुपया था, लेकिन अब इसका महत्त्व समाप्त होता जा रहा है और अब यह केवल २५ रुपया ही रह गया है।

---

१. वही, पृ० ९।

इनके यहाँ भगवान् की अनिच्छा को मृत्यु का कारण माना जाता है। मृतक को जलाया या गाड़ा जाता है। हिन्दू रीति के विपरीत इनके यहाँ मृतक का अग्नि-संस्कार पैर से होता है, न कि मुख से। मृत्यु के समय से लेकर अन्य सभी मृत्यु-संस्कारों के सम्पन्न होने तक ये ढोलक बजाते हैं। मृत शरीर को गाड़े जाने के ग्यारहवें दिन उसके नाम की पत्थर या लकड़ी की मूर्ति बनाकर जलाते हैं।

अन्य आदिवासियों की तरह इनकी भी अपनी धार्मिक व्यवस्था है। ये हिन्दुओं की तरह नित्य पूजा नही करते, परन्तु वर्ष के निश्चित त्यौहारों के समय पूजा करते हैं। इनके मुख्य देवता बाबा टूनदावो, बमोरियो डुगर इत्यादि हैं। इसी प्रकार देवियो में फेनी माता, मेराई माता, अनवाई माता इत्यादि हैं।

इनके अपने लोक-नृत्य हैं। स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित रूप से नृत्य करते हैं। विवाह, होली आदि पर्वों मे ये मस्त होकर नाचते गाते हैं। इनके और भीलों के लोक--नृत्य आज भी देखने को मिलते हैं।

साबरकाँठा के गेडब्रह्म और दाता अंजामी के आदिवासियो और भीलो के लोक--नृत्य पर राजस्थानी प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है। होली के दिनो मे ये लोग मस्त होकर नाचते-गाते हैं और जी भरकर रग-मस्ती मनाते हैं।

अतः हम देखते है कि उत्तर प्रदेश और पश्चिम भारत में भिन्न-भिन्न प्रकार के जो आदिवासी निवास करते है उनका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये अब भी आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से दूसरे लोगो की अपेक्षा बहुत ही पिछड़े हुए हैं। इनकी समस्याएँ अनेक हैं जिनका सुचारु रूप से अध्ययन नही हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि इनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, और समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक रूप में हो जिससे इनकी आर्थिक, सामाजिक, और अन्य समस्याओ का निदान हो सके। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इतने वर्ष बाद भी इनकी अवस्था मे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही हो सका। अतः आवश्यक है कि सरकार और मानव वैज्ञानिक मिलकर इस दिशा मे प्रयास करें जिससे वे भी अन्य लोगों की भाँति जीवन जी सके।

अध्याय ६

दक्षिण भारत की जनजातियाँ

दक्षिण भारत मे जनजातियों के सम्बन्ध मे जो आँकडे उपलब्ध हैं वे विश्वसनीय नही हैं क्योंकि ये जातियाँ विशेष रूप से जंगलो में रहनेवाली हैं और इसी कारण उनकी जनगणना करना बहुत कठिन कार्य है। दक्षिण भारत में जनजातियों की जनसंख्या विशेषतया दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र के पहाडो और जंगलों मे है। मद्रास में ये जातियाँ पायी जाती है—(१) टोडा, (२) कादर, (३) इरुला, (४) कोटा, (५) अडियान, (६) कट्टनाथ आनस, (७) करुमानस, (८) कुरूचियानस, (९) मल्लासेरस, (१०) मुथ्वानस, (११) पुलायन्स, (१२) मलयाली, (१३) कुसमवास, (१४) इगला-वानस, (१५) मुतीयनस, (१६) मनानम, (१७) पुली-यानस, (१८) उगली, (१९) विश्वनाम। इनमे कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनकी सख्या बहुत कम है और वे प्राय. समाप्त होने की अवस्था पर आ पहुँची है। कुछ ऐसी भी जनजातियाँ है जिनके बारे मे बहुत थोडी जानकारी उपलब्ध है।

दक्षिण भारत की जनजातियो को तीन श्रेणियो में बाँट सकते हैं—प्रथम ऐसी जातियाँ जो वन्य जातियाँ है और अपने जीवन को निभाने के लिए उसी प्राचीन जंजीर में बँधी हुई है परन्तु वे वन और पर्वतो मे इस प्रकार लिपटे पडे हैं कि उन्हें सरकार द्वारा दिये गये मकान, खेत तथा अन्य सुविधाएँ अच्छी नही लगती। कुछ समय के लिए वे नीचे भी आ जाते हैं परन्तु इधर आने के बजाय उनकी निरतर यह चेष्टा रहती है कि वे अपने पुराने स्थान पर चले जायें। इन जातियों मे कुछ तो अपना कद-मूल जमा कर ही जंगलों मे अपना जीवन-निर्वाह करते है। परन्तु समय के प्रभाव से वे किसी न किसी दिन शिकार होकर ही रहेंगे।

दूसरे प्रकार की जनजातियाँ, जो परिवर्तित संस्कृति से प्रभावित हुई हैं, गाँवों में बस गयी हैं और उन्होने हल की खेती को अपना लिया है, परन्तु फिर भी अपनी जाति, मूल गीत और नृत्य को सुरक्षित रखे हुए हैं। इनमें शिक्षा का जागरण हो चुका है, फिर भी आधुनिकता की नयी परिस्थितियों को ग्रहण करने के प्रति अथवा सुगम स्थानों में जाने के प्रति ये उदासीन पाये जाते हैं।

पुनः जनजातियों में वे भाग हैं जो गाँवों को छोड़कर शहरों में जा बसे हैं या जिन्हें व्यावसायिक केन्द्रों में खानों और कारखानों द्वारा अधिक बनाया गया है और बसने को बाध्य किया गया है। रेलों और सड़कों के बन जाने से इनकी सुरक्षा नष्ट हो गयी है। इस तरह इन्हें जीवन के नये स्वरूपो की सुविधा और प्राचीन रीतिरिवाजों में असुविधा का ज्ञान इस जीवन-संघर्ष में सीखने को मिल गया है। अतः भूल-चूक के सिद्धान्तों के आधार पर उन गुणों का समावेश किया गया है जो अल्प सांस्कृतिक बोध द्वारा लायी गयी असंतुष्टि की भावना को दूर करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। अभी तो वास्तव में उन्हें जनजाति समुदाय की मिश्रित संस्कृति की संज्ञा दी गयी है। आदिम जातियो का बड़ा भाग इस श्रेणी में आ जाता है।

दक्षिण भारत की कुछ विशेष जनजातियों के बारे मे उल्लेख कर देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

टोडा

दक्षिण भारत मे टोडा जनजाति है। भारत की जनजातियों मे इसका स्थान आता है। लगभग दस वर्ष पूर्व तक इनकी जनसंख्या का ह्रास हो रहा था परन्तु मद्रास सरकार के स्वास्थ्य विभाग द्वारा इसपर विशेष ध्यान दिया गया तथा इस जनजाति को नष्ट होने से बचा लिया गया है। यद्यपि इसकी जनसख्या १९६१ के अनुसार लगभग ७१६ है, फिर भी इन्होंने संसार के प्रत्येक मानव-विज्ञानियों का ध्यान आकृष्ट किया है तथा मानव-विज्ञान की प्रत्येक पुस्तक मे इनका उल्लेख मिलता है। ये देखने मे पर्याप्त मजबूत और हट्टे-कट्ठे लगते हैं। बलिदान के बाद ही ये मांस-भक्षण करते हैं। इनकी झोपड़ियाँ नीलगिरि के पहाड़ो पर बनी हैं। इन झोपड़ियों तथा इनकी बस्तियों में सबसे आकर्षित करनेवाली वस्तु है इनकी पवित्र गोशाला, गोशाला के पुजारी तथा भैंसों के प्रति इनके पवित्र कार्य और भावना।

टोडा के मकान विशेष प्रकार के होते हैं। स्थानीय भाषा में उन्हें आरस कहते हैं जो लम्बे ड्रम की शक्ल के गोलाकार होते हैं। साधारणतया ये लगभग ६ मीटर लम्बे, ३ मीटर ऊँचे और ३ मीटर चौड़े होते हैं।

टोडा देखने में हृष्ट-पुष्ट और लम्बे होते हैं। इनके चमड़े का रंग सफेद, शरीर की लम्बाई पूरी और नाक सुन्दर होती है। टोडा में भूमध्यसागरीय प्रजाति के तत्त्व वर्तमान हैं।

टोडा बहुपतित्व-विवाह-प्रणाली के लिए उल्लेखनीय हैं। परिवार के सभी भाइयों के लिए साधारणतया एक ही पत्नी रहती है।

कादर

जंगलों में कन्द-मूल और फल-फूल जमा करनेवाली जनजातियों मे कादर का स्थान भी महत्वपूर्ण है। कादर, जिनकी सख्या एक हजार से भी कम है, आज भी जगलो मे फल जमा करते हैं तथा उसी पर इनका जीवन-निर्वाह होता है। विशेष रूप से ये कोचीन के पहाड़ो पर पाये जाते है। इनकी भाषा बिगड़ी तमिल है जिसमे मलयालम के शब्द भी मिले हुए हैं। आधुनिक सभ्यता के सयोग से तथा उनके बीच सरकारी कर्मचारियों की अधिकता से उनका रहन-सहन बदला है और निरतर बदलता जा रहा है। जगलो से जो ये निर्वाह की चीजे जमा करते हैं, उनमे विशेष रूप से मोम, मधु, लहसुन तथा नाना प्रकार के पेड़ो की छाल तथा उनके रेशे, हरिण के सीग तथा हाथी-दाँत के टुकडे आदि मुख्य हैं। मधु और मोम जमा करना बहुत कठिन कार्य है पर इसे वे आसानी से तथा बडी खूबी से कर लेते है। बडी-बडी चट्टानो, पहाडो तथा पेडों पर ये लोग आसानी से चढते हैं। पहाड़ो पर चढने के बारे मे कादर लोगो में एक अन्धविश्वास यह है कि वे जिस रास्ते से पहाड पर चढते है, उसी रास्ते मे वे उतरते भी है, चाहे वह रास्ता कितना ही कठिन क्यो न हो। पहाड़ पर चढने के बाद यदि कोई अन्य निरापद रास्ता भी हो तो वे उसे पसन्द नही करते। कादर का सामाजिक जीवन साधारणतया भोजन जमा करने-वाले की तरह का है। इनके पास कोई भी पालतू जानवर नही रहता तथा ये खेती करने की विधियों से अनभिज्ञ हैं। ये बाँस की बडी सुन्दर-सुन्दर चीजे बनाते है। विशेष तया इनकी बनाई कघी, जिसे ये अपने बालो के पिछले भाग मे लगाते हैं, विशेष उल्लेखनीय है।

कादर झोपड़ियो में रहते हैं। इनकी झोपड़ियाँ चौकोर होती है। एरेनफेल्स का विचार है कि इनकी झोपडियाँ चौकोर होने का खास कारण इनका अन्य बाहरी सस्कृतियों से सम्पर्क है। कादर खेती करना नही जानते, फिर भी ये लकडी के द्वारा, जिससे ये खोदने का काम करते है, अपना कार्य चलाते हैं। व्यापारियों तथा जगलो के कार्यकर्ताओ के सम्पर्क मे आने से इनकी सस्कृति मे अनेकानेक परिवर्तन हुए है।

जो कादर पहाड़ को छोड़कर जमीन पर आ गये है, वे अपनी पुरानी कहानियाँ भूल गये हैं तथा अपने नाच-गान भी भूलते जा रहे हैं। इन कादरों मे कुछ तो ऐसे हैं जो अपनी भाषा के बदले अपने पड़ोसी हिन्दुओ की क्षेत्रीय भाषा बोलते हैं।

कुरूम्बा

इनके अतिरिक्त दक्षिण भारत की जातियों में बहुत-सी जातियाँ ऐसी हैं जिनकी संख्या बहुत कम है। कुरूम्बा, पनीयान तथा इरुला, जिनकी सख्या करीब-करीब ढाई

हजार है, नीलगिरि तथा वैयाड़ के पर्वतों पर अधिक रहते हैं परन्तु इनका निवास केवल इन्हीं पर्वतों तक सीमित नहीं है। कुरूम्बा, जो घने जंगलों में रहते हैं, मैसूर की पहाड़ियों पर छः सौ से नौ सौ मीटर की ऊँचाई पर पाये जाते हैं। ये अपने को पुराने तथा ऐतिहासिक पल्लव जाति की शाखा बतलाते हैं। सातवीं शताब्दी में इनके राजा काफी शक्तिशाली थे परन्तु चोल राजाओं से लड़ाई तथा लगातार पराजय से इनकी शक्ति का ह्रास होता गया और आज ये इस दशा में पहुँच गये हैं। इनके अनुसार कुरूम्बा की उत्पत्ति पुरानी पल्लव जाति से है। इससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि करनौल, कुड़ापाल, बेलारी, अनन्तपुर, उत्तरी तथा दक्षिणी आरककाट, सेलम, कोयम्बतूर, त्रिचनापल्ली तथा मदुरा में जितने भी कुरूम्बा बसते हैं, वे सब मिलाकर एक ही हैं। यद्यपि इनका सम्बन्ध हम पुराने पल्लव लोगो से लेते हैं, फिर भी इनकी बाहरी आकृति एक-दूसरे से बहुत भिन्न है। उदाहरणार्थ, कुरूम्बा तुलनात्मक दृष्टि से साफ तथा अच्छी आकृति के होते हैं। हो सकता है कि केवल कुरूम्बा ही पल्लव जाति की शाखा हो।

इराउली

अब हम एक अन्य जनजाति की ओर जाते हैं जिसका नाम इराउली है। इसका नाम का अर्थ होता है कालापन। इसके नाम से यही बोध होता है कि इस जाति का रंग बहुत ही काला है। इसकी झलक इस बात से पूर्ण रूप से मिल जाती है कि नीलगिरि पर्वत पर रहनेवाली जो अन्य जनजातियाँ हैं, जैसे मोराज, बदागा तथा टोडा, इनकी अपेक्षा अधिक साफ तथा सुन्दर होते हैं।

नीलगिरि की जनजातियाँ

नीलगिरि पर्वत पर उटकमंड के पास हम तीन जनजातियाँ पाते हैं। ये हैं—(१) टोडा, (२) कोटा, (३) बडागा। इनमे पहली पालतू जानवरों के जीवन से सम्बन्ध रखती है और इसके बारे मे ऊपर उल्लेख किया गया है। दूसरी, गृह-उद्योग-सम्बन्धी है तथा तीसरी कृषि पर आश्रित है। केवल पोशाक को छोड़कर ये साधारण लोगों से किसी भी प्रकार से भिन्न नहीं हैं। ये अच्छे घरो में रहते हैं तथा रहने का स्तर काफी ऊँचा है।

कोटा, जिनकी संख्या लगभग एक हजार है, बड़े अच्छे शिल्पी हैं। परन्तु अब इनके परम्परागत पेशे मे काफी परिवर्तन आये हैं। उटकमण्ड के पास के गाँवों में रहनेवाले कोटा आलू तथा अन्य प्रकार की सब्जी उगाते हैं। अब धान की खेती भी करने लगे हैं। बडागा, जिनकी संख्या लगभग एक लाख से ऊपर होगी, कृषि पर आश्रित हैं। इनकी बस्तियों के आस-पास काफी चौकोर खेत होते हैं जिन्हें ये जोतते-गोड़ते हैं। ये आलू

अपनी जमीन में उपजाते हैं जिन्हें वे मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता के बाजारों तक भेजते हैं। ये पहले इधर-उधर खेती करते थे परन्तु अब ये पूर्ण रूप से कृषक के रूप में एक ही जगह रहकर खेती करते हैं तथा रैयतदारी तरीके के अधीन हैं। इनकी औरतें भी खेतों में काम करती हैं। बडागा इस समय पर्याप्त रूप से विकसित हो गये हैं। खेती के अलावा उनके चाय और काफी के बगान भी है। कुछ गाँवो मे मैंने चाय तथा काफी के कारखानों को भी देखा है, जिनके मालिक बडागा थे। बडागा मे निश्चय ही आदिम संस्कृति की कोई भी विशेषता नही पायी जाती और संविधान मे इसका स्थान अनुसूचित जाति में है, न कि जनजाति मे।

अध्याय ७

जनजातियों की आर्थिक प्रणाली

जनजातियों की आर्थिक व्यवस्था को उनके सांस्कृतिक परिवेश के अन्तर्गत समझा जा सकता है। रूढ़िगत अर्थ-विज्ञान में अनार्थिक पहलू तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक संबंध अनपेक्षित समझे जाते हैं। आर्थिक मानव-विज्ञान मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक ढांचे में समावेश करता है। दूसरे शब्दों में, आर्थिक मानव-विज्ञान समाज की उप-प्रणाली की तरह आर्थिक जीवन का विश्लेषण है (मैनिंग नेश, १९६८, ३५९, खंड–४)। फर्थ के अनुसार आर्थिक मानव-विज्ञान मुख्यतया सामाजिक संबंधों के आर्थिक पहलुओं से संबद्ध है (१९५१, १३८)। अर्थ सामुदायिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है जो सामाजिक और सांस्कृतिक संगठनों के निर्माण में निर्णायक भूमिका प्रस्तुत करता है। अतः जनजाति का आर्थिक जीवन[1] उनकी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण लक्षण को समझने में सहायक है।

प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यों का अस्तित्व कायम रखने के लिए उनकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति अपने-अपने तरीके से करता है। प्रकृति, जो उनकी प्रथा, परंपरा एवं जनांकिकी गठन पर निर्भर करती है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती है। अतः उन लोगों द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक ही प्राकृतिक वातावरण में भी विभिन्न आर्थिक विधियों का विकास हुआ है। परन्तु विस्तृत परिभाषाओं के आधार पर बहुत-से विद्वानों ने उनके विस्तृत रूप से निर्धारित जीविका कमाने के तरीकों को वर्गीकृत कर दिया है। साधारणतया कहा जा सकता है कि लगभग प्रत्येक स्थिति में जनजातियों के बीच मिश्रित अर्थ-व्यवस्था है। किसी भी भारतीय जनजाति की अर्थ-व्यवस्था को किसी भी दशा में एक विशेष वर्ग के अन्दर नहीं रखा जा सकता। यह यथार्थ है कि एक जनजाति के लोग जीविकोपार्जन के लिए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त अनेक साधनों का उपयोग करते हैं। वे जंगल से पैदा होनेवाली विभिन्न वस्तुओं के संग्रह को कृषि या स्थानांतर कृषि के साथ समायोजित करते हैं अर्थात्

---

१. आर्थिक जीवन मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं से संबंधित है। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से संबंधित क्रियाएं, आर्थिक जीवन का एक अंग है।

सिर्फ खाद्य-संग्रह के साथ-साथ कृषि, लोगों की जटिल अर्थ-व्यवस्था का अपना प्राथमिक साधन है और यह उनके वर्गीकरण को विशेषीकृत करता है। यही विभिन्नता उनकी अर्थ-व्यवस्था है, जो विचार का विषय है।

मजुमदार (१९६६ १५३) ने भारतीय जनजातियो का उनके जीवन और पेशे के आधार पर वर्गीकरण प्रस्तुत किया है—(अ) शिकार एवं संग्रह की अवस्था, (ब) स्थानान्तर या झूम कृषि, लकड़ी काटना, सामग्री-उत्पादन, कत्था आदि, (स) व्यवस्थित कृषक, जो मुर्गी तथा जानवर रखते है, बुनना एव कातना जानते हैं तथा टीले पर खेती करना जानते हैं। मजुमदार ने मदन (१९७०:१९६-२००) के साथ दूसरा वर्गीकरण किया है—(१) खाद्य-संग्रह वर्ग, (२) कृषि वर्ग, (३) खोदकर स्थानान्तर कृषि वर्ग (४) दस्तकारी वर्ग, (५) चरागाही वर्ग (६) औद्योगिक श्रमिक वर्ग। दुबे (१९६९: २४७) ने भारतीय जनजातीय आर्थिक प्रणाली को पहले दो भागो में बाँटा है—(१) महत्त्व पूर्ण एव (२) अर्द्ध-महत्वपूर्ण एवं अंत में आर्थिक-व्यवस्था के निम्नलिखित प्रकार प्रस्तुत किये :

(१) महत्वपूर्ण (क) भोजन-संग्रह की अवस्था
(ख) अव्यवस्थित प्राथमिक कृषि की अवस्था
(ग) व्यवस्थित प्राथमिक कृषि की अवस्था
(२) अर्द्ध-महत्वपूर्ण (घ) पशुचारी
(ङ) निर्दिष्ट काश्तकारी एवं उद्योग से जीविकोपार्जन करती हुई जनजातियाँ
(क) वे जनजातियाँ जिनके लिए अपराध जीविका स्रोत की तरह है।

दास (१९६७) ने जनजातीय अर्थ-व्यवस्था को पाँच भागो में बाँटा है—(१) घुमंतू खाद्य-संग्रहकर्त्ता एव चरागाही, (२) पहाड़ी ढलान के स्थानान्तर कृषक, (३) पठार एव तराई क्षेत्र मे हल के द्वारा उत्पादन करनेवाले, (४) वे जनजातियाँ जो अंशतः हिन्दू सामाजिक व्यवस्था से जुडी हुई हैं और (५) पूर्ण रूप से सम्मिलित जनजातियाँ जिन्होंने हिन्दुओ के बीच अच्छी सामाजिक स्थिति प्राप्त कर ली है। अटल (१९६५) ने जनजातीय अर्थ-व्यवस्था को चार भागो मे विभक्त किया है अर्थात् भोजन-संग्रह, भोजन-संग्रह के साथ स्थानान्तर कृषि, व्यापार एवं घुमतू जीवन तथा पशुचारी। जे० एच० हुटन के अनुसार भारतीय जनजातियों मे ये तीन प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाएँ हैं :

(क) जनजातियाँ जो वन से खाद्य सामग्रियों का संग्रह करती हैं,
(ख) जनजातियाँ जो पशुचारी अवस्थाएँ में हैं और

(घ) जनजातियाँ जो कृषि, शिकार, मछली मारने एवं उद्योग पर आश्रित हैं।

फिर आर्थिक-जीवन के संदर्भ में जनजातियों का कुछ वर्गीकरण भी किया गया है। हिमालय के क्षेत्रों में, विशेषकर हिमालय के उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रों में, अर्थात् असम, अरुणाचल, मिजोराम, मेघालय, नागालैंड, मणिपुर और त्रिपुरा में समान्यतया जनजातियों ने झूम या स्थानान्तर कृषि को अपनाया है (विद्यार्थी १९६३:३३६)। दूसरी महत्त्वपूर्ण आर्थिक क्रियाएँ हैं, शिकार, मछली मारना एवं व्यवस्थित कृषि।

मध्य भारत, बिहार और उड़ीसा राज्यों में जनजातियों की आर्थिक व्यवस्था का वर्गीकरण किया गया है। भारत के विभिन्न भागों की जनजातियों को चित्रित करने के लिए उनकी पारिस्थितिकी, अर्थ-व्यवस्था, समन्वय के स्तर और परिवर्तन के क्रमों को ध्यान में रखते हुए उनका वर्गीकरण किया गया है। मूल रूप में वर्गीकरण पर विचार एवं उसका सूत्रीकरण १९५८ ई० में किया गया जो चार प्रकार का था। पुनः वर्गीकरण पर विभिन्न संदर्भों में भारत मे हुए सेमिनारों में विवेचन किया गया और सात प्रकार के संशोधित वर्ग प्रस्तुत किये गये जो इस प्रकार है—(१) वन में शिकार करनेवाले, (२) पहाड़ पर खेती करनेवाले, (३) समतल कृषक, (४) सरल कारीगर, (५) पशुचारी, (६) कृषि एवं गैर-कृषि श्रमिक (परंपरागत रूप से जनजातियाँ समतल कृषि एव सरल कारीगर वर्गों की हैं), (७) कार्यालयों, अस्पतालों, कारखानों आदि में काम करता हुआ कुशल एवं सफेदपोश नौकरी पेशा वर्ग। इस वर्गीकरण से शिकार एवं खाद्य-संग्रह से लेकर औद्योगिक चरण तक की विभिन्न अवस्थाओं का पता चलता है। उड़ीसा (विद्यार्थी, १९६३:३८५) की जनजातियों को आर्थिक दृष्टिकोण से तीन भागों मे बाँटा गया है—(क) शिकार एवं खाद्य संग्रहकर्ता, (ख) जंगल कृषक या स्थानान्तर कृषक, (ग) व्यवस्थित कृषक। दक्षिण भारतीय जनजातियो को भी तीन भागों (विद्यार्थी, १९६३:३९७–९८) मे वर्गीकृत किया गया है—(१) शिकारी एवं खाद्य-संग्रहकर्ता, (२) हल कृषक, (३) वैसी जनजातियाँ जो विभिन्न व्यापार-केन्द्रों, खानो और कारखानों मे काम करती हैं।

अतः प्रत्येक जनजाति की एक खास आर्थिक व्यवस्था है। प्रत्येक की अपनी जीवन-पद्धति है, अपना वातावरण और परिस्थितियाँ हैं जो उन्हें विभिन्न अर्थ-व्यवस्था में रखे हुए हैं। सभी वर्गीकरणों को ध्यान में रखते हुए एक वर्गीकरण नीचे प्रस्तुत किया गया है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना होगा कि कोई एक विशेष प्रकार की अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रूप से जनजातियों द्वारा नहीं अपनायी गयी। (१) वन में शिकार करनेवाला वर्ग (२) पहाड़ पर खेती करनेवाला वर्ग, (३) समतल पर कृषि करनेवाला वर्ग, (४)

सरल कारीगर वर्ग, (५) पशुचारी वर्ग, (६) लोक-कलाकार वर्ग, (७) कृषि एवं गैर-कृषि श्रमिक वर्ग—जनजाति का हिस्सा जो खानों में और कारखानों में काम करता है। परपरागत रूप से वे जनजातियाँ समतल भाग पर कृषि करनेवाले एवं सरल कारीगर वर्ग की हैं, (८) कुशल, सफेदपोश नौकरी और व्यापारी वर्ग—जनजातीय समुदायो के परिवार के कुछ व्यक्ति कार्यालयो, अस्पतालों, कारखानो, व्यापार-केन्द्रो मे कार्य कर रहे है और छोटे स्तर पर व्यापार कर रहे हैं।

ऊपर के वर्गीकरण मे पहले किये गये सभी वर्गीकरणों एवं जनजातीय समुदायों में हुए परिवर्तनो पर ठीक से विचार किया गया है। ऊपर के वर्गीकरण के आठ वर्गों में एक नया वर्ग लोक-कलाकार वर्ग भी समावेशित है। वे जनजातियो को, जो गायन, वादन, नृत्य एवं कलाबाजियाँ दिखाकर अपनी जीविका का अर्जन करती है, समावेशित करने के लिए ऐसा किया गया है। भिन्न-भिन्न विद्वानो ने विभिन्न अवसरो पर इन स्थानीय लोक-कलाकारो को अपराध या भूतपूर्व अपराध करनेवाली जनजाति या दूसरे वर्गों की श्रेणी मे रखा है। यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय एव राज्य सरकार की नौकरियो मे सुरक्षित स्थानो की व्यवस्था ने इनको थोडा नया आर्थिक जीवन दिया है।

वन मे शिकार करनेवाला वर्ग

वे जनजातियाँ, जो प्रधानतया खाद्य-सग्रह एव शिकार पर आश्रित हैं, इस वर्ग के अंतर्गत आती है। कुछ जनजातियो मे पूर्व की जीविका की यह पद्धति अभी भी वर्तमान है। वे लोग प्रचुर मात्रा मे पायी जानेवाली जड़ों, फलो और दूसरी खाद्य सामग्रियो, जैसे साग और कद आदि पर निर्भर करते हैं।

वन मे शिकार करनेवाली इन जनजातियो मे अर्थ के मुख्य तीन साधन है जो क्षेत्र एव चक्र के अनुसार बदलते है—(क) खाद्य-सग्रह, (ख) शिकार एवं (ग) मछली मारना। ये जनजातियाँ पूरे भारत के विभिन्न राज्यो एव छोटे-छोटे भागो में फैली हुई है। इन लोगों के भौगोलिक वितरण पर विचार करने से हमलोग हिमालय-क्षेत्र मे उत्तर प्रदेश (मजुमदार, १९६१ १५३) के राजी को पाते है। मध्य भारत में आने पर हमलोग बिरहोर, पहाडी खडिया, पडहिया, बिजिया, एव बिहार मे कोरवा को पाते है। पड़हिया, बिजिया एव कोरवा, ये तीन जनजातियाँ जगल में शिकार करनेवाली अवस्था से कृषि के द्वारा जीविकोपार्जन की अवस्था मे परिचालित हो रही हैं। जुआग भी इसी वर्ग मे आते हैं। इस प्रकार की जनजातियो की सख्या दक्षिण भारत मे सबसे अधिक है, यद्यपि पश्चिम भारत मे इस प्रकार की जनजातियो का एक भी उदाहरण नही मिलता। दक्षिण भारतीय जनजातियाँ ये हैं—आन्ध्र प्रदेश की चेंचु एवं चाडी, केरल में मालाबार की

कदार, माला पंतरम, अरंडान एवं कुरुम्बा, तमिलनाडु में मदुरई की पलियन एवं पदमान निकोबार द्वीप-समूह की ओंगे, आरवा सेंटिनल, शोपेन एवं निकोबारी जो जंगल में शिकार की आर्थिक व्यवस्था पर आश्रित रहती हैं ।

संख्या के हिसाब से जंगल में शिकार करने वाली गरीब जनजातियों की संख्या लगभग एक हजार है । उन लोगों की अवस्था एवं जिन्दगी सरल प्रकृति की है । वे लोग पाँच से लेकर पन्द्रह झोपड़ियों के एक समूह में निवास करते हैं । अर्थ-व्यवस्था की इस अवस्था में उन लोगों का परिवार एक आर्थिक-इकाई है । वे लोग आर्थिक मामले में स्वतंत्र होना चाहते हैं ।

आर्थिक व्यवस्था के साधन : वन—उनकी आर्थिक व्यवस्था का मुख्य साधन है— विस्तृत रूप से फैला हुआ जंगल, जंगल में उपजे हुए विभिन्न पदार्थों का संग्रह, शिकार एवं मछली मारना । जंगल में शिकार करने वाली जनजातियों को जो प्राकृतिक खाद्य सामग्रियाँ प्राप्त हैं, वे ऋतु और वर्ष के अनुसार बदलती रहती हैं । एक समय ऐसा भी आ सकता है कि उनकी खाद्य सामग्री का बहुत अभाव हो जाय । उन लोगों के परिवार कुछ निश्चित क्षेत्रों में इच्छित भोजन-सामग्री के संग्रह के लिए इधर-उधर चले जाते हैं । उनका व्यक्तिगत एवं सामुदायिक जीवन शिकार, जड़-संग्रह, फल, करेली, फूल, पत्ते, कन्द, रेशा-रस्सी बनाने के लिए कच्चा माल, बाँस, मधु, मोम आदि की प्राप्ति के लिए व्यवस्थित किया जाता है । जहरीली जड़ें भी झरने की धार में धोई जाती हैं एवं उन्हें पानी में उबाल-कर खाने योग्य बनाया जाता है । हरिणों, खरहों, पक्षियों का शिकार किया जाता है एवं मछली भी मारी जाती हैं । बिरहोर अपने शिकार में यदाकदा बंदरों को भी पकड़ते हैं ।

व्यवहृत उपकरण एवं औजार—जंगल में शिकार करनेवाली जनजातियाँ स्थानीय उपकरणों, जैसे जमीन खोदनेवाली लकड़ियाँ जिनका सिरा लोहे का होता है, लोहे की जंगली छुरियाँ, मिट्टी, काठ या बाँस के बने बर्तन, बाँस की टोकरियाँ एवं छड़ी का उपयोग भोजन-संग्रह के लिए करती हैं । शिकार करने के उद्देश्य से उन लोगों के पास विभिन्न प्रकार के फंदे रहते है । उदाहरणस्वरूप बंदर एवं खरहे को पकड़ने के लिए बिरहोर रस्सी से बने जालों का प्रयोग करते हैं । पश्चिम बंगाल के लोधा खरहे को फँसाने के लिए जाल का उपयोग करते हैं । बड़े जानवरों, जैसे सुअर को पकड़ने के लिए गड्ढे के फंदे का व्यवहार किया जाता है । इसके लिए तीन प्रकार के औजार, जैसे हाथ से फेंके जानेवाले उपकरण भाला, बरछी, लबेदा; प्रक्षेपास्त्र जैसे तीर जिसका सिरा लोहे या लकड़ी का होता है और धनुष एवं हाथ से चलाए जाने वाले उपकरण जैसे कुल्हाड़ी एवं छुरी व्यवहार में लाये जाते हैं । शिकार के लिए कदार एवं पेंगु कुत्तों का सहारा

लेते हैं। मछली पकड़ने के लिए उनके पास रस्सी के बने फंदे, बाँस एवं काँटेदार बर्छी, भाला एव छड़ियाँ आदि रहती हैं। हाथ से शिकार करना आसान है। शिकार के लिए उपकरण प्रायः स्वयं-निर्मित होता है या साप्ताहिक बाजार या पड़ोसी जनजातीय लोगों से प्राप्त किया जाता है।

क्रिया-पद्धति—जंगली उत्पादन के खाद्य-संग्रह, शिकार या बझाने और मछली मारने की क्रिया मे जनजातीय लोग व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। बासी भोजन करने के उपरान्त स्त्री और पुरुष दिन का कार्य प्रारम्भ कर देते है। अधिकतर वे लोग, विशेष रूप से औरतें, जडो को खोदकर निकालने मे निपुण होती है। औरतें जड़, जंगली फलो एवं सब्जी के लिए पत्तियो का सग्रह करती हैं। जुआंग (एल्विन, १६४८.३६) पत्तियो का सग्रह पोशाक बनाने के उद्देश्य से करते है। इन दिनो खोदने-वाली लकडी का सिरा लोहे का होता है जो जड़ निकालने के काम में आता है। उस जगह पर जहाँ खाद्य जडें होती हैं, जिनका पता पत्तियो या खास लताओं से चलता है, खोदनेवाली लकड़ी को उदग्र रूप से पकड़कर जोर से जमीन के अन्दर दबाया जाता है। खोदने वाला घुटने के बल बैठ जाता है। इस विधि मे यह सुविधा है कि हाथो और उँगलियो दोनों का व्यवहार लगातार हो सकता है। स्त्री और पुरुष दोनो जलावन की लकडी का सग्रह करते है। बिरहोर लोग लकडी का बर्तन, जैसे कठौत, बनाने के लिए लकडी का कुन्दा काटते है। रेशे का सग्रह रस्सी बनाने के लिए कच्चे माल के रूप मे किया जाता है। वे लोग रेशे की प्राप्ति के लिए जगल मे दो से लेकर तीन दिन तक रह जाते हैं और उसके उपरात अपने टाडा लौट जाते है। टाडा का टिकाना जानने के लिए चौप रेशे की प्राप्ति सम्भवत. सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण है। अनर-टाडा सपर्क पर दूसरे भोजन के खोज का वही प्रभाव है (सिन्हा, १६५८:८६)।

जनजातियो द्वारा प्राय. मधु-संग्रह का काम किया जाता है। संग्रह के पहले ऊँचे वृक्षों या ऊँची चट्टानो पर मधुमक्खियो का छत्ता खोजा जाता है। यह काम प्रायः मार्च और मई महीने मे किया जाता है। कदार एवं दूसरी दक्षिण भारतीय जनजातियाँ अनोखे ढग से पेड पर चढने के लिए लकड़ी की खूंटी या बाँस का प्रयोग करती हैं। मधु-संग्रह एक आदमी द्वारा चट्टान पर चढकर किया जाता है एव एक या एक से अधिक व्यक्ति सुरक्षा के लिए रस्सी पकड़े रहते हैं। रस्सी पकड़े रहने वाला प्रायः मधु-संग्रह-कर्त्ता की पत्नी का भाई या उसके नजदीक का रिश्तेदार होता है। दुर्घटना होने पर रस्सी थामने वाले को संग्रह-कर्त्ता की पत्नी की देखभाल करनी पड़ती है (विवरण के लिए देखें रेनफेल्स, १६५२:३२-३५)।

शिकार करने या फँसाने की क्रिया में लोग छोटे शिकार खेलते हैं, जैसे खरहे, हरिणों, चिड़ियों आदि का। पश्चिम बंगाल के लोधा साँप पकड़ते हैं (भौमिक, १९६३:३३)। जनजातियों में व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से शिकार किया जाता है। सामूहिक शिकार अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्यों एवं रीति-रिवाजों के पालन के लिए किया जाता है (सिन्हा १९५८:९०)। शिकार करने के नियत दिन की पूर्व-रात्रि में उपकरण इकट्ठे किये जाते हैं और तब दूसरे दिन लोग जंगल में सामूहिक रूप से प्रवेश करते हैं। वे लोग जाल या औजार की पूजा जंगल के नाम से या जंगली जानवर के देवताओं या देवियों, जैसे हनुमान बीर, (बिरहोर में), वन-दुर्गा की पूजा (जुआंग में) सफल शिकार के लिए की जाती है। बिरहोर मे (सिन्हा १९५८:९०) बन्दर को पकड़ने के लिए बड़ी संख्या में बड़े जाल को एक सिरे से दूसरे सिरे तक अर्द्ध-वृत्ताकार रूप में बिछाया जाता है। कुछ लोग जाल के बगल में चुपके बैठे रहते हैं। दूसरे लोग बंदर को जाल की ओर भगाने के लिए पेड़ को पीटते हुए दूर तक चले जाते है। जब बहुत-से बंदर जाल के निकट चले आते हैं तब उनपर जाल फेंक दिया जाता है। जुआंग में (एल्विन १९४८:५५-५६) शिकार के बाद जंगल मे औजारो की पूजा करने के अनंतर औजार मालिक को लौटा दिये जाते हैं। उसके बाद लोग एक-एक करके आबनूस के खम्भे के नीचे से गुजरते हैं। वे लोग सफल शिकारी या राजा को बुलाते हैं। इसके उपरांत वे सफल शिकारी के माथे पर पगड़ी बाँध देते हैं। जानवर को हटाने के पूर्व, शिकारी उसके कुछ खून के हिस्से को अमोनरा पत्ते पर अपने पूर्वज के नाम से रखते हैं। तदुपरांत जानवर को या तो मारने वाले के घर या नजदीक के झरनों के पास ले जाते हैं। जानवर को वहाँ खंडित किया जाता है एवं शिकार में भाग लेने वाले लोगो के बीच बराबर-बराबर हिस्से में बाँटा जाता है। परतु जो मुख्य शिकारी रहता है उसे बराबर हिस्से के अलावा जानवर का पिछला पैर भी दिया जाता है।

मछली मारने का काम अकेले भी किया जाता है। बड़े पैमाने पर मारने के लिए तालाब को जहरीला बना दिया जाता है या सगे-संबंधियों द्वारा सामूहिक रूप से मछली बड़े पैमाने पर मारी जाती है।

आसाम का कुकी घने बाँस के जंगल मे रहता है जिससे उसकी अधिकाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है (मजुमदार १९६१:१२३-२३)। घुमंतू कुकी जंगल में बाँस की चटाई एवं पत्तों की छत से झोपड़ी बनाता है। जो कुकी व्यवस्थित जीवन-यापन करते हैं, बाँस के खम्भे पर गृह का निर्माण ठोस तरीके से करते हैं। बाँस कुकी के भौतिक जीवन का आधार है। वे लोग उससे टोकरियाँ एवं चटाई बनाते हैं। बाँस को चावल के साथ खौलाकर स्वादिष्ट भोजन के लिए टापू सूप बनाते हैं। उनमें से कुछ सूप

या स्थानान्तर कृषि करते हैं। कुछ लोगों ने संथाल श्रमिकों से हल की कृषि की सीखी है।

उत्तर प्रदेश के कुमाऊँ पहाड़ पर राजी मुख्य रूप से बसे हुए हैं। वे लोग जंगल को साफ करने में लगे हुए हैं (मजुमदार १९६१:१४९-५०)। कुछ लोग अभी झूम कृषि करते हैं जिसके लिए वे जंगल को साफ करने की खोज में घूमते रहते हैं। झाड़ियों को जलाने और बीज बोने के लिए भी वे लोग जंगल में घूमते हैं। वे लोग मोटी लकड़ियों से अपने पड़ोसियों के लिए बर्तन बनाते हैं, जिसके बदले में उनसे वे मोटा अनाज और कपड़ा पाते हैं। उनके बीच आदान-प्रदान में एक मनोरंजक अदृश्य व्यापारी मध्य पुरुष की तरह कार्य करता है। जनजातीय लोग प्रतिनिधि के आँगन में एक रात आवश्यक सामग्री का इशारा करते हुए अपने द्वारा उत्पादित सामग्री को छोड़ देते हैं, एवं दूसरी रात बदले में अपनी आवश्यकता की सामग्री पाते हैं।

आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से बिहार के बिरहोर का एक अलग महत्त्व है क्योंकि वे लोग घुमन्तू, व्यवस्थित एवं उपनिवेशित हैं। बिरहोर का घुमन्तू की स्थिति से जाँघी की तरह व्यवस्थित जीवन बिताना या उपनिवेशित हो जाना एक रुचिकर स्थिति है। वे लोग अपनी आर्थिक व्यवस्था के पाँचवें या छठे भाग तक आर्थिक रूप से जंगल पर आश्रित है (राय १९६७.९८)। वे लोग जंगल का उपयोग जड़ों, फलों, पत्तों के अतिरिक्त रेशा एवं चोप के लिए करते है और खरहा, बंदर जैसे जानवरों का शिकार करते हैं। रेशा के संग्रह एवं लकड़ी के कुंदे के लिए समूह में जाते हैं जो उनकी आमदनी का मुख्य स्रोत है एवं जिससे वे रस्सी एवं बर्तन बनाते हैं। वे जंगली पदार्थों का संग्रह अकेले ही करते है। वे बंदरों को बड़े जाल की सहायता से समूह में पकड़ते हैं। उनकी शंकु जैसी झोपड़ी लकड़ी और पत्तियों की बनी होती है। और एक स्थान पर ऐसी पाँच से दस तक झोपड़ियाँ पायी जाती है, जिनको मिलाकर एक टाँडा बनता है जो बिरहोर लोगों का अस्थायी निवास-स्थान है।

बिहार के जंगल में शिकार करने वाली जनजातियाँ पहाड़िया एवं कोरवा अपने जंगल की आर्थिक क्रियाओं से स्थानान्तर कृषि या व्यवस्थित कृषि एवं कृषि श्रमिक के रूप में आ रहे है। जंगल में शिकार करने वाली बिंजिया की भी यही स्थिति है। उन लोगों ने कृषि के सरल ढंग को अपनाना प्रारम्भ कर दिया है। पहाड़ी कोरवा की आर्थिक व्यवस्था जंगल में किये गये शिकार पर आश्रित है।

मध्य प्रदेश के पहाड़ पर रहने वाली जनजाति मारिया अबुझमाड़ में रहती है जो घने जंगलों एवं पहाड़ों से घिरा हुआ क्षेत्र है दुबे एवं बहादुर, १९६७:५६–५७)।

वे जंगली पदार्थों का संग्रह करते हैं और साथ ही साथ थोड़ा कृषि अर्थात् स्थानान्तर कृषि भी करते हैं। साधारणतया वे शिकार करते हैं एवं मछली मारते हैं। वे अपना मकान शहतीर एवं बाँस से बनाते हैं एवं छत को भी छाते हैं। वे गाँव में दो या तीन वर्ष तक ही रहते हैं तदुपरांत नजदीक के जंगल में रहने चले जाते हैं।

आंध्र प्रदेश के चेंचु सीधे रूप से प्रकृति पर आश्रित रहते हैं। चेंचु अर्थव्यवस्था का मुख्य स्रोत हैं उनके गाँव को घेरे हुए विस्तृत जंगल। उनका मुख्य भोजन जड़ें एवं फल होते हैं। जंगली पदार्थों के अतिरिक्त उन्हें सतत सामयिक रूप से रुपए की आमदनी होती है क्योंकि वे वन-विभाग के कार्यों में, जैसे पेड़-पौधे लगाने, रोपने में व्यस्त रहते हैं। इसके अलावा बाँस एवं शहतीर के कारखानों में भी वे काम करते हैं। मछली मारना चेंचु की आर्थिक-क्रिया का एक निम्न अंग है। उनकी आमदनी का दूसरा स्रोत है मिरासी। पहले चेंचु श्रीशैलम जानेवाले तीर्थयात्रियों को घुमाने ले जाते थे एवं बदले मे कुछ मिरासी पाते थे। वे लोग गाँव के कृषकों के खेतों की फसल की एक-दो महीने तक देख-रेख करते है। वे दो से लेकर दस व्यक्तियों के समूह में मधु-संग्रह करने जाते हैं। उन लोगो मे एक शर्त यह है कि जो दो व्यक्ति मधु-संग्रह मे व्यस्त रहते हैं, उन्हे एक-दूसरे का रिश्ते मे साला एव बहनोई होना चाहिये।

केरल के कादर जगल-निवासी हैं जैसा उनके नाम से ही ज्ञात होता है। तमिल भाषा मे कादु का अर्थ जगल होता है एवं कदान का अर्थ 'जंगल में रहने वाला' होता है। कदार कदान का बहुवचन है। वे एक स्थान पर दस से बीस झोपड़ियो के समूह में रहते है। जड़ उनका मुख्य भोजन है जिसे वे कदार-तीतम कहते हैं। वे जड़ को एक खास तरीके से उखाड़ते हैं। वे जमीन को २ सेंमी० की चौड़ाई एवं २ मीटर गहराई तक लोहे के एक औजार से, जिसको स्थानीय भाषा में परा कोले कहते हैं, खोदते हैं। तीतम को बाहर निकालने के बाद गढे को जड़ के विकास के लिए छोड़ दिया जाता है। वे चेंचु की तरह ही मधु-संग्रह सामूहिक रूप से करते हैं। मधु-संग्रह में यहाँ पत्नी के भाई का होना आवश्यक नही है लेकिन मधु-सग्रह-कर्ता यदि मर जाता है तो पूरा समूह उसकी पत्नी की देखभाल के लिए बाध्य हो जाता है। वे शिकार-प्रिय हैं एवं कुत्ते को शिकार करने के ही लिए पालते हैं। हाथी को पकड़ने में कुत्ता सहायक होता है।

कालीकट जिले के परंडान अपनी जीविका खाद्य-संग्रह कर, जंगली पदार्थ को प्राप्त कर एवं बाँस काटकर चलाते हैं। वे शिकार करने के लिए एवं सर्प को पकड़ने के लिए इधर-उधर भटकते रहते हैं। वे अजगर की चमड़ी एवं तेल बेच देते हैं परन्तु उसके मांस को स्वादिष्ट भोजन के रूप में खाते हैं। केरल के कोट्टायम जिले का कुरुम्बा भी खाद्य-

संग्रह-कर्ता एवं शिकारी हैं। साल के कुछ महीनो में उन लोगों को खासकर जड़ रतालू एवं मछली पर रहना पड़ता है। वे पाँच या चार झोपड़ियों के समूह मे रहते हैं।

पहाड़ पर कृषि करनेवाला वर्ग

पहाड़ पर कृषि करनेवाली जनजातियाँ अपनी स्थानान्तर कृषि की कुशल तकनीक के कारण अलग की जाती हैं। वे इस संबध मे तीन या इससे अधिक विधियों का प्रयोग करती हैं —

१. खादेने वाली छडी की सहायता से एव काटकर और जलाकर उत्पादन,

२. जलाकर एवं गोड़कर उत्पादन, और

३. तराई क्षेत्र मे प्राकृतिक सिंचाई के साधनो, जैसे पहाडी नालों या पहाड़ी क्षेत्रों के जलाशयो द्वारा टीले पर खेती।

काटकर और जलाकर या गोडकर और जलाकर खेती करनेवाली जनजातियों की सख्या बहुत है। ये जगल मे शिकार करने वाली जनजातियो के समीप हैं। उन लोगों ने इस प्रकार की खेती के साथ भोजन-सग्रह को मिला दिया है।

आर्थिक व्यवस्था का स्रोत :—पहाड पर की खेती ऋतुओ के अनुसार उत्पादन विधि का नियमित क्रम है जो जंगली भूमि के हिस्से मे खेती करने के लिए बनी है। मुख्य उपज के एक या दो ऋतुओ के बाद जमीन वर्षों तक परती छोड़ दी जाती है जिससे जंगल के बढ़ने के साथ मिट्टी की उर्वरा-शक्ति बढे। परिणामस्वरूप वह हिस्सा फिर से साफ किया जाता है। उसे जलाया जाता है एव कृषि का दूसरा चक्र प्रारम्भ होता है। यही क्रम बराबर चलता रहता है।

पहाड पर उत्पादन करने के अनेक नाम हैं। कुछ स्थानीय नाम हैं जैसे उत्तर-पूर्व हिमालय क्षेत्र के असम, मेघालय, अरुणाचल, मणिपुर, त्रिपुरा एव मिजोराम में इसे झूमी कहा जाता है, सथाल परगना मे कुर्वा या खल्लू कहा जाता है और बिहार के राँची तथा पलामू मे बेवारा कहा जाता है; उड़ीसा में पोडु, रेमा, डाही, कामन, बूंगा गुदिया, डोंगर चास, मध्यप्रदेश मे पेंदा, डाहिया, बेवार, गुहाढ, फड़हा, दिप्पा, माडन या एरका और आंध्र प्रदेश मे कोदा-पद्म कहा जाता है। इसके अन्य विभिन्न नाम भी हैं जैसे, स्थानान्तर खेती, काटकर एवं जलाकर कृषि, घुमतू कृषि, भ्रमणशील आदिम जातीय कृषि, आदिम बागवानी, बिल्कुल जुताई करके खेती, गोड़कर एवं जलाकर खेती, स्वीट कृषि आदि। इन वर्णनात्मक नामो एवं स्थानीय पदो के अतिरिक्त कुछ विशेषताओं से युक्त एक विशेष प्रकार की खेती साधारण रूप में 'स्थानान्तर खेती' के नाम से जानी जाती है। एफ०

ए० ओ० के अनुसार (चौथे वर्ल्ड फारेस्ट्री कांग्रेस में) विश्व का स्थानान्तर कृषि के अंतर्गत वास्तविक क्षेत्र तीन लाख साठ हजार वर्ग किलोमीटर जिसमें बीस लाख लोग रहते हैं ✱

पहाड़ पर खेती करने की प्रथा हमारे देश में विस्तृत रूप से प्रचलित है। जनजातीय लोग, जो उत्तर-पूर्व हिमालय के असम, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा आदि में; मध्य भारत के बिहार, उड़ीसा एवं मध्य प्रदेश में और दक्षिण भारत के आन्ध्र प्रदेशों के पहाड़ी जंगलों में रहते हैं, अपनी जीविका के लिए पहाड़ी खेती पर ही निर्भर रहते हैं। पहाड़ पर खेती करने वाली जनजातियों का प्रतिनिधित्व करती हैं उत्तर-पूर्व हिमालय की गैरीया त्रिपुरी, नाओटिया, कुछ हद तक हल्मस एवं रिआंग, चकमा, मोग एवं नागा जनजातियाँ; बिहार के संथाल परगना की मालेर या सौरिया पहाड़िया, पहाड़ी खड़िया, एवं कुछ अंश में कोरवा, परहिया एवं बिंजिया जनजातियाँ; उड़ीसा की सौरा एवं कुटिया खोण्ड और दक्षिण भारत में मैसूर की माले कुदिया और आन्ध्र प्रदेश की कामर, बैगा, मारिया गोंड, ओरा और नूक या मुकाधोरा, सामनथु एवं कुछ बगता जनजातियाँ। अनुसूचित जनजातियों के लगभग ३,५५,५०७ परिवार १,०८,००० हेक्टर क्षेत्र के विभिन्न हिस्सों में स्थानान्तर कृषि में लगे हुए हैं (कमिश्नर की रिपोर्ट, १९५५)। एक बात जो प्रकृति में पारिस्थितिकीय है, वास्तव में यहाँ उल्लेखनीय है। पहाड़ पर खेती करनेवाली जनजातियाँ प्रायः भिन्न-भिन्न राज्यों के सीमान्त क्षेत्र के पहाड़ की शाखाओं पर रहती हैं, जैसे—मेघालय एवं असम की सीमा पर गोरा क्षेत्र; त्रिपुरा एवं मणिपुर के असम एवं मिजोराम के पास का क्षेत्र, बिहार एवं पश्चिम बंगाल की सीमा पर का राजमहल क्षेत्र; बिहार के दक्षिण-पश्चिम सीमावर्ती क्षेत्रों में; उड़ीसा के गंजाम क्षेत्र; मध्य प्रदेश का छत्तीसगढ़; आन्ध्र प्रदेश से सटे उड़ीसा के क्षेत्र आदि।

उपकरण एवं यंत्र—पहाड़ पर खेती करने वाले कृषक के कुछ कृषि-उपकरण ये हैं—धातु के सिरे वाली खोदने की छड़ी, खेती, कुदाल, फावड़ा, हँसुआ, कुल्हाड़ी, वृक्ष काटने के लिए छोटी कुल्हाड़ी एवं खुरपी आदि।

पहाड़ पर खेती करने की पद्धति—देश भर में फैले पहाड़ों पर खेती करने की प्रथा विभिन्न प्रकार की है परन्तु सामान्यतया पहाड़ों पर खेती करने वाले अपनी सुविधा के अनुसार इस चक्र का अनुकरण करते हैं। एक चक्र को पूरा करने के लिए ये अवस्थाएँ हैं—(१) जंगल के हिस्से का चयन करना, (२) पूजा करना, (३) जंगली वस्तुओं को काटना एवं सूखने के लिए उसे फैलाना, (४) अवशेषन की लकड़ी एवं बड़े कुंदों को चुनना, (५) झाड़ियों में आग लगाना, (६) पूर्ण रूप से बोने के लिए जमीन को तैयार करना, एवं समतल करना, (७) फावड़े की सहायता से या खोदने वाली लकड़ी की सहा-

-यता से बीज बोना, (८) पौधों का निकलना, (९) फसल की देखभाल करना, (१०) फसल काटना एवं जमा करना, (११) पूजा करना, (१२) आनन्द मनाना, (१३) बंजर छोड़ना (विद्यार्थी को उद्धृत १९६३; ३२-५५, दूबे, १९५१:३१-३६, एल्विन १९५०:४६-४७, जेय १९७०:११३-१५)। परिवार के सभी सदस्य किसी न किसी तरह के काम में व्यस्त रहते हैं। जंगली जमीन के हिस्से को एक से दस वर्ष तक परती छोड़ दिया जाता है। ये एक खास क्षेत्र में केवल एक फसल उपजा सकते हैं या उसे दो से तीन मौसम तक काम में ला सकते हैं। खेती करने की यह अवस्था स्थान-स्थान एव एक जनजाति से दूसरी जनजाति तक बदलती रहती है। मुख्य फसल है—मकई, बाजरा, हरी दाल, सेम आदि।

पहाड़ो पर उत्पादन के बारे मे विभिन्न जनजातियो मे प्रचलित विधियो के वर्णन से जानकारी हो जायगी।

मालेर मे उत्पादन अनेक क्रियाओं के साथ संपादित होता है, जैसे (१) जंगल का चयन एवं उसको काटना (अक्का), (२) जलाना एव लकड़ी को हटाना, (३) बुनना, (४) गोड़ना, (५) देखभाल करना, (६) कटनी करना, (७) पूजा करना एव (८) आनद मनाना। कुछ फसलों के बाद भूमि को कुछ वर्षों के लिए परती छोड़ दिया जाता है एव पुन: जंगल के चयन का नया चक्र प्रारभ होता है (विद्यार्थी १९६३: ३२-३५)।

कामर स्थानान्तर कृषि के इन तीन मुख्य रूपो का प्रयोग करते है—डाही, बेवरा एव गुहाद (दूबे, १९५१:३२-३७)। कामरो द्वारा व्यवहृत स्थानान्तर कृषि में डाही सबसे अधिक प्रचलित रूप है। इस विधि के अतर्गत सबसे पहले समतल जमीन का वह हिस्सा, जहाँ बराबर पानी मिलने की स्थिति हो, चुना जाता है। उसके बाद जंगली वृक्षो को काटकर गिराया जाता है तथा कटे हुए वृक्षो को जमीन तक लाया जाता है और शाखाओ एव झाडियो को फैला दिया जाता है। जब वे सूख जाती हैं तो जलाने के लिए कोई एक दिन निश्चित किया जाता है। बुधा राजा के नाम पूजा की जाती है एवं जलाना प्रारभ किया जाता है। प्रथम वर्षा के तुरंत बाद ही खेत बोया जाता है। कुछ कामर डाही खेत को जोतते हैं। फसल की रक्षा के लिए अस्थायी रूप से एक झोपड़ी बना दी जाती है। डाही का अतिम चरण है कटनी एवं अनाज का सग्रह। बेवरा खेती में काटने एवं जलाने की क्रिया साथ-साथ की जाती है। गुहाद में बाँस का जंगल काटा जाता एवं उसे जलाया जाता है।

नेतरहाट पठार के असुर लोहा पिघलाने का कार्य से छोड़ स्थानान्तर कृषि करने लग

गये हैं (ल्यूबा १९६३:४५-४७)। वे जमीन को बारी-बारी से परती छोड़ देते हैं जिससे उसकी उर्वरा-शक्ति बढ़े। असुर खेतों को इन तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) टाँड़ खेत, जो उनकी झोपड़ियों के निकट होते हैं। इन खेतों की उर्वरा-शक्ति कूड़ा-करकट एवं खाद के कारण बनी रहती है। इनमे वर्ष में एक बार खेती की जाती है। इन खेतों में असुर लोग मकई उपजाते हैं। दूसरे और तीसरे वर्ग में वे टाँड खेत आते हैं जो फसल उपजाने के बाद तीन से पाँच वर्षों तक परती छोड़ दिये जाते हैं। इस तरह की जमीन में असुर लोग बाजरा, सुरगुजा एवं तिल उपजाते हैं। पहली वर्षा के तुरंत बाद असुर लोग खेत को हलका जोतते हैं एवं भविष्यवाणी केआधार पर उसमें बीज बोते है। उसके बाद वे लोग हरिणो से बचाने के लिए खेत को चारों ओर से घेर देते हैं। पौधे को शायद ही गोड़ा जाता है। कुछ वर्ष के उपरान्त वे जंगल को काटकर नया खेत तैयार करते हैं। वे विश्वास पर स्थान का चयन करते हैं। अब असुरो के पास नियत जमीन है और कृषि का चक्र चलता रहता है।

नागालैंड के औनागा स्थानान्तर कृषि करते है जिसका स्थानीय नाम हैं 'टेंकोगलु' (टेकोग = सूखा, अलु = खेत)। जनवरी मे खेत का चक्र प्रारम्भ होता है। इसके विभिन्न चरण है। ओ, अलेम चिबा एवं राय (बर्म्मन, १९६६:५५-६३)।

(१) स्थान का चयन—खेत में सफाई की क्रिया के उपरान्त, जो झोपड़ी बनाने के लिए की जाती है, कृषक घर लौट जाते है। रात में दुस्वप्न होने पर कृषक उस हिस्से को छोड़ देता है एवं दूसरे हिस्से का चयन करता है। गाँव के एक हिस्से वाले लोगों के लिए एक बड़ा क्षेत्र चुना जाता है (पेंहल)।

(२) अच्छी फसल के लिए एवं उसकी रक्षा के लिए पूजा।

(३) जनवरी के पहले सप्ताह मे खेती के लिए जंगल की सफाई। १ से १.५ हेक्टर क्षेत्र वाले हिस्से मे एक महीने तक दो आदमियों को काम करने की जरूरत पड़ती है। परिवार के स्त्री-पुरुष दोनो इसमे काम करते है।

(४) गिरे हुए पेड़ का सूखना एवं फरवरी-मार्च में उसे जलाना। मार्च महीने की पूर्णमासी के सातवे दिन प्रायः जलाया जाता है।

(५) फुजुंग उत्सव—जलाने के बाद अच्छी फसल के लिए एक पक्षी को अर्पण करके पूजा की जाती है।

(६) हिस्से का सीमांकन एवं खेत के मध्य में गृह-निर्माण—गाँव के एक हिस्से के बड़े क्षेत्र में व्यक्तिगत हिस्से को बड़े कुंदे द्वारा सीमांकित किया जाता हैं। आवासीय ढाँचे के आधार पर गाँव को प्रायः दो खंडों मे विभक्त किया जाता है—उपरला खेल एवं निचला खेल।

(७) खेत की झोपड़ी से सटी जमीन पर सब्जी उपजाने या लुजु की तैयारी।

(८) मार्च एवं अप्रैल महीने मे बीज बुनना अर्थात् लाल एवं उजला धान, मकई आदि।

(९) मोआत्सु—६ दिन तक खेत का त्यौहार मनाकर आनद करना।

(१०) गोड़ना—दो से लेकर तीन बार तक गोड़ना।

(११) फसल की रक्षा के लिए देखभाल करना।

(१२) अफु—खेत मे बनी झोपड़ी के सामने पूजा के स्थान पर कटनी के समय धार्मिक कृत्य करना। मिल्स नेसेन तेन अनुष्ठान का वर्णन किया है जिसमें पुजारी छः दिन के लिए गेन्ना बना रहता है (१९२६:१२२)। पर अब गेन्ना नहीं मनाया जाता है क्योंकि यह ग्रामीण लोगो या किसी व्यक्ति को काम करने से रोकता है।

(१३) कटनी।

(१४) अनाजघर में अनाज को जमा करना जो अक्टूबर और नवम्बर महीने में निवास-स्थान से थोड़ी दूर पर बनाया जाता है।

जमीन के एक हिस्से मे दो साल तक खेती की जाती है।

रेंगमा नागा (मिल्स, १९३७:७५-८६) अपने झूम खेत मे काम करते हैं। यदि किसी रेंगमा नागाके पास अपना खेत नहीं रहता है तो वह जमीन का कुछ हिस्सा किराये पर लेकर साल भर खेती करता हो। शायद ही कोई रेंगमा नागा अपनी जीविका के लिए दूसरो का काम करता हो। इसके अपवाद हैं बूढे लोग, बीमार व्यक्ति (वृक्ष गिराने के शुरू मे) एव कुछ आलसी व्यक्ति। कुछ भी हो, पारस्परिकता के आधार पर कोड़ने या उखाड़ने या फसल काटने के लिए सामूहिक श्रम की आवश्यकता होती है। समवयस्क लड़के या लड़कियाँ, प्राय: एक ही खेल के निवासी, खेत मे पाये जाते हैं और कभी-कभी वे जीवन पर्यन्त खेत में एक साथ रहते है। एक ही या दूसरे गाँव के बीस या तीस मजबूत युवा पुरुषों का दल हो सकता है। अधिकतर ऐसे दल अपने सभी सदस्यो के खेत मे बारी-बारी से काम करते है। एक बड़ा किसान दल को एक दिन के लिए किराये पर ले सकता है। बदले मे वह उन्हे भोजन कराता है एव सांध्य भोजन के लिए चावल देता है तथा कुछ सग्रह करके रखने के लिए भी। झूम खेती अनेक चरणों में की जाती है। सर्वप्रथमवन का चयन किया जाता है। गेन्ना के एक दिन बाद जंगली झाड़ियो को काट गिराया जाता एव सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है। पवित्रीकरण का जुकुली त्यौहार मनाया जाता है और तब वन को जलाया जाता है। खेत मे झोपड़ी बनायी जाती है। नाइगो लिंग की प्रार्थना की जाती है एव बीज बोये जाते हैं। बीजारोपण की समाप्ति पर गेन्ना मनाया जाता है। खेत की रखवाली झोपड़ी मे रहकर की जाती है। बाद में खेत में कटनी

होती है। पहले त्यौहार मनाया जाता है, फिर फसल काटी जाती है एवं कृषि वर्ष के अंत में नगड़ा त्यौहार आनंदपूर्वक मनाया जाता है। सभी उपयुक्त खेत रेंगमा क्षेत्र में बहुत पूर्व उपजाये जा चुके हैं और अब छः से बारह वर्ष तक जंगल परती पड़ा हुआ है। साधारणतया किसी जमीन के हिस्से में, जंगल मे परिवर्तित होने के लिए छोड़ने के पूर्व, दो से तीन फसल तक उपजायी जाती है। एक खण्ड के उसी क्षेत्र में आसानी के लिए, मेहनत की बचत के लिए एवं आसानी से देखभाल करने के लिए, एक खेल या पूरा गांव का खास झूम खेत होता है। मुख्य फसल धान ही है, लेकिन बाजरा, कचालू, रूई, मिर्च, छिउरा एवं तेल के लिए बीज आदि भी उपजाये जाते हैं।

मणिपुर (दास, १९४५:५३-६२) के पुरूम मे सभी ग्रामीण लोग एक क्षेत्र में झूम तैयार नही करते जैसा नागा करते है, परंतु स्थान इधर-उधर चुनते हैं। खेत आवश्यकता से कम प्राप्त होता है तो गाँव का एक समूह बाहर भेज दिया जाता है। गाँव वालों में से गाँव के झूम मे से कोई भी एक खास हिस्सा चुन सकता है। एक झूम खेत में अधिक से अधिक चार वर्षों तक खेती की जाती है जिसके बाद लगभग दस वर्षों तक उसे परती छोड़ दिया जाता है। झूम चक्र स्थान के चयन, (फरवरी-मार्च में) वन को साफ करने, सूखने के लिए छोड़ने एवं अप्रैल में जलाने के साथ ही आरम्भ होत है। वृक्षों को गिराने के बाद नूंग चुगबा की पूजा शुरू होती है। भविष्यवाणी के आधार पर (मई-जून में) बीजारोपण होता है जबकि वर्षा की उम्मीद होती है। कटनी इंगा (जून-जुलाई) एवं थाम्रोल (अगस्त-सितम्बर) मे की जाती है। फसल काटने के पूर्व साबू होग की पूजा की जाती है जब धान के डठल अक्टूबर-नवम्बर में पीले हो जाते हैं। कटनी के ठीक पूर्व, साल की पहली उपज मेरा (अक्टूबर-नवम्बर) में सेनामाही को अर्पित की जाती है। सफाई एवं एकत्रीकरण झूम का अंतिम चरण है।

समतल कृषि वर्ग

आदिवासियों द्वारा कृषि मे अपनाये गये सर्वाधिक प्रचलित कार्य में, जो अत्यन्त सरल है, जुताई के लिए दो जानवरों की आवश्यकता पड़ती है। यह कृषि व्यवस्थित प्रकार की है। आदिवासी लोग पहाड़ पर खेती करने की अपेक्षा इसे अधिक निरापद पाते हैं और जंगल में शिकार करने की अपेक्षा तो इसे और अधिक निरापद पाते हैं। आदिवासियों की अधिक जनसंख्या कृषि पर आश्रित है। भारत की सभी प्रमुख जनजातियाँ खेती करती हैं जो उनकी जीविका के लिए प्राथमिक साधन हैं। जनजातीय मजदूरों की आबादी का दो-तिहाई भाग (६८ प्रतिशत) १९६१ में कृषि में लगा हुआ था (रिपोर्ट ऑव स्टडी टीम, १९६९:१७३)। कुछ भी हो, जनजातियों के बीच प्रचलित कृषि सरल प्रकृति की

है। वे यथासाध्य कृषि-कर्म करते हैं परन्तु अपने दैनिक जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति भी कृषि के द्वारा नहीं कर पाते। निचली जमीन में फसल उपजाना अधिक सरल है, जहाँ कृत्रिम सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये सब जमीनें प्रधानतया धान के लिए हैं। ऊपरी भाग की जमीन मे केवल मोटा अनाज, जैसे मोटे प्रकार का धान, दाल, बाजरा और कम महत्त्व की दूसरी वस्तुएँ उपजायी जाती हैं। उनके कृषि-संबंधी औजार देशी होते है और स्थानीय लोहारों द्वारा बनाये जाते हैं। कुछ आदिवासी गाय के गोबर को खाद के रूप मे प्रयोग करते है।

जनजातीय कृषि की विशेषता सहकारिता है, जो धान रोपने या दूसरे अवसरों पर स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। सबंधियो मे या ग्रामीणों के बीच या एक क्षेत्र के लोगो मे पारस्परिकता के आधार पर सहायता की जाती है। कृषक जनजातियों का प्रतिनिधित्व असम एव मेघालय की खासी एव जयंतिया; उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र की खासा एव थारू; हिमालय मे हिमाचल प्रदेश क्षेत्र की किन्नौरा, पागवाला, स्वांगला; मध्य भारत की भूमिज, कोरा, भुईया संथाल, मुंडा, उरांव, हो, खरवार, बैगा, गोंड आदि; पश्चिम भारत की भील, मिना, ओआरसिया, दमिस्या, कोली मालदा देवी, वालिस, ठाकुर कोर्कल, डबला आदि, आन्ध्र प्रदेश की कोया और दक्षिण भारत मे तमिल-नाडु की मलयाली आदि द्वारा किया जाता है। इन जनजातियों के अतिरिक्त बहुत-सी जनजातियाँ व्यवस्थित कृषि पर आश्रित है।

अर्थ : भूमि के लिए साधन—कृषक जनजातियो के लिए उनके अर्थ का मुख्य साधन भूमि ही है। भूमि का वर्गीकरण उसकी आपेक्षिक स्थिति एवं झुकी हुई सतह के अनुसार किया जाता है। बिहार मे जनजातियो को दो प्रकार की ही भूमि सुलभ है जैसे ऊपरी भूमि टांड़ और निचली भूमि दोन। दोनो तल के अनुसार तीन और वर्गों मे वर्गीकृत की गयी है अर्थात् टांड १, टांड २ एव टांड ३ और दोन १, दोन २ एव दोन ३। एक तीसरे प्रकार की ऊपरी भूमि है—वासभूमि से सटी हुई, जो तल पर है एव उपजाऊ है क्योंकि वहाँ गाय का गोबर एव निवास-स्थान के कूड़ा-करकट का ढेर इकट्ठा किया जाता है। उस भूमि को बारी कहा जाता है। नीचे भूमि की स्थिति बतलायी गयी है :

बारी खेत
वास भूमि   टांड़ ३
टांड २
टांड़ १
दोन ३
दोन २
दोन १

मुण्डाओं ने भूमि को चार भागों में बाँटा है अर्थात् दोन—नीचे की भूमि, मध्य भूमि, टाँड़—ऊपरी भूमि एवं वासभूमि तथा अनउपजायी भूमि। दोन को फिर तीन भागों में विभक्त किया गया है अर्थात् गरहा दोन या सोकरा दोन—दोन१, चौरा दोन—दोन २ एवं तरिया दोन—दोन३ (विद्यार्थी, १९६६:२७)।

पश्चिम बंगाल के भूमिज के पास पाँच प्रकार की भूमि है (सिन्हा, दासगुप्ता एवं बनर्जी, १९६१:१०-१२) अर्थात् गोरा—ऊपरी भूमि, बैद—गोरा की अपेक्षा नीचे; कनाली—थोड़ा नीचे; बाहल—सबसे नीचे एवं बारी खेत वासभूमि के नीचे। बारी एवं बैद को फिर दो उपभागों में विभाजित किया गया है। अर्थात् समतल और दोंगा गोरा एवं छपैता बैद अपेक्षाकृत क्रमशः उपजाऊ।

बारी	सामल	
वासभूमि	गोरा	
		दोंगा
		खोल
	बैद	
		छपैता
	कनाली	
	बाहल	

भूमि का वर्गीकरण—इस प्रकार कृषक जनजातियों की तीन प्रकार की भूमि है अर्थात् दोन—निचली भूमि, टाँड़—उपरली भूमि एवं बारी—बागवानी के लिए भूमि।

कृषि के औजार एवं व्यवहृत उपकरण—कृषि-संबंधी उपकरण जो जनजातियों के क्षेत्र में व्यवहृत होते हैं वे पुराने ढंग के, कमजोर और एक धारवाले हल ग्रामीण भारत में पाये जाने वाले हलों की ही तरह पुराने ढंग के कमजोर और एक धारवाले हल हैं। वे मुख्य रूप से चार प्रकार के होते हैं (गुप्ता एवं सरस्वती, १९६१:२५-२९)।

प्रकार (क)—सिरा एवं मुख्य हिस्सा लगातार जुड़े रहते हैं और दोनों एक साथ क्षैतिज रूप से क्रम से रखे जाते हैं। धरन एवं हाथ स्वतंत्र रूप से मुख्य हिस्से से जुड़े रहते हैं। इस प्रकार का हल पश्चिमी हिमालय के क्षेत्र में, छोटा नागपुर में, मध्य भारत के उड़ीसा में और दक्षिण भारत के मैसूर में पाया जाता है।

प्रकार (ख)—मुख्य हिस्सा एवं हाथ लगातार जुड़े रहते हैं जबकि सिरा, जो बड़े आकार का हो सकता है या नहीं भी हो सकता है, मुख्य हिस्से से न्यून या समकोण पर

जुड़ा रहता है। इस तरह का उपकरण पश्चिम भारत की जनजातियों में, विशेषकर गुजरात एवं महाराष्ट्र में, पाया जाता है। भीलो मे इस प्रकार का हल बीज डालने के लिए नीप के साथ रहता है (नाथ, १९६०:३१)।

प्रकार (ग)—सिरा मुख्य हिस्से से तिरछे रूप मे लगाया जाता है जो दोनों लकड़ी के एक हिस्से से काटकर बनाया जाता है। हाथ या मुट्ठल धर के बाद या पहले लगाया जा सकता है जबकि धरन उस समय मुट्ठल से होकर गुजर सकता है या नहीं भी गुजर सकता है जबकि वह धर से लगाया जाता है। इस प्रकार का उपकरण प्रायः मध्य एव दक्षिण भारत मे पाया जाता है।

प्रकार—(घ) ग प्रकार की तरह सिरा धर से तिरछे रूप से लगा रहता है। अन्तर सिर्फ इतना होता है कि मुट्ठल धर से लगातार जुड़ा रहता है। इस प्रकार के औजार पश्चिम बगाल मे, मध्य भारत के उत्तरी उडीसा मे, बिहार के हो क्षेत्र में, एवं पूर्वी मध्य प्रदेश और उत्तरी-पूर्वी हिमालय क्षेत्र मे पाये जाते हैं।

कम लाभकारी खेती के मुख्य कारण हैं—अनुर्वर एव कड़ी मिट्टी और कम पशु-धन।

कृषक जनजातियों मे पाये जाने वाले दूसरे उपकरण है—हँसुआ, कुदाल, खुरपी, कुदारी, टाँगी, खती, रासकी, छोटी एव बड़ी टोकरियाँ, मिट्टी के बर्तन आदि।

जनजातियों के द्वारा गाय के गोबर का व्यवहार खाद के रूप में किया जाता है। गोबर एक गढे मे एकत्रित किया जाता है, जिसमे कूडा-करकट रखा जाता है। कुछ दिनों के बाद बनी हुई खाद को गढे से बाहर निकाल लिया जाता है और खेत के एक हिस्से मे उसका ढेर लगाया जाता है। प्रथम वर्षा के पूर्व खेत जोतकर खाद मिट्टी में मिला दी जाती है।

सिंचाई से संबंधित सुविधाएँ प्रकृति द्वारा उपलब्ध होती हैं। वर्षा ही सिंचाई का सर्वोत्तम साधन है। आदिवासी किसान पूर्णरूपेण वर्षा पर ही आश्रित रहते हैं।

कृषि-कार्य करने का तरीका—कृषि-कार्य वैशाख (मई) के महीने मे प्रारम्भ किया जाता है। सभी कृषक आदिवासी जो अपने देश के दूसरे भागो मे सामयिक श्रम की खोज में जाते हैं, अपने गाँव लौट आते हैं। भारत मे आदिवासी प्राय. खरीफ फसल मई महीने मे बोते है एव नवम्बर मे काटते हैं। उनमे से कुछ रबी फसल भी लेते हैं। रबी फसल मार्च तक तैयार हो जाती है।

खरीफ कृषि के मुख्य चरण ये हैं—(१) मई में खेत जोतना, (२) हल एवं दूसरे औजारो की देख-भाल करना। यदि आवश्यक हो तो उसको स्वयं ठीक कर लेना या ग्रामीण कारीगर के द्वारा या साप्ताहिक बाजार में मरम्मत कराना, (३) हल, बैलो एवं देवताओं की पूजा, (४) जून में प्रथम वर्षा के बाद जुताई, (५) जून मे ऊपरी भूमि में प्रक्षिप्त-

वाणी के आधार पर बोना, एवं पौधा लगाने के लिए नर्सरी में बोना, (६) जुलाई या अगस्त के पहले सप्ताह में पानी देना (७) एक पक्ष के उपरान्त हाथ से, बोने के बाद जब पौधे २५ से लेकर ३० सेंटीमीटर के हो जाते हैं, तब हलकी जुताई करना, (८) घास खानेवाले जानवरों से पौधे की देख-भाल एवं रक्षा करना, (९) बीमार पौधों के लिए खेत में जादू-टोने का प्रयोग, (१०) पानी की आवश्यक सतह को कायम रखना एवं पौधों को साफ रखने के लिए उनको नियमित रूप से देख-रेख करना, (११) सबसे पहले गोरा खेत एवं तब अगहनी फसल की कटाई, (१२) जानवरों के द्वारा तैयार किये गये चबूतरे पर दौनी करना या धान के बाल को पीटकर एवं दौनी के लिए चबूतरे की देख रेख करना, (१३) ओसाना, (१४) पूजा करना, (१५) नवम्बर तक कूटना एवं जमा करना।

खरीफ की क्रिया के बाद यदि जनजातीय लोग एक फसल उपजाने के लिए उत्सुक रहते हैं, तो वे रबी फसल के लिए तैयारी आरंभ कर देते हैं। प्रारंभिक एवं अंतिम चरण की पूजा के साथ फिर रबी फसल के सात चरण शुरू होते हैं। वे चरण हैं—(१) खेत को साफ करने के लिए जोतना, (२) खाद डालना, (३) बोना, (४) कोड़ना, (५) देख रेख करना, (६) कटनी एवं (७) सफाई और अनाज को जमा करना।

यह चक्र प्रायः होली अर्थात् मार्च तक समाप्त हो जाता है। भारत की कृषक जनजातियों के छोटे हिस्से द्वारा रबी फसल उगाई जाती है। गणना के अनुसार वही जनजातियाँ, जिनके पास अपेक्षाकृत समतल भूमि रहती है, दूसरी फसल भी उपजाती हैं उदाहरण-स्वरूप हैं हिमालय के तराई क्षेत्र की थारू (श्रीवास्तव, १९५८:४४-४५) एवं खासा (मजुमदार, १९६१:१५८-१६६); बिहार की मुण्डा (विद्यार्थी, १९६६:३१-३२) उरांव, संथाल एवं हो। मध्य भारत में मध्य प्रदेश, पश्चिम भारत मे गुजरात एवं महाराष्ट्र के भील (नाथ, १९६०:३०-३२ एवं सक्सेना १९६४:९२-९४) तथा गोंड, दक्षिण भारत में आन्ध्र प्रदेश के आदिलाबाद के गोंड भी रबी फसल उगाते हैं (हेमेनडार्फ, १९४८: ३८३-३८४)। भारत के सभी चार क्षेत्रों मे रहने वाली विभिन्न कृषक जनजातियों की कृषि-संबंधी क्रियाओं का सर्वेक्षण उनके बीच प्रचलित कृषि के आकार का एक विस्तृत चित्र पाने के लिए किया जा सकता है।

हिमालय क्षेत्र में थारू एवं खासा साल के अधिकांश समय में कृषि पर ही आश्रित रहते हैं। मई में धान की खेती करने के लिए थारू (श्रीवास्तव, १९५८:४४-४५) खेत को जोतना एवं समतल करना प्रारंभ करते हैं। बोने के पूर्व, वे खेत को समतल करने के लिए प्रायः तीन या चार बार जोतते हैं। वे लोग फसल के खराब हो जाने पर पैदा ही नहीं

हाने के भय से प्रथम जुताई अमावस्या के दिन कभी नहीं करते । प्रथम वर्षा के उपरान्त औरतें बोने के एक दिन पूर्व धान के बीज को पानी से भिगोती हैं । बीज या तो संबंधियों से उधार लिया जाता है या उनका अपना होता है या स्थानीय बाजारसे खरीदा जाता है । उनमें से अधिकतर खपत के लिए पहले होनेवाले धान के प्रकार को बोते हैं । बोने के बाद वे लोग जादू-टोना करते हैं जैसे भरारा (धार्मिक पुजारी) द्वारा मंत्रोच्चारण करते हुए पानी को खेत में छींटना या मथें हुए दूध का ग्रामीण औरतों बीच वितरण आदि, ताकि फसल को जंगली जानवरो एवं कीड़े-मकोडो से बचाया जा सके । चौथी अवस्था है खेत की देख भाल करना जिसके लिए वे बल्लियो पर अस्थायी झोपड़ी तथा मचान खड़े करते हैं । कुछ मरे हुए कौओ को भी बीच खेत मे ऊँचे बल्ले से बाँध देते हैं । फसल काटने के पूर्व ये नाया नामक त्योहार मनाते हैं । फसल की कुछ बालियाँ एवं दाने कुल-देवता एवं देवियो को अर्पित करते हैं । फसल काटने की क्रिया सितम्बर के अंतिम सप्ताह में या अक्तूबर के प्रथम सप्ताह मे परिवार के सभी सदस्यों द्वारा होती है । इसके बाद फसल की मिसाई (दौनी) होती है जिसे वे साफ-सुथरे मैदान (खलिहान) में बैलों द्वारा करते हैं । फसल की कुटाई एव छटाई ढेकी द्वारा की जाती है जो खरीफ की फसल का अंतिम चरण होती है । खरीफ की फसल के तुरन्त बाद थारू लोग रबी की फसल लगाने की तैयारी कर देते है । रबी की फसल में ये लोग गेहूँ, चना, मसूर, लाही तथा मटर की खेती अधिकांश रूप मे करते हैं । कार्तिक (नवम्बर) मे खेत की जुताई होती है । इसके बाद अगहन (दिसम्बर) मे बोआई शुरू हो जाती है । पूस महीने मे (जनवरी-फरवरी) फसल की नियमित रूप से देख-भाल की जाती है । फाल्गुन तथा चैत (मार्च-अप्रैल) के महीने मे फसल की कटाई होती है । फसल की दौनी ठीक उसी प्रकार होती है जैसी खरीफ की फसल की जाती है ।

खासा भी लगभग यही सब करते है । खासा के विभिन्न कृषि-कार्य-कलाप (मजुमदार १९६१:१६०) हैं—हल, जोल (समतल करना), गोदवार्त्त (निकौनी), रोपनी, लआर्स (कटनी) तथा मदवार्त्त (दौनी) । जहाँ तक हल जोतने का प्रश्न है, ये लोग स्वयं अपने परिवार के सदस्यो की सहायता से कर लेते हैं परन्तु अन्य कार्यों के लिए ये लोग अन्य परिवारों की सहायता सहकारिता के रूप मे लेते है । इस सहायता को उनकी भाषा मे पगयाली कहा जाता है । यह पद्धति प्रथागत है तथा गाँव के अन्य परिवारो को इस प्रकार एक-दूसरे की सहायता करनी ही पड़ती है । इस पगयाली के लिए बादी (नगाड़ा बजानेवाला) नगाडे की चोट पर गाँव वालो को सूचित कर देता है । जब वे सिचाई की व्यवस्था करते हैं, वे नगाडे की चोट पर गाँव के जानकार व्यक्तियों को सूचित कर देते हैं कि उन्हें अमुक व्यक्तियों के खेत मे सिंचाई की व्यवस्था करनी है । इस सूचना पर वे

जानकार व्यक्ति स्वयं खेतों में कार्य आरम्भ कर देते हैं। साधारणतया ये धान, गेहूं, जौ, मकई, मड़ुआ, गोंदली, दाली, आलू, तम्बाकू तथा टमाटर की खेती करते हैं।

कृषि-चक्र का प्रारम्भ हल जोतने से होता है। साधारणतया जनवरी या फरवरी मास की प्रथम वर्षा के होते ही दो या तीन बार खेत की अच्छी तरह जुताई कर देते हैं जिससे मिट्टी धूप की रोशनी को पूर्णतः प्राप्त कर सके। बोआई के पूर्व भूमि की पुनः जुताई की जाती है तथा मूर के ग्रंर में आग देकर जमीन की तैयारी वर्षा के पूर्व होती है। तदुपरांत वर्षा ऋतु की प्रथम बौछार के बाद खेतों को पुनः दो-तीन बार जोता जाता है। इसके बाद बीजों को खेत में बिखेर दिया जाता है तथा खेत पर पाटा चलाकर खेत को समतल कर दिया जाता है। अच्छी फसल की कामना के लिए ये लोग ईश्वर की आराधना भी करते हैं। फसल लगाने का जो दूसरा तरीका इनमें प्रचलित है, वह है बिचड़े को रोपाई करना। खेत में पानी भरकर हल की सहायता से कादो कर लिया जाता है और उसमें बिचड़े उखाड़कर रोपाई कर दी जाती है। ऐसा ये लोग सामूहिक रूप से गाँव वालों की मदद से करते हैं। तीसरा तरीका यह भी प्रचलित है कि सीधे बीज को कादो में बिखेर दिया जाता है। इस पद्धति को लेवा कहते हैं। प्रथम रोपनी के समय पाहन द्वारा एक पूजा की जाती है जिसे यहाँ के लोग कदलेटा कहते हैं। धान के खेत की निराई एवं गोड़ाई तीन या चार बार की जाती है। इस पद्धति को निकाई कहा जाता है। असाढ़ के महीने में 'हरियरी' नामक पूजा की जाती है। जब फसल पकने लग जाती है तो उसका संरक्षण आवश्यक हो जाता है। इसके लिए रात्रि में पुरुष लोग पुआल से बने हुए कुम्बे में रहते हैं। इस प्रकार का कुम्बा खेतों के समीप ही बनाते हैं जहाँ से फसल को देखा जा सकता है। गाँव वाले जादू-टोना भी करते हैं जिससे फसल की रक्षा कीड़े-मकोड़ों एवं जंगली जानवरों से की जा सके। जब धान पकने लगता है तो ये लोग "जोम नैवा" नामक पूजा करते हैं। धान की कटाई गाँव वाले सामूहिक रूप से करते हैं। दौनी के पूर्व खलिहान की पूजा की जाती है जिसे 'खरियान' कहते हैं। पाहन खरियान पूजा अगहन (नवम्बर) मास में करता है। धान के पौधे को जमीन पर ही बिखेर दिया जाता है एवं उनपर बैलों को चलाया जाता है जिससे पौधों से धान के दाने झड़कर जमीन पर गिर जाते हैं। इसके बाद पुआल को झाड़कर समेट लिया जाता है और हवा के झोंके से साफ किया जाता है। चावल बनाने का काम ढेंकी के माध्यम से किया जाता है और इस प्रकार कृषि-चक्र का समापन होता है। इसके बाद रबी फसल का चक्र नवम्बर मास से प्रारम्भ होता है जो मार्च या अप्रैल मास में समाप्त होता है।

पश्चिम बंगाल की जनजाति भूमिज खेत जोतने का कार्य पूजा से प्रारम्भ करती है। (सिन्हा, दासगुप्ता तथा बनर्जी १९६१:१७-२०)। माघ के प्रथम सप्ताह में "अखान

जतरा" मनाया जाता है तथा खेत जोताई की किया मई मास में होती है । कृषि-कार्य का दूसरा चरण बीज की बोआई से प्रारम्भ होता है जिसके लिए परंपरागत तरीके से दिन निश्चित किया जाता है । यह दिन ज्येष्ठ मास की तेरह से बीस तिथि के बीच कोई भी हो सकती है । बिचड़े लगाने के लिए खेत की जुताई अच्छी तरह खाद देकर चार या छः बार की जाती है । बिचड़े के खेत को "अपरगारी" कहा जाता है । तदुपरांत जिस खेत में रोपनी करनी है उसका कार्य शुरू होता है । खेत को चार-छः बार जोता जाता है इसे "उगल" कहते हैं । हलकी बारिश के उपरान्त दूसरी बार जुताई की जाती है । इसे "साखस" कहते हैं । तीसरी एव चौथी जुताई तेज वर्षा के बाद की जाती है जिससे खेत कादो किया जा सके । इस तरह की जुताई को "जवर" कहा जाता है । पाँचवे चरण मे रोपाई का कार्य होता है जिसे "रोआमा" कहते हैं । रोपनी के समय पचली नामक पूजा की जाती है । खेत मे पानी ठीक मात्रा मे जमा रहे एव पानी का बहाव नियन्त्रित रहे, इसके लिए भी व्यवस्था की जाती है । इसके बाद का कार्य होता है निकौनी (घास निकालना) । पानी की सतह आवश्यकतानुसार बनी रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि समयानुसार निकौनी की जाय । जगली जानवरों एव कीडो-मकोड़ो से फसल की रक्षा के लिए जादू-टोना किया जाता है । दौनी करने के लिए खलिहान की तैयारी फसल की कटाई के पूर्व की जाती है । तदुपरात फसल काटकर उसे खलिहान में जमा किया जाता है और वही इसकी दौनी की जाती है । खलिहान की रक्षा करना भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है । पुआल से बनाई गई गट्ठरी मे भण्डारण करने की विधि मे अपनी एक विशेषता है ।

सरल कारीगर वर्ग

कुछ जनजातियाँ ऐसी भी है जो लघु उद्योगों द्वारा अपना जीविकोपार्जन करती हैं । इनके मुख्य कार्य है टोकरी बनाना, छोटे-मोटे हथियार एव कृषि में काम आने वाले लकड़ी के तथा लोहे के औजार बनाना, कताई-बुनाई, लोहे का कार्य आदि । ये सभी कार्य (उद्योग) अन्य आदिवासियो की आवश्यकताओं की पूर्ति पर आधारित हैं । दूसरे शब्दों में ये जनजातियाँ अन्य जनजातियो की अर्थ-व्यवस्था के पूरक अंग हैं । इन जनजातियों मे विभिन्न जनजातियाँ विभिन्न उद्योगों मे सिद्धहस्त हैं तथा वे अपनी आजीविका के लिए इन्हीं उद्योगो पर निर्भर करती हैं । बहुत कम जनजातियाँ इस वर्ग मे आती है और ये व्यक्तिगत रूप से अपना-अपना उद्योग चलाती हैं । इनकी आर्थिक अवस्था काफी गिरी हुई है । ये जनजातीय गाँव मे उनके अभिन्न अग बनकर रहते हैं जिससे यह पता चलता है कि इन जनजातियों का कोई सुसगठित गाँव या स्थान नहीं होता है । इन

लोगों की अवस्था करीब-करीब हिन्दू गांव में रहनेवाले नाई तथा ब्राह्मणों जैसी है जो जजमानी-व्यवस्था पर निर्भर रहते हैं। ये लोग समय-समय पर बाजारों में जाते हैं और वहाँ अपने द्वारा बनाये गये सामानों की बिक्री करते हैं। सामान की बिक्री लेन-देन (बार्टर) की पद्धति द्वारा की जाती है या पैसे चुकाकर भी की जाती है। साधारणतया गाँव में प्रत्येक परिवार वर्ष में निश्चित अनाज देता है जिसके बदले ये उसके औजार आदि की मरम्मत कर देते हैं।

जनजातीय लोगों की एक विचित्र विशेषता है कि ये सभी लोग चटाई बुनना, टोकरी बनाना, बाँस के काम करना, सूत कातना आदि कार्य जानते हैं। इस तरह के कार्य इनकी जीविका का पूरक अंग बन गये हैं। १९६१ की जनगणना के अनुसार २.४७ प्रतिशत जनजातीय लोग घरेलू उद्योग-धंधों से संबंधित हैं। इस वर्ग में ऐसी जनजातियों को रखा गया है जिनका प्राथमिक कार्य इस तरह का उद्योग है। कश्मीर तथा हिमाचल प्रदेश के गुज्जर एवं हिमाचल प्रदेश के किन्नौरी ऐसी जनजातियाँ हैं जो लकड़ी से आवश्यक वस्तुएँ बनाने का कार्य करती है। उत्तर प्रदेश के कजर टोकरी तथा रस्सी बनाने का कार्य करते है। मध्य भारत में लोहरा करमाली, चीक बड़ाइक तथा महली ऐसी जनजातियाँ हैं जो सामान्य कारीगर के वर्ग में आती हैं। ऐसी सभी जनजातियाँ बिहार में पायी जाती हैं। लोहरा तथा करमाली ऐसी जनजातियाँ हैं जो स्थानीय जनजातियों या अन्य जातियो के लोगो के कृषि-संबंधी औजारो की मरम्मत किया करती हैं। मुण्डा तथा उराँव जनजाति के बीच हाथ से बुने हुए कपड़ों की आपूर्त्ति चीक बड़ाइक किया करते हैं। महली बाँस की टोकरियाँ बनाते हैं और यही उनकी जीविका का एक मात्र साधन है। बिहार की असुर तथा मध्य प्रदेश की अगरिया ऐसी जनजातियाँ है जिनका कार्य लोहे का काम करना था। अब ये जनजातियाँ कृषि एवं शिकार पर निर्भर करती हैं। पश्चिम भारत में गुड़िया लोहार (राजस्थान में) पाये जाते हैं। ये लोग भी लोहे का कार्य करते हैं। इनका कारखाना बैलगाड़ी पर घूमता रहता है। महाराष्ट्र के कोलम शुरू में टोकरी तथा चटाई बाँस से बनाया करते थे (महाराष्ट्र जनगणना कार्यालय, १९७२: २२६)। ये लोग सूत से भी चटाई आदि बनाते थे। यह परंपरागत उद्योग आज भी प्रचलित है, यद्यपि इन्होंने कृषि-कार्य भी अपना लिया है। त्तिलोलिया (महाराष्ट्र जनगणना कार्यालय, पृ० २७२) बाँस की चटाई तथा पंखा बुनने का कार्य करते हैं। दक्षिण भारत में ईरुला नामक जनजाति तमिलनाडु में रहती है जो बाँस की चटाई तथा टोकरी बनाकर अपनी आजीविका चलाती है। आन्ध्र प्रदेश की ओट जनजाति भी इसी वर्ग में आती है। नीलगिरि की कोटा जनजाति लकड़ी के औजार तथा बर्तन बनाती है। ये सभी जनजातियाँ स्थानीय दृष्टिकोण से अपने कार्यों में दक्ष हैं।

व्यवहृत उपकरण—टोकरी बनाने वाले माहली साधारण औजार व्यवहार में लाते हैं। उदाहरणार्थ टांगी, चाकू (काटू), टीन का बर्तन (कोल्टा), पत्थर का टुकड़ा (पाथर), बैठने के लिए चीज (आसन), हथौड़ा (मुँगर—बाँस का बना हुआ), इपाद (धूरा, लकड़ी का तीन पैरो वाला)। लोहे का काम करने वाली कमार जनजाति जिन विभिन्न औजारों का उपयोग करती है, वे ये हैं—भट्ठी, हस्तचालित पंखा, हथौड़ा (घना), छोटी हथौड़ी (मारतूल) सँड़सी, निहाई, छेनी, बटाली आदि। चीक बड़ाइक के पास कपड़े बुनने का करघा होता है जो लकड़ी का बना होता है।

कार्य-पद्धति—बाँस से सामग्री बनाने वाले जनजातीय कारीगर सर्वप्रथम बाँस को एकत्रित करते हैं तथा उसे छोटे-छोटे भागो मे काट लेते हैं। इनकी लम्बाई लगभग तीस से पचास सेमी० की होती है। इन टुकड़ो से पतली-पतली कमाचियाँ बनायी जाती हैं। टोकरी बनाने के लिए इस प्रकार की छ पतली कमाचियो को तारेनुमा आकार मे सजाया जाता है और इन्हें बीच मे बाँध दिया जाता है। बाँधने की पद्धति एक के ऊपर एक होती है। इस प्रकार की बुनाई के बाद यह एक गोल आकार का बन जाता है और अंत मे इसके मुख को अच्छी तरह से बाँध दिया जाता है जिससे यह टोकरी का आकार ले लेता है। इसी प्रकार पखे आदि भी बनाए जाते है।

विभिन्न प्रकार के लोहे का औजार बनाने के लिए कामर जनजातीय कारीगर लोहे की चादर या लोहे का छड बाजार से खरीदकर ले आते है जिससे वे विभिन्न प्रकार के औजार तैयार करते हैं। सर्वप्रथम इन छडो अथवा चादरो को आवश्यकतानुसार हथौड़े तथा छेनी की मदद से काट लेते हैं। तदुपरात इन्हें भट्ठी मे डालकर गर्म किया जाता है। जब ये लोहे गर्म होकर लाल हो जाते हैं तब उन्हे सँड़सी की मदद से पकड़कर बाहर निकाला जाता है और निहाई पर रखकर हथौड़े की मदद से पीटकर आवश्यक आकार में लाया जाता है। इस पद्धति को बार-बार तब तक दुहराया जाता है जब तक उस लोहे का आकार आवश्यकतानुसार न हो जाये। हथौड़ा चलाने मे साधारणतया दो व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। एक व्यक्ति गर्म लोहे के टुकडे को सँड़सी की सहायता से पकड़ता है और दूसरा व्यक्ति हथौड़े से चोट करता है। हल का फार बनाने के लिए यही पद्धति अपनायी जाती है। इसके अतिरिक्त इसी पद्धति से छेनी, चाकू आदि भी बनाये जाते हैं। हँसुआ बनाने के लिए सर्वप्रथम लोहे को चौड़ा आकार दिया जाता है। जब यह अंतिम आकार ले लेता है तब उस गोल लोहे के कोर में छेनी तथा हथौड़े की मदद से दाँत बनाये जाते हैं परन्तु ऐसा करने के लिए लोहे का इतने तापक्रम पर गर्म रहना आवश्यक है कि उसका रंग लाल हो जाय। लकड़ी की गाड़ी के पहिये पर चढ़ाने के लिए एक लोहे के चक्र (हाल) की आवश्यकता होती है जिसका आकार पहिये से कुछ छोटा होता है।

इसे पहिये में डालने के लिए गर्म करके फैलाया जाता है और जब पहिये में घुस आता है तो इसे ठंडा कर सिकोड़ा जाता है जिससे यह पहिये में काफी मजबूती के साथ लगा रहता है।

पशुचारी वर्ग

भारतवर्ष में दुग्ध-उत्पादन पर आश्रित जनजातियाँ नीलगिरि में पायी जाती हैं। टोडा इस वर्ग की जनजाति है जो दक्षिण भारत के तमिलनाडु में निवास करती है। गुज्जर छम्ब मे पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम हिमालय की तराई के हिमाचल प्रदेश में बकरावल, गद्दी तथा जद्ध रहते हैं। दुग्ध-उत्पादक पूर्ण रूपेण इसी पेशे पर निर्भर करते है। टोडा ऐसी जनजाति है जो पूर्ण रूप से अपनी आजीविका इसी पेशे से चलाती है। इन्हे (टोडा) कृषक बनाने की काफी चेष्टा की गयी, फिर भी आज तक अपनी आजीविका के लिए वे पूरी तरह दुग्ध-उत्पादन पर आश्रित हैं। मध्य भारत में किसान तथा बिहार एवं मध्य प्रदेश मे नगेशिया ऐसी जनजातियाँ हैं जो इसी वर्ग मे आती हैं। भरवाद या मलधारी तथा रायसी पोत्रा रबारी आदि गुजरात में निवास करते हैं और ये लोग भी दुग्ध-उत्पादन जनजाति के वर्ग मे आते हैं। गोला, कुरवा तथा लम्बादा दक्षिण भारत की दुग्ध-उत्पादक जनजातियाँ हैं। पंजाब के साँसी एवं जम्मू तथा कश्मीर के चोपान भी इसी वर्ग की जनजातियाँ है। अल्मोड़ा जिले के भोट जानवरों को पालकर अपनी आजीविका चलाते हैं। सामान्यतया व्यक्तिगत रूप से मवेशी पालने-वाली जनजातियो की संख्या अति न्यून है, केवल कुछ हजार।

कुछ जनजातियाँ ऐसी है जिन्हें दुग्ध-उत्पादक कहा तो जाता है परन्तु यह इनका मुख्य पेशा नहीं है। जम्मू एवं कश्मीर और हिमाचल प्रदेश मे निवास करने वाली जनजातियाँ इसके सबसे अच्छे उदाहरण हैं। बिहार के शाहाबाद जिले मे खेरवार नामक एक जन-जाति पायी जाती है जो अन्य लोगो के मवेशियों को चराकर अपनी आजीविका का प्रबंध करती है। उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग में भोटिया नामक एक जनजाति है जो कृषक एवं दुग्ध-उत्पादक के बीच में आती है। जनजातीय लड़के मवेशी चराने का काम करते हैं और इस प्रकार अपने माता-पिता की मदद करते हैं।

दक्षिण भारत में गोला ऐसी जनजाति है जो परंपरागत रूप से गड़ेरिया है। मैसूर के कुर्बा सिद्धहस्त भेंड़-पालक थे। अब वे ऊन के मजबूत कम्बल बनाते हैं। इनमें से कुछ आज भी भेंड़ पालने के कार्य में जुटे हुए हैं। लंबाडा (नमक-विक्रेता) को सुगाली (अच्छे गाय-पालक) भी कहा जाता है। मैसूर तथा आन्ध्र प्रदेश के बंजारा भी अच्छे मवेशी-पालकों में से हैं। मद्रास की जनगणना रिपोर्ट में इन लोगों का वर्गीकरण

मवेशी चराने वाले आदि रूपों मे किया गया है (राघवैया, १९६८:१५८-५९)। हिमाचल प्रदेश के गुज्जर हल जोतने से अधिक मवेशी पालने पर ही आश्रित हैं (पालसिंह, १९६७:८)। इनका मुख्य कार्य गाय तथा भैंस पालना और दूध से बनी हुई चीजें बेचना है। गुज्जर, जो हिमालय की ऊँची पर्वत-शृंखलाओं मे तथा कश्मीर मे निवास करते है, मुस्लिम धर्म के है। ये गुज्जर गर्मियों में अपनी भेड़ो के साथ यत्र-तत्र घूमते हैं। ये लोग काफी मजबूत शारीरिक गठन के होते हैं (कामिली, १९६४:१०)। 'गुजरी' शब्द व्यावसायिक नाम है जिसका अर्थ होता है—वह व्यक्ति जो मवेशी पालता हो तथा उसके दूध या दूध से बनी अन्य सामग्री बेचता हो। अभी तक इस शब्द की उत्पत्ति के बारे मे ठीक ठीक पता नही लगा है कि यह शब्द "गुज्जर" शब्द का ही अपभ्रंश है। हँसमुख तथा चचल गद्दी जनजाति धवलाधर तथा पीरपंजाल की घाटियो मे निवास करती है (बोस, १९६८:१३७)। गुज्जर के विपरीत गद्दी लोग हिन्दू धर्म को माननेवाले है। घाटियों के नीचे गांव बसाकर ये लोग स्थायी रूप से निवास करते है। साधारणतया नवयुवक लोग अपनी भेड़ो तथा बकरियों को लेकर चराने के लिए गर्मियो मे घाटियो के ऊपर आते है। ये लोग कच्ची ऊन तथा ऊन से बनी सामग्री की बिक्री करते हैं। भागीरथी घाटी के जदद्ध अपनी भेंड़ बकरियो के समूह के साथ यत्र-तत्र विचरण करते है (बोस, १९६८:१३७)। सर्दियों मे ये नीचे चले आते है, अन्यथा ये पहाड़ो पर ४,००० मीटर की ऊँचाई पर विचरण करते रहते हैं। इस तरह इनके निवास दो स्थानो पर होते हैं—एक तो पहाड़ियो की ऊँचाई पर एव दूसरे पहाड़ियो की निचली सतह पर।

लद्दाख, लेह तथा कश्मीर की घाटियो मे चौपान नामक एक जनजाति निवास करती है जो भेड-बकरियों को मुआवजे के तौर पर होनेवाली आय के लिए पालती है। इसके अपने निजी मवेशी नही होते। ये लोग गुज्जर तथा बकरवाल के ससर्ग मे रहते हैं तथा उनके लिए जो कार्य कर देते हैं उसके बदले इन्हे जो भेंड़ बकरियाँ प्राप्त होती हैं उन्हें ही ये पालते है। जैसा कि उनके नाम से ज्ञात होता है, ये बकरवाल बकरी तथा भेंड़ पालते हैं। साधारणतया ये लोग (बकरवाल) अच्छे खाते-पीते होते है। इनका अपना घर होता है जिसमे वे स्थायी तौर पर अपने बाल-बच्चो के साथ रहते हैं। इनमें से बहुत लोग जब भेड़-बकरियो को लेकर गर्मी मे बाहर जाते है तो अपने घर की औरतों तथा बच्चों को अपने स्थायी निवास-स्थान मे ही सुरक्षित छोड़ जाते हैं। कश्मीर में गड़ेरियों की संख्या पूरे राज्य की आबादी की एक-चौथाई है (राघवैया, १९६८:१५५)। इन गड़ेरियों के घूमने-फिरने की अवधि वर्ष मे आठ से नौ महीने तक की होती है जो अप्रैल महीने मे गर्मी के आगमन से आरम्भ होती है। इनका यह भ्रमण एक चक्र में होता है और पूरे-

जैसे गर्मी बढ़ती है, ये घाटियों के ऊपरी तल पर पहुँचते जाते हैं और भयस्त मास की प्रथम वर्षा के उपरान्त नीचे की ओर उतरना प्रारम्भ कर देते हैं। इन महीनों में ये लोग आने-जाने स्थानों में ही रहते हैं। एक स्थान पर ये लगभग १५ दिनों तक ठहरते हैं या तब तक ठहरते हैं जब तक उस स्थान का चारा समाप्त नहीं हो जाता। १० से १५ गडेरियों का एक दल बनता है। पहाड़ियों की ऊँचाई पर यातायात तथा भण्डारण की असुविधा के कारण ये लोग मवेशियों के दूध स्वयं समाप्त कर जाते हैं। ये लोग ऊन बेचते हैं तथा साथ में वध करने हेतु मवेशियों की बिक्री भी करते हैं।

पश्चिम भारत में भारवर्द या मालधारी भी ऐसी जनजाति है जो मवेशी-पालन पर निर्भर करती है। ये गुजरात में पाये जाते हैं (त्रिवेदी, १९६५:९, १२,२४,३५)। ऐसा कहा जाता है, ये भारवर्द उसी जाति के हैं जिस जाति के भगवान् कृष्ण के पालक पिता नंद मेहट थे अर्थात् ये लोग मेहर जाति के समकक्ष हैं। इन लोगों का मूल निवास गोकुल-वृंदावन बतलाया जाता है जहाँ से ये लोग मेवाड़ आये तथा मेवाड़ से गुजरात के विभिन्न स्थानों में फैल गये। ये लोग अपने मवेशियो को काँटेदार झाड़ियों के घेरे में रखते हैं। इनमें से कुछ लोग मवेशियों को रखने के लिए घर भी बनाते हैं जिसे ये 'कोढिया' कहते कहते हैं। इनकी लाल पगड़ियाँ देखकर इन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है। जिनके पास जितनी ही संख्या मे मवेशी होंगे, उन्हें उतना ही ऊँचा सामाजिक स्तर प्राप्त होगा। ये लोग अपने निकट संबंधियो से अधिक उनसे संबंधित होते हैं जिनके साथ ये सोते हैं। ये पहाड़ियों पर या जंगलो में घूमते रहते हैं। ये लोग घुमंतू जीवन व्यतीत करते हैं, विशेषकर उस समय जब गर्मियो मे मवेशियों के लिए चारे की कमी हो जाती है। अधिकांशतया ये लोग अच्छी घास की खोज में या फिर वायु-परिवर्तन हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। कभी-कभी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना मवेशियों की मृत्यु-संख्या पर भी निर्भर करता है। भारवर्द लोग अपनी सभी सामग्री के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं और अपना अस्थायी निवास वहीं बनाते हैं जहाँ चारे का समुचित प्रबंध होता है जिससे इन्हें प्रतिदिन अपने निवास-स्थान से चरागाह आने में अधिक दूरी न तय करनी पड़े। इनका अपना घर होता है जहाँ ये स्थायी रूप से रहते हैं। इनके अस्थायी घरों को 'नेस' कहा जाता है जहाँ ये औरतों तथा बच्चों के साथ रहते हैं। बूढ़े लोग इनके स्थायी निवास-स्थान की देख-रेख करते हैं। अधिकतर ये लोग भेड़ों के बालों की बिक्री करते हैं तथा थोड़ा-बहुत दूध भी बेच लिया करते हैं। ऊन की कटाई साल में दो बार ज्येष्ठ (जून) तथा पूस (जनवरी) में की जाती है जिससे इन्हें प्रति भेड़ आधा किलो ऊन मिल जाता है। ऊन के काटने का काम सभी लोगों के सहयोग से किया जाता है। साधारणतया भेड़ का मालिक अपने अन्य पड़ोसियों को आमंत्रित

करता है तथा उनके सहयोग से वह ऊन की कटाई करता है। इसके बदले में आमंत्रित लोगों को भोजन कराया जाता है।

गुजरात तथा सीमांत राजस्थान की रबारी भी इसी वर्ग की जनजाति है। उल्लिखित भारवर्द के ये निकट संबंधी हैं तथा ये लोग आपस मे एक साथ बैठकर खाते-पीते हैं। रबारियों को भोपा, मोघा, रायका, विशोतार तथा सिनाई आदि नामों से भी जाना जाता है। रबारी शब्द की व्युत्पत्ति फारसी शब्द रहबर से मानी जाती है जिसका अर्थ होता है दिग्दर्शक और ऐसा इसलिए है कि उन्हें इस सम्पूर्ण स्थान का गहन ज्ञान है। ये लोग काफी बड़ी संख्या में गाय, बकरी, भेंड़ तथा विशेषकर ऊँट पालते हैं और वर्ष के दो-तिहाई समय मे इन मवेशियों के लिए चारा ढूंढ़ने हेतु विचरण करने मे व्यतीत करते हैं। ये लोग दूध एव उससे बनी सामग्री, ऊन तथा बाल की बिक्री करते हैं। ये लोग ऊँट की भी बिक्री करते हैं, यदि उस मवेशी की कीमत पाँच सौ रुपये से एक हजार रुपये तक प्रति मवेशी प्राप्त हो। ऐसी दंतकथा है कि रबारियों का जन्म ही ऊँटों की देखरेख के लिए हुआ जिन्हें देवी पार्वती ने अपने मनोरंजन के लिए बनाया था (गुप्ता, १९६६:१६)।

गुजरात भी रायसी पोत्रा जैसी जनजाति का निवास-स्थान है। ये मालधारी या मवेशी पालक हैं तथा मुस्लिम धर्म के अनुयायी हैं। इन्हें रायसी के पुत्र (पोत्रा) भी कहा जाता है। रायसी एक प्रसिद्ध फकीर थे (त्रिवेदी, १९६५:२२)। १९४७ के विभाजन के पूर्व ये लोग अपने मवेशियो को बेचने के लिए सिंध भी जाया करते थे परंतु विभाजन के पश्चात् इन्होंने गुजरात को ही पूर्ण रूप से अपना केन्द्र बनाया। इनमें एक विचित्रता यह है कि ये दूध बेचना पुत्र को बेचने के समान मानते हैं अतः ये दुग्ध या दुग्धोत्पादित वस्तु नही बेचते। परन्तु इधर इन लोगों ने दुग्ध बेचना भी प्रारंभ कर दिया है। ऐसी अवस्था मे मवेशी पालने का उद्देश्य मात्र मवेशी-प्रजनन है। ये लोग अच्छी नस्ल की गायों एवं भैंसों का प्रजनन करते है और इन्हें ही बेचकर अपना जीविकोपार्जन करते है। ये लोग भेंड़ तथा बकरियाँ भी पालते हैं एवं भेंड़ से उत्पन्न ऊन की भी बिक्री करते हैं। साधारणतया ये लोग अपने मवेशियो को रात्रि में चराते हैं क्योंकि इनके निवास-स्थल में काफी गर्मी पड़ती है। दीपावली के पश्चात् अर्थात् अक्टूबर-नवंबर से लेकर होली तक (अर्थात् मार्च तक) ये लोग दूर गाँवो में विचरण करते हैं। बन्नी गुजरात का एक प्रसिद्ध मवेशी-प्रजनन केन्द्र है। इस प्रकार भारतवर्ष मे मवेशी-पालक जनजातियाँ विभिन्न भागों में निवास करती हैं तथा उन्हें ही बेचकर अपना जीवन-यापन करती हैं। इनमें से कुछ तो दुग्ध तथा दुग्धोत्पादित वस्तुओं की खपत स्वयं करती हैं। इस प्रकार इन जनजातियों को इनसे मवेशी, भोजन, जलावन तथा चमड़े एवं बर्तन की प्राप्ति होती

है। इतना ही नहीं, इन्हें तन ढाँकने को इन्हीं मवेशियों से ऊनी कपड़े की भी प्राप्ति होती है। इन मवेशियों को सीधे बेचकर ये धनोपार्जन भी कर लेते हैं।

लोक-कलाकार वर्ग

कुछ ऐसी भी जनजातियाँ हैं जिनका मुख्य पेशा नाचना, गाना, चारण, कलाबाजी, सर्प-नृत्य कराना आदि हैं। इसी प्रकार की जनजातियाँ इस वर्ग में ली गयी हैं। वास्तव मे ये लोग लोक-कलाकार हैं। चूँकि आर्थिक रूप से ये अपनी इस कला पर निर्भर हैं, अतः वर्तमान आर्थिक वर्ग में इन्हे लाने की आवश्यकता पड़ी। भारतीय जनजातियों में, जिन्हें लोक-कलाकार कहा जा सकता है, नट एवं सँपेरा ये दोनों अधिकांश रूप में दक्षिण-पूर्व उत्तर प्रदेश मे पाये जाते है। कुछ कलाबाज, जैसे मुण्डुपुत्ता तथा केला जनजाति के लोग हैं जो मध्य भारत के उड़ीसा राज्य में पाये जाते हैं। चारण से संबंधित जनजातियाँ हैं—प्रधान तथा ओझा। साँपों को पकड़ने वाली जनजातियाँ हैं—पमुला तथा मदारी। गारद जनजाति के लोग कलाबाज होते हैं। पालू कुमुगुला तथा पदिन्ली गुला जनजातियों के लोग जादूगर होते हैं। आन्ध्र प्रदेश के बहुरूपा तथा तमिलनाडु के कुछ कोठा जनजाति के सँपेरा भी जादूगर ही होते हैं तथा पश्चिम भारत में राजस्थान के कलबेलिया जनजाति के लोग सँपेरा होते है।

नट लोग अपना तमाशा नाचकर तथा गाकर दिखलाते हैं। ये रस्सी पर चलकर भी नाचते हैं तथा कलाबाजियो का प्रदर्शन करते हैं। पन्द्रह मिनट से लेकर एक घंटे तक इनका तमाशा किसी स्थल-विशेष पर होता है जहाँ एकत्रित दर्शक इनका तमाशा देखकर इनाम देते हैं। यही इनाम इनके जीवन-यापन का साधन होता है। साधारणतया ये लोग हिन्दू धर्म के अनुयायी होते हैं परन्तु इनमे से कुछ मुस्लिम धर्म को भी मानने वाले हैं। पारिवारिक आय के लिए ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम-घूमकर अपना तमाशा दिखाते रहते हैं। जैसा राय ने उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर मे देखा है, ये लोग अपना कार्य एक दल बनाकर करते हैं जिसमे दो से लेकर सात व्यक्ति सम्मिलत होते हैं तथा इस दल मे एक या दो बच्चे कलाकार भी रहते हैं। इन बच्चे कलाकारों की उम्र नौ से चौदह वर्ष तक की होती है। एक या दो कलाकार नवयुवक या नवयुवती भी होती हैं जो पंद्रह से पच्चीस वर्ष की उम्र की होती हैं। अन्य कलाकार चालीस से पचास वर्ष के बीच के भी होते हैं। साधारणतया एक ढोल बजानेवाला तथा एक बच्चा कलाबाज इन दलों में अवश्य सम्मिलित होते हैं। ये ढोल-वादक दर्शक को आकर्षित कर एकत्रित करते हैं तथा रस्सी को बल्लियों के सहारे बाँधने का काम करते हैं। जहाँ पर रस्सी बँधी रहती है, उसी स्थान से ये लोग स्थानीय-स्तर पर नाचना प्रारम्भ करते हैं। लोहे के वृत्ताकार

रिंग अथवा धूरे के साथ ये अपनी कलाबाजियाँ दिखलाते हैं। कभी-कभी ये लोग रस्सी पर संतुलन दिखलाते हैं या सिर के बल चलते हैं या जलती हुई आग की लपट के साथ रस्सियों पर खेलते हैं। कभी-कभी दो से चार वर्ष के नट बच्चों का खेल लोगों को विशेष रूप से आकर्षित करता है। जैसे ही खेल की समाप्ति का समय होता है, उनका एक नट साथी लोगो के पास इनाम की प्राप्ति के लिए चारों ओर घूम जाता है। अंततोगत्वा 'खेल खतम पैसा हजम' जैसे शब्दो के उच्चारण के उपरात खेल का समापन होता है।

प्रधान (चद्रशेखर, १९६५ एफ : ९,३१) गोंड जाति के बीच भाट का कार्य करते हैं। कृषिकार्य भी इनका परंपरागत पेशा है। ये लोग जीविकोपार्जन हेतु खेती, खेतिहर मजदूर, भाट तथा वंशावली एकत्र करने का कार्य करते हैं। ये लोग फिकरी नामक वाद्य का प्रयोग करते है जो तार का बना रहता है। इसी वाद्य यंत्र को बजाकर पड़ोसी गोंड के बीच भिक्षाटन करते हैं जिसे उनकी भाषा में 'पोटादि' कहा जाता है। गोंड जनजाति के विशेष सामाजिक उत्सवों में इनकी उपस्थिति आवश्यक हो जाती है। युवावर्ग के प्रधान ने गोंड जनजाति के लोगों से अपना संबंध बहुत ही कम कर दिया है एवं गोंड लोगों ने भी परंपरागत भिक्षा देना कम कर दिया है। फिर भी, वे प्रधान जो पोटादि को मानते चले आये हैं वे आस-पास के गाँवों मे अभी भी भिक्षाटन करते हैं। प्रधान लोग काफी विनोदी होते हैं तथा इनके विनोद मे गोंड लोग काफी रस लेते हैं। गोंड लोग एक प्रकार का "प्रेमशा" नृत्य करते हैं जो विशेषकर शादी-विवाह के उपलक्ष में सारी रात किया जाता है। ये प्रधान लोग इस नृत्य मे अपने वाद्य यंत्रों के साथ इनकी सगति करते हैं। प्रधान लोगों का अपना कोई गाँव नहीं होता। वास्तव में ये लोग गोंड जनजाति की ही उपजनजाति हैं।

प्रधान जनजाति की तरह ही ओझा जनजाति भी गोंड जनजाति की उपजनजाति है। ये लोग गोंड तथा कोरकू जनजातियो के भाट के रूप मे प्रसिद्ध है। व्यावसायिक रूप से इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक वर्ग तो प्राथमिक रूप से नृत्य एवं वादन का कार्य करता है। ओझा स्त्रियाँ पड़ोसी समुदाय के लोगों की बाँहों में गोदना गोदने का कार्य करती हैं।

आन्ध्र प्रदेश के डोंगरा कलाबाजियाँ दिखलाकर ग्राम-वासियो का मनोरंजन करते हैं जिससे इन्हें अनाज के रूप मे पारिश्रमिक की प्राप्ति होती है। इन्हें कुछ पैसे तथा कपड़े भी मिल जाते हैं। अपना खेल दिखलाने के लिए ये गाँव-गाँव घूमते हैं। इनमें से कुछ कृषक मजदूर के रूप में गाँवो में बस गये हैं। बहुरूपिया बाल संतोषा ऐसी जनजाति है जो विभिन्न प्रकार के रंगों से अपना चेहरा रँगकर या जोगी, ऋषि, योगी, देवर-भाभी

आदि पात्रों की नकल कर बच्चों का मनोरंजन करती है। आन्ध्र प्रदेश के पीची-कुंची-गुंतल जनजाति के लोग रेड्डी लोगों की प्रशंसा में गाना गाकर अपना जीविकोपार्जन करते हैं। गर्दी लोग अपना जीविकोपार्जन साँपों को अपने वश में कर तथा अन्य हाथ की सफाई दिखलाकर करते हैं (रायबैया, १९६८:११०)।

नीलगिरि के कोटा, टोडा लोगों के लिए बर्तन तथा चाकू आदि की आपूर्ति ही करते ही हैं, साथ ही साथ उनके विभिन्न उत्सवों के लिए आवश्यक वाद्यों का भी प्रबंध करते हैं जिसके बदले में अनाज मिल जाया करता है (हर्सकोविट्स १९५२:१५६-५७)। इसी तरीके से ये लोग कुरूबा के साथ भी अपना संबंध स्थापित किये हुए हैं जो इनकी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति मधु तथा फल देकर करते हैं।

राजस्थान की कलबेला जनजाति के लोग सँपेरों के रूप में जाने जाते हैं। इनके जीवन-यापन के विभिन्न साधन हैं परन्तु मुख्य रूप से ये लोग साँपों को वश में करने और नाच, गाना एवं जादू का कार्य दिखलाते हैं। काल शब्द का अर्थ है मृत्यु एवं बेलिया शब्द का अर्थ है विजय पाना है। इस प्रकार यह शब्दार्थ इनके जीवन-यापन के तरीके को भलीभाँति परिलक्षित करता है। ये लोग विष तथा विष को समाप्त करने वाली दवाओं का निर्माण स्वयं करते हैं तथा सर्प-दंश से पीड़ित व्यक्तियों का उपचार भी करते हैं। जब भी ये अपना खेल दिखलाते हैं, इनके साथ इनका एक शिष्य अवश्य होता है जिसे इनकी भाषा में जमूरा कहा जाता है। जमूरा की ही सहायता से ये अपना खेल सफलता-पूर्वक दिखला सकते हैं। इसी खेल के बदले दर्शक लोग इन्हें पैसा देते हैं।

मजदूर वर्ग (कृषक एवं अकृषक)

ऐसी जनजाति के लोग जो परंपरागत कृषक हैं, अथवा कारीगर हैं परन्तु भूमिहीन हैं, अपने जीवन-यापन के लिए दूसरों के खेतों में मजदूरी करते हैं। यही उनकी आय का एक मात्र साधन है। ये लोग कृषि के अतिरिक्त अन्य धंधों में भी आकस्मिक मजदूर के रूप में काम करते हैं। इनका नियोजन प्रतिदिन के आधार पर भी होता है। कृषि का कार्य तो अधिकतर कुछ ही किमी० की दूरी में मिल जाता है, परंतु कृषि से भिन्न कार्यों के लिए इन्हें दूर भी जाना पड़ता है। लगभग पूरी जनजातियों की संख्या का १/५ वाँ भाग (१९.७१ प्रतिशत) कृषक मजदूर हैं (मिश्रा, १९९६)। अकृषक मजदूर अधिकांश-तया विभिन्न उद्योगों में कार्यरत हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जनसंख्या में वृद्धि के कारण भूमि पर अधिक दबाव पड़ा है तथा जनजातीय क्षेत्रों में अधिकाधिक कल-कारखाने तथा खान खोले गये हैं और इन्हीं के फलस्वरूप कृषक मजदूरों की उत्पत्ति हुई। भारत की जनजातियाँ दीर्घ काल से उद्योग-धंधों से संबंधित हैं तथा कल-कारखानों में

काफी सफलतापूर्वक इन्होंने अपनी कार्यक्षमता का प्रदर्शन किया है। इन्हीं तथ्यों के फल-स्वरूप ये जनजातियाँ अपना कृषिकार्य छोड़कर सामयिक रूप से दूर शहरों में विस्थापित हो गयी हैं तथा खदानो, मिलो, चाय-बागानों आदि में कार्य करना प्रारंभ कर दिया है। दूर शहरों मे जाकर इन लोगो ने कल-कारखानो मे, गृह-निर्माण कार्यों में, बाँध-पुल आदि के निर्माण मे मजदूरी करना प्रारंभ कर दिया है। ये लोग दल बनाकर भी मजदूरी पाने के लिए बाहर चले जाते हैं जिसमें स्त्रियों का भी समावेश होता है। १९६१ की जनगणना के अनुसार ३.४२ प्रतिशत मजदूर आदिवासी खदान, मछली-पालन, जानवरों के शिकार तथा फलो के वृक्षारोपण आदि कार्यों से संबंधित थे तथा ०.७१ प्रतिशत एवं ०.३१ प्रतिशत लोग अन्य उत्पादन-कार्यों मे सबधित थे। कुल मिलाकर ४.४४ प्रतिशत जनजाति के लोग अकृषि कार्यों से सबंधित थे (मित्रा १९६६)।

मध्य भारत में बिहार, उड़ीसा, बगाल तथा मध्य प्रदेश के आदिवासी काफी संख्या मे औद्योगिक जीवन से सबद्ध हो चुके है। औद्योगिक भारत का मुख्य स्थल भी यही प्रदेश है।

अकृषक मजदूरो का केन्द्र बिहार का छोटा नागपुर है। इस भाग के मजदूर उत्तर-पूर्व भारत मे असम के चाय-बगानों मे काफी संख्या मे काम कर रहे हैं। साथ ही अंदमान तथा निकोबार द्वीपो मे भी ये काफी सख्या मे गये हैं। १५ हजार से भी अधिक आदिवासी राँची के विभिन्न क्षेत्रो से जाकर अन्दमान द्वीप मे विभिन्न रूप से कार्य कर रहे हैं। इस कथन में अतिशयोक्ति नही है कि ये ही लोग वर्तमान अन्दमान द्वीप के निर्माता हैं (विद्यार्थी, १९७१)। सथाल लोग खादानो मे काम करने तथा कोयला काटने के काम मे सिद्धहस्त माने जाते है। मध्य प्रदेश के मैंगनीज उद्योग मे ५० प्रतिशत आदिवासी मजदूर-कार्य कर रहे है। संथाल एव हो बिहार के लोहे के खदानो एव कारखानो मे सर्वाधिक हैं। खानो तथा कारखानो के खुल जाने से ग्रामवासियों को तथा विशेषकर आदिवासियों को एक अच्छा नियोजन का साधन मिल गया है। अधिकांश ग्रामवासी अकुशल मजदूर के रूप मे कार्यरत हैं (विद्यार्थी, १९७०)। ये ग्रामवासी पूरक या मुख्य धंधे के रूप में इस कार्य को अपना चुके हैं। इस उद्योगीकरण के कारण गाँव मे उद्योग-धंधे का ह्रास-सा हो गया है। इस व्यवसाय-परिवर्तन से इन परिवारो के आय-व्यय मे काफी वृद्धि हुई है। इस परिवर्तन से इनकी भौतिक सस्कृति पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। नवयुवतियाँ अपने खान-पान तथा पहनावे मे काफी परिवर्तन ला चुकी हैं। इनके बीच सब्जी, मांस, अंडे आदि की खपत मे वृद्धि हुई है।

परंपरागत मनोरंजन की विधियो मे ह्रास हुआ है क्योंकि इन नये कार्यों में मानसिक

तथा शारीरिक रूप से थकावट बहुत होती है। अब ये लोग अधिक सांस्कृतिक प्रभावक हो गये हैं न कि सांस्कृतिक निर्धारित। परन्तु यह कहना सर्वथा कठिन है कि यह परिवर्तन मात्र औद्योगीकरण के कारण हुआ है। ग्रामवासियों को एक पूरक व्यवसाय की प्राप्ति हो गयी है जिससे वे पहले से अधिक पैसा कमा रहे हैं तथा अपनी परंपरागत एवं तात्कालिक दोनों ही आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे हैं। ये जनजातियाँ अस्थायी रूप से असाम के चाय बागानों में तथा बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि राज्यों के औद्योगिक क्षेत्रों में विस्थापित होती हैं। ये मजदूर अपना गाँव दिसम्बर के अंत में छोड़ते हैं तथा अप्रैल के के अंत में वापस लौट आते हैं। इनमें से कुछ स्थायी रूप से विस्थापित हो चुके हैं। अन्दमान तथा निकोबार द्वीपों में ये लोग कई वर्षों के लिए जाते हैं। इनमें से कुछ तो कभी-कभार अपने गाँव कुछ दिनो के लिए आते है परन्तु अधिकांश लोग अन्दमान में ही बसना उत्तम समझते हैं जिसके लिए उन्हे आज्ञा नही मिलती। दुर्गापुर, बर्नपुर आदि के कोयले तथा अभ्रक के खादानो मे काम करने वाले मजदूर अस्थायी झोपड़ियों में रहते हैं तथा कुछ लोग अस्थायी कालोनी में रहते हैं।

कुशल सफेदपोश-कार्य तथा व्यावसायिक वर्ग

भारतवर्ष में विभिन्न भागो के जनजातीय समुदाय के कुछ लोग अपनी आजीविका के लिए विभिन्न कार्यालयो, अस्पतालो, कारखानों तथा व्यावसायिक संस्थानों में कार्य करते हैं। इनमे से कुछ अपने ढग के व्यापारिक धंधों में भी लगे हुए हैं। इस प्रकार का आर्थिक जीवन व्यतीत करने का एक कारण तो निजी अध्यवसाय है ही परन्तु भारतवर्ष के संविधान द्वारा दी गयी सहूलियतो के कारण भी इस वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ है। संवैधानिक व्यवस्था के फलस्वरूप प्रायः सभी सरकारी नौकरियों में आदिवासियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं जिनमें आदिवासियों की नियुक्ति अनिवार्य है। इसके फलस्वरूप अनेक आदिवासियों ने सफेदपोश नौकरियों को अपनी आजीविका के रूप में ग्रहण कर लिया है। ऐसा देखा गया है कि अधिकांशतया शिक्षित तथा ईसाई आदिवासी कार्यालयों, अस्पतालों तथा प्रशासकीय कार्यों में जुट गये हैं। ये लोग सारे भारतवर्ष में फैले हुए हैं तथा विभिन्न पदों पर आसीन हैं।

कुछ आदिवासी व्यापार में भी जुटे हुए हैं। उदाहरणस्वरूप भारत-तिब्बत-सीमा पर भोटिया लोग व्यापार करते हैं तथा आन्ध्र प्रदेश के वाल्मीकि तथा हेसकर भी व्यापार में जुटे हुए हैं। १९६१ की जनगणना के अनुसार ०.८७ प्रतिशत आदिवासी व्यापारिक पेशे में लगे हुए हैं।

उत्तर प्रदेश के गढ़वाल तथा भोटिया तिब्बत के सीमान्त प्रदेशों में व्यापार करते हैं तथा अपनी आजीविका चलाते हैं (अटल, १९६५:३८-४२)। इनका पूरक व्यवसाय है कृषि तथा मवेशी पालना। इनका व्यावसायिक चक्र ऋतु के अनुसार प्रारंभ होता है। गर्मियो में ये हिमालय के निकट अपना सामान तिब्बती लोगों से बदल लेते हैं। बदले में प्राप्त इन सामानो के साथ वर्षा ऋतु या जाड़े मे नीचे की तराई के क्षेत्र में चले आते हैं और वहां के लोगो से सामान प्राप्त करते हैं जिसके बदले मे तिब्बत से लाये गये सामान उन्हें दे देते हैं। इन लोगों से ये साधारणतया खाने-पीने का सामान, शृंगार का सामान तथा दैनिक उपयोग के अन्य सामान की प्राप्ति करते है जिसे वे पुनः तिब्बती लोगों को देकर उनसे नमक, बोरैक्स, ऊन, भेड आदि प्राप्त करते हैं। इन लोगों का व्यावसायिक चक्र गर्मियो मे प्रारंभ होता है। भोटिया लोगो के बीच कुछ ऐसे लोग होते हैं जो इन्हें इस बात की सूचना देते है कि सीमा पार कर व्यवसाय करने का समय कब होता है तथा इन्हें कानूनी तौर पर कब आज्ञा मिलेगी। इस तरह के लोगो को इनकी भाषा मे 'सतु' या 'सर्जी' कहा जाता है। इन्ही दूतों की अनुशंसा के आधार पर जिलाधिकारी (बोगपेन) इन लोगों को सीमा पार करने की आज्ञा देते हैं। इसके लिए इन लोगों को कुछ कर देना पड़ता है जिसे चोगथल (व्यवसाय-कर), लाथल (सीमांत-कर), लुगथल (बकरियों पर कर) आदि कहा जाता है। इन लोगों का व्यावसायिक केन्द्र पूर्व-निर्धारित रहता है तथा ये अपना व्यवसाय अपने मित्र व्यवसायियो के मध्य ही करते हैं। वे व्यवसायी वंशानुगत होते हैं। इन व्यवसायियों के पास पत्थर के दो टुकड़े अवश्य रहते हैं। इन्हीं के आधार पर इनके मित्र इन्हे तथा इनके प्रतिनिधियो को पहचानते हैं। इनके पास जो पत्थर होता है उसे लेकर जब कोई एक व्यक्ति अपने मित्र से मिलता है तब वह मित्र दूसरे पत्थर से उसे मिलाता है जिससे उसकी पहचान पक्की होती है। आज की परिवर्तित परिस्थितियो मे जब तिब्बत चीन के हाथो चला गया है, इन भोटियों ने अपना व्यवसाय भारतीय प्रदेशों मे ही सीमित कर लिया है।

आन्ध्र प्रदेश के वाल्मीकि फेरी का व्यवसाय करते हैं। ये लोग अधिकतर फल, मछली आदि की बिक्री करते हैं। ये लोग साप्ताहिक बाजारो (शैण्डी) में नियमित रूप से जाते हैं जहाँ से ये पाँच से आठ रुपये तक का सामान खरीदकर आस-पास के गाँवों में घूमकर बेचते हैं। घूमने का कार्य ये प्रायः साइकिल पर करते हैं। ये लोग क्रय-विक्रय में 'बार्टर' पद्धति भी अपनाते हैं तथा पैसे लेकर भी सामान बेचते हैं। बार्टर पद्धति में ये लोग साधारणतया धान लेते हैं। यातायात के लिए ये लोग मवेशियों का भी इस्तेमाल करते हैं। अब ये लोग आधुनिक व्यापारिक पद्धतियों को भी अपनाने लगे हैं तथा व्यावसायिक समितियों के सदस्य भी होने लग गये हैं (चंद्रशेखर, १९६५ एन०:१३:२६)।

भारतीय जनजातियों में आर्थिक परिवर्तन

भारत में जनजातीय संस्कृति आर्थिक परिवर्तन के आधार पर परिवर्तित हो रही है। आधुनिक तकनीकी तथा विचारों को अपनाया जा रहा है। तदनुसार जनजातीय अर्थ-व्यवस्था पर भी इस आधुनिक प्रगति का पूर्णरूपेण प्रभाव पड़ रहा है जो मजदूर वर्ग तथा सफेदपोश जैसे नये वर्गों की गतिविधियों से परिलक्षित होता है। १९५८ में जब डॉ० विद्यार्थी द्वारा सर्वप्रथम भारतीय आदिवासियों का वर्गीकरण किया गया, तो उस समय बिहार के आदिवासियों को मात्र चार वर्गों में विभक्त किया गया था। दस वर्ष के उपरान्त १९६८ में इन वर्गों की संख्या सात हो गयी है। यह इस बात का द्योतक है कि जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन हुआ है।

यह कहना कठिन है कि इस परिवर्तन के कौन-कौन से मुख्य कारण हैं क्योंकि यह परिवर्तन स्थानीय स्तर पर काफी तीव्र गति से होता है। परंतु इस परिवर्तन की क्रिया को भली भाँति समझने के लिए यह अच्छा होगा कि विभिन्न नवीन आर्थिक प्रक्रियाओं तथा उन्नति को समझा जाय तथा दूसरी ओर कुछ परिणामों के आधारभूत तत्वों की विवेचना की जाय। इसी प्रकार आर्थिक परिवर्तन एवं विकास जो सामान्य समाजवाद की पद्धति पर हो रहे है, समझा जा सकता है। जनजातियों को अपने कार्य में जो आर्थिक कठिनाई सामने आ रही हैं, उसकी विवेचना करना भी अभीष्ट है।

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था आदिवासियो की परंपरागत अर्थ-व्यवस्था को परिवर्तित करती जा रही है। इस संदर्भ में निम्नांकित आधुनिक शक्तियों का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है :

(क) शिक्षा, (ख) जनजातीय बाजारों का शहरी बाजारों तथा बड़े-बड़े बाजारों के साथ संबंध, (ग) सहकारी समितियाँ, (घ) व्यावसायिक बैंक, (ङ) मजदूर-संघ, (च) भूमि बंधक अधिनियम तथा उनकी जानकारी, (छ) बचत की धारणा, (ज) आवश्यकता पर आधारित उपभोग की पद्धति में परिवर्तन, (झ) अन्तर्राष्ट्रीय सीमा-रेखा पर परिवर्तित परिस्थियाँ तथा उनका सीमांत जनजातियों पर प्रभाव, (ञ) जनजातियों में व्यावसायिक धारणा का प्रादुर्भाव, (ट) जनजातियों में महाजनों का उद्भव, (ठ) अनाज की पैदावार की जगह नगदी फसलें उगाने की प्रवृत्ति का प्रारंभ (ड) छोटे-मोटे वन्य उत्पादनों की खुले बाजार में पैसे लेकर बिक्री, (ढ) सरकारी तथा अर्द्धसरकारी संस्थाओं में सुरक्षित स्थान।

शिक्षा को आदिवासियों ने भली भाँति अपनाना प्रारंभ किया है जिससे उन्होंने शहरों के औद्योगिक क्षेत्रों में सफेदपोश कार्यों में लगना प्रारंभ कर दिया है। संभवतः

मुण्डा, उरांव, हो, भील, गोंड तथा इसाई धर्म में परिवर्तित आदिवासी ऐसे मुख्य आदिवासी हैं जो अपनी शैक्षणिक योग्यता के आधार पर नये-नये कामों में लग गये हैं।

जनजातीय बाजार सामान्य एवं बड़े-बड़े बाजारो के साथ संबंधित हो गया है जिसके फलस्वरूप जनजातीय जीवन मे काफी नयापन आ गया है। जनजातीय लोग आधुनिक फैशन तथा आराम की वस्तुएँ बाजारो से खरीदने लगे है। इसके साथ ही आदिवासियों की वस्तुएँ भी बाजारो में काफी अच्छी कीमतें पाने लगी हैं। जनजातीय आर्थिक गतिविधियो को काफी प्रोत्साहित किया है। मुण्डा एवं उरांव जैसे जनजातीय आलू तथा नये प्रकार की सब्जियों की खेती करने लग गये हैं तथा उसे साप्ताहिक बाजारों मे बेचने लग गये हैं। कारीगर वर्ग की जनजातियाँ, जैसे महली, अपने बनाये हुए सामानों को अपने जनजातीय भाइयों के बीच ही नहीं बचती वरन् सामान्य बाजार में थोक रूप में भी बेचती हैं।

सहकारिता आदोलन ने भी आर्थिक पहलू को नया मोड़ दिया है। कृषक सहकारी समितियो से उन्नत बीज एव रासायनिक खाद ग्रहण करने लग गये हैं। वन-मजदूर सहकारी समितियाँ भी वन्य उत्पादन के क्षेत्र मे नये आयाम खोल रही है। व्यापारिक समितियाँ भी गरीब लोगों को कर्ज देने लग गयी है। शहरो के आस-पास बसे आदिवासियों को अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार के कर्ज मिलने लग गये है। यह प्रथा महाजनी प्रथा पर गहरा प्रहार है और इसके साथ ही शोषण की भी समाप्ति कुछ अशो मे हुई है। इन आदिवासी लोगो ने अपने को भूमि-बंधक अधिनियमो से प्रायः दूर रखा है जिसके फलस्वरूप बाहर के लोग तथा कुछ उनके अपने लोग उनका शोषण करते आ रहे थे। अब इनमें से कुछ, जो धनी पड़ोसी है, बंधक भूमि की अनिवार्य सात वर्षीय सीमा को जान गये है जिसके परिणामस्वरूप भूमि बंधक रखने की प्रवृत्ति बहुत हद तक घटी है। इस प्रकार के आर्थिक सुधार से लोगों के बीच बचत की भावना की वृद्धि हुई है। इस प्रकार की गई बचत को मजदूर लोग अपने मूल निवास मे भेज देते है, विशेषकर असम में काम करने वाले मुण्डा, उरांव, सथाल, छोटा नागपुर के अपने गांवो मे अपने अन्य संबधियों को इस प्रकार का पैसा भजते हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्र तथा गुजरात के शहरी क्षेत्रो से भील अपने जनजातीय गाँवों में पैसे भेजते हैं। पुनः हम यह भी पाते हैं कि इन लोगों में आवश्यकता पर आधारित आर्थिक गतिविधियों की प्रवृत्ति मे भी परिवर्तन आया है। अब ये अवैयक्तिक आवश्यकताओं की ओर भी दृष्टिपात करने लगे हैं। इनके पहरावे में बहुत अतर आया है। अब इनके पास जो कुछ है और जो इनके पास नहीं है, उसकी मात्र इच्छा ही नहीं रखते बल्कि बहुत हद तक उसे शहरों से प्राप्त भी कर लेते हैं। प्रायः सभी आदिवासी मेलों तथा यात्राओ में परिवर्तन देखा जा सकता है।

समस्त छोटा नागपुर, उड़ीसा, तथा पश्चिम बंगाल के आदिवासियों के द्वारा मनाये जाने-वाले मेले मात्र पुराने मेले नहीं रह गये हैं वरन् बहुत हद तक इन्होंने नये कार्निवल का रूप ले लिया है। इन मेलों में आधुनिक वस्तुओं की प्राप्ति से युवकों एवं युवतियों में नयी प्रेरणा का संचार किया है जिसके फलस्वरूप पहरावे में तो परिवर्तन आया ही है, साथ ही साथ प्लास्टिक के सामान तथा शृंगार के सामानों का भी प्रयोग होने लग गया है।

अब आदिवासी महाजन इनका शोषण करने के लिए अपने आदिवासी तरीके से सामने आ गये हैं।

इनमें व्यापारिक प्रवृत्ति का प्रारंभ इनके उत्पादनों से साफ परिलक्षित होता है। आलू, तथा हरी सब्जियों के उत्पादन में अब ये किसी से पीछे नहीं हैं। औद्योगिक शहरों की बढ़ती हुई मांगों को पूरा करने में इन लोगों ने कोई कसर नहीं उठा रखी है। इस संदर्भ में बेड़ों तथा रांची के आदिवासियों का उल्लेख आवश्यक होगा जिन्होंने पूर्वी भारत की पद्धति को अपनाकर नये प्रकार की आलू की खेती की शुरुआत की है जिसे ये बरसात में पैदा करते है तथा काफी पैसा कमाते हैं। छोटे-मोटे वन्य उत्पादन, जैसे जलावन की लकड़ी दतुवन, जगली फल, केंदु-पत्ते, झाड़ू बनाने वाली घास, आदि की सहकारी समितियों के द्वारा बिक्री करने की प्रक्रिया ने एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया है जिससे आदिवासियों की आर्थिक अवस्था बहुत कुछ सुधरी है। मध्य प्रदेश के सहकारी संघ तथा हाल में बिहार के संघ ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। संक्षेप में आर्थिक वर्गीकरण के आधार पर आदिवासियों के बीच आर्थिक परिवर्तनों को निम्नांकित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) वन्य शिकार अर्थ-व्यवस्था से वन्य शिकार तथा कृषि, (२) पहाड़ी कृषि से स्थायी कृषि, (३) सरल कृषि से बहु फसलीय कृषि अर्थ-व्यवस्था मजदूर तथा सफेद-पोश कार्य एवं व्यावसायिक अर्थ-व्यवस्था, (४) कारीगर वर्ग से कारीगर तथा व्याव-सायिक वर्ग आदि।

इस प्रकार इन आदिवासियों ने अर्थ-व्यवस्था के नये पहलुओं में अपने आपको बहुत हद तक घुला-मिला दिया है जिसके फलस्वरूप इन आदिवासियों ने इस आर्थिक व्यवस्था में अपना एक रूप ग्रहण कर लिया है। अंत में इन आदिवासियों की समाप्त होती हुई आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश डालना आवश्यक होगा। विद्यार्थी (१९६८:१३१) ने जनजातियों की समाप्त होती हुई अर्थ-व्यवस्था का संकेत ठीक ही दिया है। आदिम अर्थ-व्यवस्था पर शोध के दृष्टिकोण से तथा नृजातीय वर्णन के दृष्टिकोण से बिरहोर (घुमन्तू आदिवासी), कोरवा (खाद्य-संग्रह) तथा कृषक मजदूर जैसे आदिवासियों पर ध्यान

देना आवश्यक हो गया है। घुमन्तु बिरहोर अब एक जगह कालोनी में बसने लग गये हैं। स्थानांतरित कृषि से स्थायी कृषि मे परिवर्तन का प्रचलन काफी जोर पकड़ता जा रहा है, जैसा मालेर तथा संथाल परगना मे राजमहल पहाड़ के माल पहाड़िया लोगों में देखा जा रहा है। ये सभी इस बात के उदाहरण हैं कि किस प्रकार पुरानी अर्थ-व्यवस्था का लोप और नयी अर्थ-व्यवस्था का विकास हो रहा है।

अध्याय ८

जनजातीय समाज की संरचना और संगठन

जनजातियो में सामाजिक जीवन के अन्तर्गत उनके बीच अपने को समूहों तथा वर्गों में बाँटने की रीतियाँ सन्निहित हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण का उद्देश्य यह है कि वे अपने ढाँचे तथा संगठन के अंतर्गत सामान्य अस्तित्व के लिए पारस्परिक सम्बन्ध के बंधनों के अधीन सामान्य कार्यकलाप सम्पादित कर सकें। चूँकि जनजातियों ने एक विशेष क्षेत्र मे अपना एक छोटा सा समुदाय बना रखा है, अतः उनके पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष एवं गहरे हैं। उनकी सामाजिक बनावट में उनका सामाजिक ढाँचा स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

आदिवासी : उनकी सामाजिक रूपरेखा

टी० सी० दास (१९५३) के अनुसार भारत में जनजातीय संगठन सात प्रकार के हैं। उनके इस वर्गीकरण का आधार क्षेत्र या इकाइयों के प्रकार हैं। ये सात प्रकार निम्नलिखित हैं :

१. परिवार–स्थानीय समूह-जनजाति
२. परिवार–गोत्र-जनजाति
३. परिवार–अर्द्धक (मोइटी)-जनजाति
४. परिवार–गोत्र-कुल समूह-जनजाति
५. परिवार–गोत्र-कुल समूह अर्द्धक-जनजाति
६. परिवार-गोत्र-उपजनजाति-जनजाति
७. परिवार–उपगोत्र–चुने हुए गोत्र-जनजाति

परन्तु दुबे (१९७१) का विचार है कि भारत में जनजातिक रूपरेखा की रचना परिवार, फिर गोत्र एवं कुल-समूह तथा अन्ततः जनजाति द्वारा होती है।

भारत की सर्वाधिक जनजातियाँ 'व्यक्ति-परिवार-गोत्र-जनजाति' श्रेणी में आती हैं। इसे संगत मानकर, क्षेत्रों के पूर्व-निर्दिष्ट विभिन्न व्यावहारिक वर्गीकरणों के आधार पर हम उपलब्ध विभिन्न प्रकारों को भारत के चार जनजातीय क्षेत्रों में उपयुक्त उदाहरण देते हुए प्रस्तुत करना चाहते हैं।

हिमाचल प्रदेश

(१) उत्तरी-पूर्वी हिमालय जनजातियाँ

उत्तरी-पूर्वी हिमालय क्षेत्र में मेघालय की जनजातियाँ गारो, खासी तथा जौनिया सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। गारो जनजाति एवं घीसाकन्द आदि विभिन्न उप-जातियों में विभाजित है। पुन ये उप-जनजातियाँ चात्वियों में बँटी हुई है तथा फिर विभिन्न गोत्रों मे। चात्वियो मे कुछ गोत्र, जैसे भरक, मोमिन, सेन्हामा, सिरा तथा एरगं भी सम्मिलित है। ये 'गोत्रो का समूह' मानी जानी हैं। कुछ गोत्र अब कुछ उप-गोत्रों में विभाजित होने की स्थिति मे आ गये है। वाल्रेयर गाँव के गाबिल गोत्र के लोग अपने को गाबिल वाले कहते हैं (गोस्वामी एव मजुमदार, १९६७ : २५६)। वह इकाई या वर्ग, जिसपर समाज आधारित है, मिचोड है जिसका अर्थ है मातृभूमि। यह (मिचोड़) परिवार नही है। मिचोड के सभी सदस्य अपनी उत्पत्ति एक ही पूर्वज से मानते है। अन्य सामाजिक इकाई है 'महारी' जो गोत्रकुल (लाइनेज) के अन्तर्गत एक प्रभावशाली इकाई है। इसलिए गारो की सामाजिक रूपरेखा जनजाति-उपजनजाति-गोत्र-उपगोत्र-महारी (लाइनेज)-परिवार-व्यक्ति जैसी है। पुन. गारो, बोडो वर्ग के नाम से प्रसिद्ध जनजातीय समूह की सदस्य जनजाति है। खासी के चार सामाजिक वर्ग हैं—की सियम, की लिनगोह, मन्त्री गोत्र आदि। कभी-कभी इस जनजाति का वर्गीकरण बहिर्विवाही गोत्रों में किया जाता है तथा बहिर्विवाही मात्र स्थानीय परिवारों में भी। इस प्रकार यह 'जनजाति-सामाजिक श्रेणी, गोत्र-परिवार-व्यक्ति' जैसे वर्ग की रचना करती है। जयन्तिया या लोगों की नातेदारी या गोत्र पर आधारित है। उनमे लघु कुर भी हैं जिन्हें उपगोत्र कहा जा सकता है। इसलिए वे 'जनजाति-गोत्र-उपगोत्र-परिवार-व्यक्ति' की रूपरेखा की रचना करते हैं।

असम की जनजातियो की भी लगभग यही रूपरेखा है। लुटुग कई बहिर्विवाही गोत्रो मे विभाजित है जो कई गोत्र-महारी समूहो में बँटे हुए है। पहाडियो मे वे मुकरों, रोडखो आदि पाँच उप-जनजातियो मे विभाजित है (श्याम चौधरी एवं दास, १९७३:५६ एवं ७१)। मिकिर या अरलेङ, चिङथौङ्, रोङहाङ्, समरी तथा डुमराली चार भागों में बँटे हुए है। यह विभाजन वास्तव में क्षेत्रीय है। इसका अभिप्राय सगोत्र विवाही उप-जनजातियाँ हैं। इनमे से प्रत्येक के अन्तर्गत कुछ कुर या गोत्र हैं जिनमें इङती तेराङ, तेरोन, तिमङ तथा इंघी नामक पाँच मुख्य गोत्र हैं। पुनः ये गोत्र क्रमशः पाँच, ग्यारह, छः, तीस एवं तीस वर्गों या उप-गोत्रों में विभाजित हैं। इसलिए उनकी रूपरेखा जनजाति-उपजनजाति-गोत्र-उपगोत्र-परिवार-व्यक्ति की रूपरेखा है। असम के समतलों के अपने सम्बन्धी कचारियों से किंचित् भिन्न डीमसा कचारी असम के मूल निवासी हैं। किसी

समय उन्होंने इस अंचल के विस्तृत भाग पर दीमापुर राजधानी से राज्य किया था। कचारी एवं डीमसा कचारी, दोनों ही बृहद् बोडो जनजातीय समूह के हैं। अर्थव्यवस्था के अतिरिक्त उनमें कोई भिन्नता नहीं है। ये गोत्रों में विभाजित हैं। एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि डीमसाओं में पुरुष एवं नारी, दोनों के गोत्र भिन्न-भिन्न हैं। पुरुषों के चालीस तथा स्त्रियों के बयालीस गोत्र हैं। वे द्वय वंश (Double discent) प्रथा का पालन करते हैं। लड़के अपने पिता का गोत्र पाते हैं तथा लड़कियाँ अपनी माता का। इसलिए उनकी संगठनात्मक प्रकृति बोडो वर्ग की कई जनजातियों जैसी है—जनजातिगोत्र; यौनभेद पर आधारित; परिवार-व्यक्ति। असम की कूकी जनजाति में कई जनजातियाँ सम्मिलित हैं जिनसे चिन-लुशाई-कूकी जैसा वर्ग बनता है। उत्तरी कचार पहाड़ियों में निवास करने वाली जातियाँ कूकी तथा खेलमा कूकी कही जाती हैं। लुशाई सिलहट की दक्षिणी सीमा तथा चटगाँव के पहाड़ी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। ये खवचल तथा खवचक जैसी उप-जनजाति में विभाजित हैं। हरलुंग लुशाइयों की ही एक शाखा है। इन लोगों के अनेक गोत्र हैं जो जनजातीय समूह मात्र में भी पाये जाते हैं। लुशाइयों ने फनाइस, पैहटीस तथा थडाले जैसी अनेक कूकी गोत्रों का समावेश अपने में कर लिया है। फिर अलग-अलग गोत्रों की अलग-अलग शाखाएँ भी हैं जैसे, हमार की दो शाखाएँ हैं—रणखोल तथा पैंथटीस। इस प्रकार यद्यपि कूकी का कोई सम्मिलित चित्र प्रस्तुत करना कठिन है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि यह जनजाति 'जनजाति-उपजनजाति-फ़ेट्री-गोत्र-परिवार-व्यक्ति' वाले वर्ग की ही सदस्य है।

ब्रह्मपुत्र घाटी की राभा जनजाति बृहत् बोडो जनजाति समूह की सदस्य मानी जाती है। दास (१९६०, १००-१६) ने पाया कि राभाओं का अन्य जनजातियों की अपेक्षा गारो से अधिक साम्य है। राभाओं की उत्पत्ति के विषय में वे कहते हैं कि उत्तर तथा उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र से मंगोल लोग लगातार आते रहे। उन्होंने आंशिक रूप या सम्पूर्ण रूप से देशी आस्ट्रेलायड को आत्मसात् कर लिया तथा उसके पश्चात् राभा तथा गारो आदि जैसी विभिन्न जनजातियों का निर्माण किया (दास, १९६०:११७)। राभा अनेक उप-जनजातियों में विभाजित हैं। विभिन्न विशेषज्ञों ने उनकी उपजातियों की अलग-अलग संख्या बतलाई है। मार्टिन (१८३८:५४६) तथा डाल्टन (१८७२:८७) ने उनमें रंगदानियाँ तथा पाती, ये दो शाखाएँ पायीं जबकि गैट (१८९२:२३२) ने उनकी रंगदानियाँ, पाती, मैतोरिया, डाहुरी तथा कोचा, इन पाँच शाखाओं का उल्लेख किया है। एलेन (१९०३:५०) ने इनकी रंगदानियाँ, पाती, मैतोरिया, कोच, बितलिया, डहुरिया तथा सोंगा, सात शाखाओं का उल्लेख किया है। ये ही सात शाखाएँ थोड़े भेद के साथ फ़ैड, पेरेरा (१९१२:१४२) के भी पायी थीं—रंगदानिया, पाती,

मैलोरिया, कोच, डाहुरी, बैतालिया तथा शोझा। हाल ही के एक अध्ययन में दास (१९५५:५२) ने रंगदानियाँ, पाती, मयतोरी, तोल्ला, डाहुरिया, बैतालिया, शुड़ा, हाना आदि अनेक उप-जनजातियाँ पायी। फेण्ड, परेरा (१९१२:१४२) ने लिखा है कि रंगदानिया, पाती तथा मयलोरिया मे अन्तर्विवाह की छूट है। गारो, कचारी या राजवंशी जैसे अन्य समुदायो के साथ विवाह की छूट की शर्त यह है कि स्त्री अपने को पति की जाति मे सम्मिलित कर ले या पति पत्नी की जाति में सम्मिलित हो जाये। उन्होंने यह भी पाया कि उपर्युक्त जनजातियो के अतिरिक्त कोई किसी भी स्त्री से विवाह कर सकता है, यदि वह गोत्र के लोगों को ५० रु० से लेकर ८० रु० तक का दण्ड भोज के लिये दे क्योंकि समझा जाता है कि ऐसे वैवाहिक सम्बन्ध से गोत्र के सभी लोगो की प्रतिष्ठा को धक्का लगा है।

इसके सिवा हुसुक के नाम से अभिहित जनजाति अनेक बहिर्विवाही गोत्रो में विभाजित है। हिन्दू धर्म से प्रभावित राभा हुसुक को गोवो कहते हैं (दास एव राहा, १९६७ ६९) और इसके सदस्य अपनी वंश परम्परा स्त्री के कुल (line) मे मानते है तथा पिता के गोत्र की उपेक्षा की जाती है। दास (१९६०:१०) का विचार है कि प्रत्येक राभा शाखा मे बार या बराई नामक अनेक गोत्र होते हैं। दो या अधिक बारो के परस्पर संयोग से हुर या हुरी नामक वश बनता है। अच्छा यही होगा कि उनके वर्गीकरण को बार कुल-समूह कहा जाय। दास तथा राहा (१९६७:७१) ने तीस गोत्रों की खोज की है किन्तु उनके अनुसार यह कोई पूर्ण सूची नही है। उनमे से कुछ के नाम बांदा, बघा, कन्तरन, कारा, कामा, मोयजी, नोगोरा, रनी आदि हैं। इनमे से कुछ गोत्र उपगोत्रो मे विभाजित हैं। इन उपगोत्रों के बीच विवाह या यौन सम्बन्ध वर्जित है। उदाहरण के लिए, बान्दा गोत्र मे बन्दाग्राइ, बन्दासुसुक तथा बन्दासग उपगोत्र, कन्तरन गोत्र मे हेढम कन्तरन तथा हुसक कन्तरन, कामा गोत्र मे कामरभा तथा कमारासाहजी, मेयजी गोत्र मे मोयजीडोना, मोयजी-साम्पर, मोयजीनाल, माग्रोजीप्रान, मोयजीभोग तथा मोयजीभोभरा आदि उपगोत्र हैं। इनकी पारिवारिक व्यवस्था ही सबसे छोटा सामाजिक समूह है। संरचना की दृष्टि से इनमे पितृवंशीय तथा मातृवंशीय दोनो ही प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। इन लोगों मे इकाई परिवार तथा विस्तृत या संयुक्त परिवार दोनों मिलते हैं। इस प्रकार हम इनमें जनजातीय समूह का एक सदस्य-जनजाति-उपजनजाति-वंश-गोत्र-उपगोत्र-परिवार-व्यक्ति का जनजातीय ढाँचा पाते है।

नागालैंड के नागाओं का स्वरूप भी लगभग यही है। 'नागा' एक सामान्य शब्द है तथा इसमें उत्तरी-पूर्वी राज्य नागालैंड के अधिकांश भागों में निवास करने वाले नागा-समूह की जनजातियाँ सम्मिलित हैं। डॉ० बी० एस० गुहा ने उनको उत्तर में रंगपान

एवं कन्याक पश्चिम में रेंगमा, सेमा तथा अंगामी, मध्य में ओ, लोथा, फोम, चांग, संगताम तथा टोमुस-नुन्गर, दक्षिण में काचा एवं कबुई, तथा पूरब में ताङखुल एवं कन्योकेन्यु इन पाँच मुख्य समूहों में रखा है। इन जनजातियों में कई उप जनजातियाँ पायी जाती हैं; जैसे जेमी नागा काचा नागाओं की एक उप-जनजाति है। ये उपजनजातियाँ पुनः बहिर्विवाही फ्रेट्रियों में विभक्त है; जैसे चन्गोलियों के तीन—पोनगन, इञ्जापन तथा चामी। प्रत्येक फेट्री पुनः कई गोत्रों में विभाजित है तथा प्रत्येक गोत्र कई परिवारों में। इसलिए इसकी रूपरेखा इस प्रकार है—एक जनजातीय समूह जनजाति-उपजाति-फेट्री-गोत्र-परिवार-व्यक्ति।

नागालैंड के ओ नागा मुख्य रूप से नागा जनजाति के सदस्य हैं तथा मोन्गसेन तथा चुन्गली, इन दो मुख्य शाखाओं में विभक्त हैं। स्मिथ (१९२५:५०) ने इस प्रकार के विभाजन के लिए मोइटी (Moiety) शब्द का व्यवहार किया है। मिल्स (१९२६:२) की धारणा है कि विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाले प्रवासियों के विभिन्न समूहों के प्रतिनिधि हैं तथा उनकी सामाजिक रूपरेखा सम्मिलित रूप से भाषा या वर्ग की है। एओ (१९६६:१४-१५) ने भी ओ नागाओं की दो शाखाओं का उल्लेख किया है तथा दोनों के बीच पायी जानेवाली अनेक विभिन्नताएँ बतलाई हैं। उनके अनुसार 'ओ' लोगों में यह धारणा अस्पष्ट रूप से प्रचलित है कि सबसे पहले मोङसेनों की उत्पत्ति हुई तथा उसके पश्चात् उसी समुदाय से चुंगली की। मिला-जुलाकर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि ओ नागाओं ने अपने आपको दो शाखाओं में विभक्त कर लिया है। इसके पश्चात् चुंगलियों में अनेक कुल-समूह हैं। इस संदर्भ में 'ओ' (१९६६:१०७) ने तीन कुल-समूह का उल्लेख किया है—पोन्गे कुल-समूह, लुन्गकम कुल-समूह तथा चैन कुल-समूह। मान्गसेनों के अपने कुल-समूहों के लिये अपने नाम नहीं, बल्कि चुन्गलियों के नाम अपना लिये हैं (मिल्स: १९२६-२१)। पोन्जेन फेट्री के पूर्वज सबसे पहले आये थे, इसलिये यह कुल-समूह वरीयता की दृष्टि से ज्येष्ठ माना जाता है। इस कुल-समूह ने अपनी वरिष्ठता के अनेक लाभ उठाये। उदाहरण के लिए, यदि ग्राम-पंचायत किसी व्यक्ति को दंड के रूप में कोई जानवर मारने का आदेश देती है तो उसके मांस का मुख्य भाग इस शाखा के पंचायत-सदस्यों को मिलता है। वरीयता के क्रम में लोन्गकम का स्थान दूसरा है, चामी का स्थान सबसे नीचे है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक फेट्री अनेक बहिर्विवाही गोत्रों में बँटी हुई है जो अपनी प्रकृति में सामान्यतया टोटेमवादी हैं। यहाँ इसका भी उल्लेख किया जा सकता है कि कभी-कभी ये गोत्र विभिन्न गाँवों में विभिन्न नामों से पाये जाते हैं, परन्तु ग्रामवासी जानते हैं कि कौन सा गोत्र ग्राम किन-किन नामों से अभिन्न है। वे उस गोत्र में कभी भी विवाह नहीं करते जो सामान्य माने जाते हैं।

मूलतः केवल गोत्र ही नहीं वरन् फेट्री भी एक बहिर्विवाही इकाई था। आजकल कुल-समूह का बहिर्विवाह सम्बन्धी नियम टूट गया है (एओ, १९१६:१७)। इसके सिवा 'ओ' की दो प्रमुख शाखाओं मे विवाह नही होता। कहा जाता है कि यह प्रतिबंध तब हटाया गया जब एक युवा दम्पति को इस सामाजिक दुराग्रह की कीमत अपने जीवन की बलि देकर चुकानी पड़ी (स्मिथ, १९२५ ५०-५१)। विभिन्न गोत्रों में प्रतिष्ठा की दृष्टि से क्रम-विधान का पाया जाना रोचक है। ओ (१९६६:१८) की निम्न-लिखित सात गोत्रों में, प्रतिष्ठा की दृष्टि से, यह अवरोही क्रम मिला है—कुपजार, वाला-कुमर, मोलीर, जरीर, इमवेनेर, अवर तथा लेमगुर। गोत्र सगठन के पश्चात् वंश (Lineage) आता है। सबसे पहले बसने वाले लोगो के गोत्र को वरीय होने का लाभ मिला है, वश को नही। परिवार इनका प्राथमिक समूह है। इस प्रकार 'ओ' की सामाजिक संरचना नागा समूह का ही अंग है—जनजाति-अर्द्धक (Moiety)-कुल-समूह-गोत्र-वंश (Lineage)—परिवार-व्यक्ति।

रेंगमा नागा भी नागा समूह के एक अंग हैं। क्षेत्र की दृष्टि से वे पूर्वीय रेंगमा तथा पश्चिमी रेंगमा इन दो समूहों मे पूर्ण रूप से बँटे हुए हैं मिल्स (१९३७:१) पश्चिमी रेंगमाओ को जनजाति का मुख्य अंग मानते हैं। पूर्वीय रेंगमा अपने मूल समूह से कई पीढ़ियों से सम्पूर्ण रूप से किसी प्रकार के सम्पर्क से पृथक् है। लोथा तथा रेंगमा दोनों ही इस बात मे सहमत है कि हाल तक वे एक ही जनजाति थे (मिल्स, १९३७:४-११)। इसके अतिरिक्त पश्चिमी रेंगमा कोई छह बहिर्विवाह समूहों (मिल्स, १९३७.११) मे बँटे हुए है तथा प्रत्येक समूह मे अनेक गोत्र है। इन समूहों को कुल-समूह कहा जा सकता है। प्रथम समूह मे खीनजोन्या तथा अजुन्गजा, दो गोत्र हैं। दूसरा समूह सबसे बड़ा है जिसमे दक्षिणी पश्चिमी रेंगमा गाँवो में पाँच गोत्र है। वे हैं—तीनव, रासेन, तार्सोझन्यू, कामकन्यू तथा हेरवोन्यू, जबकि उनके उत्तरी गाँवों में गोत्रों की संख्या छह हैं। ये है—मूण्टोन्गजा, खुन्गरेजा, चोसीराजा, भरवाजा, खसाजा तथा उनाझाटान्जा। तीसरे समूह में काप-वाजा तथा उवोगंजा ये दो गोत्र हैं। चौथे समूह में, जो पूर्ण रूप से उत्तरी पश्चिमी रेंगमा गावों मे केन्द्रित हैं, वाण्डोजा, राइत्जा, जामवाजा तथा खेजुन्गजा—ये चार गोत्र है। पाँचवें समूह मे दो गोत्र है—ज़ामसीन्यू तथा तेसीन्या जबकि छठे समूह मे केवल एक गोत्र केण्टेनूयू है।

पूर्वी रेंगमाओं, मे केवल एक को छोड़कर, जिसमें लोवेरी, चोहेरो तथा लोंबेरी तीन गोत्र एक-दूसरे से सम्बंधित है, इस प्रकार का कुल-समूह नही है। अन्य गोत्र पूर्ण रूप से बहिर्विवाही समूह हैं। उनमें से कुछ हैं—त्सोरी, पोवारी, न्युगवेचर, न्सोतेरी, न्युरी, न्सीमुरी, कातोरी, खोखोकेसारी आदि। पूर्वीय रेंगमाओं में प्रायः लोग अपने गोत्र को छोड़-

कर अपनी माँ का गोत्र अपना लेते हैं। कुछ पीढ़ियों तक उस व्यक्ति के संतान उसके मूल गोत्र में विवाह नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त, गोत्र उपगोत्रों में विभक्त हैं। उदाहरण के लिए, प्रथम समूह के पश्चिमी रेंगमाओं में त्सेलान्यू उपगोत्र है। इस उपगोत्र के सदस्य आण्डोजा, अचींत्जा, ओमब्राजा तथा खेजुगजा जैसे पश्चिमी रेंगमा गोत्र में विवाह नहीं कर सकते। ग्रामपीन्यू का थेगु-यून्यू नामक एक उपगोत्र है। सामाजिक वर्गीकरण की मूल इकाई परिवार है। इस प्रकार इसकी सामाजिक संरचना नागा जनजाति का एक अंग है—'जनजाति-अर्द्धक' (Moiety) क्षेत्रीय-गोत्र-उपगोत्र-परिवार-व्यक्ति।

मिजोराम में मिजो अनेक उपजनजातियों मे विभक्त हैं जिनमें प्रमुख हैं—लुसेइ, राल्ते, प्लार तथा पावी। ये पुन. गोत्रों में विभक्त हैं। उदाहरणार्थ, लुशई मे सेखुम सैयली तथा हुनहनार गोत्र तथा राल्ते मे कवल्नी, सेलह-ल्वुन, सावर्कैना गोत्र हैं। गोत्रों के अन्तर्गत विवाह हो सकता है। ये पितृवंशीय हैं तथा पुरुष के आधार पर वंश मानते हैं। सबसे छोटा पुत्र सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। सबसे छोटे पुत्र के उत्तराधिकार के समर्थन मे यह कहा जाता है कि वही सबसे उपयुक्त पात्र है जो बुढ़ापे मे अपने माता-पिता की देख-रेख करेगा जबकि उसके बड़े भाई उस समय तक स्वय इस योग्य हो चुके होते है कि वे अपनी देख-रेख तथा जीवन-यापन स्वयं कर सकते है। गाँवों के मुखिया (Chief) पद के संदर्भ में सबसे बड़ा पुत्र ही उस पद को प्राप्त करता है क्योंकि वह अधिक परिपक्व एवं अनुभवी होता है। इस प्रकार मिजो की जनजातीय संरचना है—जनजाति-उपजनजाति-गोत्र, अन्तर्विवाही एवं बहिर्विवाही; परिवार-व्यक्ति। मिजोराम में एक अन्य जनजाति है जिसे लखेर कहते हैं तथा जो अपने को मारा कहती है। यह दक्षिणी मिजोराम मे निवास करती है। हटन (१६३२.६) का विचार है कि जहाँ तक भाषा एव भौतिक संस्कृति का प्रश्न है, लखेरों का वर्गीकरण कूकी जनजातियो के साथ ही होना चाहिये। इसके अतिरिक्त उनका विचार है कि बाह्य एवं सतही रूप से लखेर वास्तव में कूकी जनजाति लगती है। सर्वप्रथम यह जनजाति निम्नलिखित छः क्षेत्रीय समूहों में बँटी हुई है : त्लोन्गसाई, ज्यूहनाग, सबेउ, हउथाई, लियाजाई तथा हयमा। इसके अतिरिक्त, यह अनेक गोत्रों में बँटी हुई है जो इन तीन श्रेणियों में विभक्त हैं : अब्यफाना अर्थात् राजकीय (Royal) गोत्र, फान्यसान्म अर्थात् पितृवंशीय गोत्र। ऊँचे गोत्रों की लड़कियों का वधू-मूल्य (Bride-wealth) अधिक है। न तो इसके क्षेत्रीय समूह और न इसके गोत्र ही बहिर्विवाही हैं। स्थानीय समूहों या गोत्रों के अन्दर या बाहर दोनों में ही सामान्य रूप से विवाह की छूट है। सभी समूहों में ज्यादातर गोत्र पाये जाते हैं। उत्तराधिकार की प्रथा उनके यहाँ पितृवंशीय है। इस प्रकार लखेरों की सामाजिक संरचना इस प्रकार की है : कुकी जनजाति का एक सदस्य—जनजाति-क्षेत्रीय समूह-गोत्र-सामाजिक श्रेणी-उपगोत्र-वंश (Lineage) परिवार-व्यक्ति।

मणिपुर के पुरुम लोग प्राचीन कुकी जनजाति के हैं। अपनी उत्पत्ति की कहानी के अनुसार वे पुरुम, मरिम, मकम, खेयाम्ग, थाम्रो तथा परपा, इन पाँच गोत्रों में विभक्त हैं। ऐसा कहा जाता है कि उनमें से प्रत्येक एक बहिर्विवाही इकाई है। परन्तु तारकचन्द दास (१९४५:१११) का विचार है कि ये गोत्र समूह अब बहिर्विवाही नहीं रह गये। अब गोत्र के स्थान पर उप-गोत्र बहिर्विवाही होने लगे हैं। उनमें वे चौदह उपगोत्र पाते हैं। रिमफूनचोन्ग, रिमकन्ग, रिम-के-लेक तथा पीलिलन्ग मरिम गोत्र में आते है, कानकुन्ग तथा इन्गते खेयाम्ग गोत्र मे, थाम्रो-कुन्ग, थाम्रो-रम, तेयु तथा रैन्गशाइ थाउ गोत्र मे। परपा गोत्र मे कोई उपगोत्र नही है।।

वे उपगोत्र परिवार तथा गोत्र के बीच एक माध्यमिक सामाजिक समूह हैं। इसके अन्तर्गत अनेक इकाई या सीमित सयुक्त परिवार या दोनों ही आते हैं। हरेक उपगोत्र मे एक दीपा होता है जिसे इस समूह का मुखिया माना जाता है तथा यह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक एव धार्मिक पद है। दीपा का सबसे बड़ा लडका उसके बाद उस पद पर आसीन होता है। पुरुम समुदाय की सबसे छोटी सामाजिक इकाई प्राथमिक परिवार (Biologic 1 family) है जिसमे एक व्यक्ति अपनी पत्नी तथा अविवाहित बच्चों के साथ रहता है। इनका परिवार पितृवशीय है। इस प्रकार हम उनके बीच जनजाति-गोत्र-उपगोत्र-परिवार-व्यक्ति प्रकार की जनजातीय सरचना पाते है।

त्रिपुरा के त्रिपुरियो मे पहले पुरन तथा देशी, ये दो मुख्य शाखाएँ थी, जिन्हे अब स्वीकार नही किया जाता। पुनः ये, हपन्ग जमतिया का अचलौन्ग फादोन्ग, नायतेन्ग हुसीओय नाओतिया, हकलेर, केवार, तोम्बाइ, डायकडक, गार्विन्ग तथा रियान्ग, इन उप-समूहो या कुलो मे विभक्त है। इनके अतिरिक्त ये अनेक बहिर्विवाही गोत्रो मे भी विभक्त हैं। उनका परिवार पितृवशीय है। इस प्रकार त्रिपुरिया सरचना को जन-जाति-उपसमूह-गोत्र-परिवार-व्यक्ति के रूप मे समझा जा सकता है।

मध्य हिमालय की जनजातियाँ

मध्य हिमालय मे थारूओ की प्राथमिक इकाई या समूह परिवार है। परिवार मिलकर कुरी (Clan) का निर्माण करते हैं तथा गोत्र दो समूहो मे बँटकर उच्चतर अर्द्धक (Moiety) का निर्माण करते हैं, फिर निम्न अर्द्धक (Moiety) का, अन्ततः पूरे समूह अर्थात् जनजाति का निर्माण करते हैं। उच्चतर अर्द्धक के अन्तर्गत बाथा, बिरतिया, बदपैत, दहैत तथा महतुम हैं जबकि निम्न अर्द्धक में बत, बुक्सा, खुन्का, रजिया, सन्सा, जुगिया तथा डन्या है। प्रत्येक अर्द्धक (Moiety) अपने भीतर अन्तर्विवाही (Endo-gamous) हो गया है। उच्चतर अर्द्धक अपने को सिसोदिया राणा ठाकुर (एक राजपूत

गोत्र) मानता है। निम्न घर्ढक के बारह अपने को ठाकुर कहते हैं। इसलिये इनका प्रकार है—जनजाति-घर्ढक-गोत्र-परिवार-व्यक्ति। एक अन्य जनजाति खासा क्षेत्रीय आधार पर जौनसारी तथा बावरी इन दो समूहों में बँटी हुई है। जौनसारी वे हैं जो चकराता तहसील के दक्षिणी भाग जौनसर में रहते हैं। बावरी चकराता तहसील के उत्तरी भाग में रहते हैं। ये उच्चजाति, मध्यजाति तथा निम्न जाति, इन तीन क्रमबद्ध श्रेणियों में विभाजित हैं। ये सभी शाखाएँ पुनः जातियों मे विभाजित हैं, जैसे उच्च जाति में ब्राह्मण तथा राजपूत; मध्य जाति में बढी (बढई), सुनार, जगदी, नाथ, लोहार, बाजगी और निम्न जाति में डोम एवं चमार। जाति की परिधि में ये स्थानीय बहिर्विवाही समूहों में बँटे हुए हैं जिन्हें भाईचारा कहा जाता है। भाईचारा एक गाँव तक या गाँवों के एक समूह तक सीमित रह सकता है। भाईचारा अनेक वंशीय समूहों का होता है और बहिर्विवाही इकाई है। प्रत्येक वंश समूह के अन्तर्गत तीन प्रकार के आल (अल्या) (Lineage) होते हैं (मजुमदार, १९६२:८४)। ये तीन प्रकार के आल हैं—समानान्तर आल (एक ही पूर्वज की संतान), वैवाहिक आल (इसका संस्थापक प्रथम समूह का वैवाहिक सम्बन्धी होता है तथा उसके पश्चात् मिल जाता है) तथा आल (सामाजिक एवं धार्मिक रूप से सम्बद्ध आल)। आल मेराओं में विभाजित समुदाय होते है जबकि सपिण्ड सत परिवार मे रहता है। इसलिए हम इसकी संरचना को इस प्रकार का समझते हैं—जनजातिक्षेत्रीय समूह-सामाजिक वर्ग-स्थानीय समूह-वंशीय समूह-वंश-उप-वंश (मेरा)—परिवार-व्यक्ति।

उत्तरी-पश्चिमी हिमालय जनजाति

उत्तरी-पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे जनजातीय रूपरेखा वास्तव में एक जैसी है। हिमाचल प्रदेश की पन्गवाल जनजाति सर्वप्रथम विभिन्न गोत्रों में बँटी हुई है जो राजपूत, ब्राह्मण, आर्य तथा लोहार नामक जातियो के समान हैं। इसके पश्चात् उनमें गोत्र एवं परिवार हैं। इसलिए इनकी संरचना 'जाति-सामाजिक वर्ग-गोत्र-परिवार-व्यक्ति' की है। गूजरों का विभाजन सर्वप्रथम आप या भाईचारा ग्राम में होता है और इसके बाद गोट या गोत्रों में। इनकी अन्तिम सामाजिक इकाई परिवार है। इस प्रकार इनकी सामाजिक रूपरेखा इस प्रकार है—'ग्राम्य समुदाय-गोत्र-परिवार-व्यक्ति'। पश्चिमी हिमालय में छम्ब के गद्दियों के अन्तर्गत एक सामाजिक गोत्र का विकास हो गया है तथा उनमें ब्राह्मण, खत्री, राजपूत, ठाकुर तथा राथी है। आरक्षित वर्ग या निम्न वर्ग कोली, लोहार, बाढ़ी, आर्य-माली, कनलीसों का है, यद्यपि वे उच्च जाति के लोगों द्वारा गद्दी नहीं माने जाते। उनके गोत्रों के भी उपभेद हैं इसलिए जनजाति-सामाजिक वर्ग-गोत्र-परिवार-व्यक्ति की रूपरेखा में आते हैं।

लाहौली एवं स्वांगलियों का वर्णन कैस्पर प्रियदर्शी तथा चोपडा (१९६९) ने किया है । प्रारम्भिक लेखों में इनके इन सामाजिक समूहों के विभाजन का उल्लेख है–ठाकुर, जो, राजपूत, कनेट, ब्राह्मण, शीपी, दागी, लोहार, बरार, तथा हेनसी अन्तर्विवाही समूह । परन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत लाहौली तथा स्वागलियों का ज्यादा वैज्ञानिक वर्गीकरण यह है कि ये सर्वप्रथम स्तोद, रगलो, पूनन, तिनन, चन्यसा, इन पाँच क्षेत्रीय शाखाओं में विभक्त हैं तथा इसके अतिरिक्त, ये शाखाएँ अनेक अन्तर्विवाही सामाजिक वर्गों जैसे समूहों में बँटी हुई है । उदाहरणार्थ, रटेड, ठाकुर या ठागुर या जो, राजपूत तथा भारा इन तीनों मे उपविभाजित हैं । इसी प्रकार चन्याओं मे पाँच अन्तसजातीय विवाहीय समूह है । स्वागलियों मे भी ब्राह्मण और ठागुर राजपूत है । चान स्वेला एवं लोहार से सम्बद्ध है । ये सजातीय वैवाहिक समूह अनेक गोत्रो मे बँटे हुए है । इसलिए लाहौली एवं स्वागला जनजाति क्षेत्रीय समूह-सामाजिक वर्ग-गोत्र-परिवार-व्यक्ति जैसी सरचना का विन्यास करते है ।

मध्य भारत की जनजातियाँ

कुछ मूलतः विभिन्न प्रकारो को छोड दे तो मध्य भारत की जनजातियाँ जिन प्रकारों को अलग करती है, वे असाधारण रूप से समान हैं । अलग-अलग जनजातियो के विवरण से सामाजिक प्रकार पर प्रकाश पड सकता है । बिहार तथा पश्चिमी बगाल में संथाल बारह गोत्रो मे बंटे हुए है जिसे पारी कहा जाता है । उनमे से एक बहुत ही पहले समाप्त हो चुके हैं। प्रत्येक पारी 'उपगोत्र या खूण्ट' उप-वर्ग मे बँटा हुआ है तथा विभिन्न पारियों मे खूण्ट की सख्या तेरह से अट्ठाईस के बीच पायी जाती है। इस प्रकार इनका प्रकार है—'जनजाति-गोत्र-उपगोत्र-परिवार-व्यक्ति ।' छोटा नागपुर के मुडा, उराँव तथा हो की लगभग यही रूपरेखा है । वे बहिर्विवाही गोत्रो मे बँटे है जो कि मुंडा एवं हो मे किल्ली के नाम से पुकारे जाते हैं तथा उराँव मे गोतर के नाम से । इसके पूर्व मुडा तथा हो कुछ सामाजिक श्रेणियो मे बंटे हुए हैं तथा सर्वप्रथम दो शाखाओं में विभक्त हैं। मुंडा, महली मुंडा या पातर तथा कम्पट मुंडा क्रमशः बड़ी तथा छोटी शाखाओं में विभक्त हैं। दोनों शाखाएँ अन्तर्विवाही समूह है तथा इनमे पहली शाखा (पातर) निम्न कोटि की समझी जाती है । मुडा गाँवो मे प्रथम वास करनेवालों को दूसरों की तुलना में कुछ विशेष सुविधाएं दी गयी हैं । इस श्रेणी के परिवारों को खूण्ट कट्टीदार कहा जाता है। हो ने अपने को मुंडा-मानकी या कादर वर्ग, सामान्य हो तथा काजोमेसीन वर्ग या जाति-बहिष्कृत वर्ग इन तीन वर्गों में विभक्त कर रखा है । इनमें प्रत्येक का गोत्र अनेक बहिर्विवाहीय वंशों में बँटा हुआ है जिसे खूण्ट कहते हैं । मुंडा तथा मानकी अर्थात् हो नेता समाज

परिवारों में विवाह करते हैं। बाजोमेसीन लोगों के अपने उपवर्ग हो गये हैं। सभी जाति-बहिष्कृत 'हो', जो एक ही गोत्र में विवाह करने वाले पुरुष एवं नारी की संतान हैं, अपने वर्ग में ही विवाह करते हैं। इसलिए इन लोगों की सामाजिक रूपरेखा इस प्रकार की है—'जनजाति-सामाजिक-वर्ग-गोत्र-वंश-परिवार-व्यक्ति।' राँची जिले के गुमला एवं सिमडेगा उपमंडलों में केन्द्रित खरिया का स्पष्ट रूप से पहाड़ी खरिया, ढेलकी खरिया तथा दूध खरिया, इन तीन उपजनजातियों में विभाजन मिलता है। इसके अतिरिक्त इनमें कुछ गोत्र-संगठन हैं, यद्यपि ये एक उपजनजाति अर्थात् पहाड़ी खरिया में उतने विस्तृत नहीं है। यह गोत्र के रूप में जाना जाता है। ढेलकी तथा दूध खरिया में क्रमशः आठ तथा एकतीस गोत्र हैं। दूध खरिया में मूल रूप से नौ गोत्र थे, परन्तु अब ये बँट गये हैं। इसलिए इनका प्रकार यह है—'जनजाति-उपजनजाति-गोत्र-परिवार-व्यक्ति।'

लगभग यही प्रकार कोरवा का भी है। मूलतः ये शिकारी एवं भोज्य पदार्थ इकट्ठे करने वाले हैं, परन्तु आधुनिक शोध के आधार पर ये दो उपजनजातियों का निर्माण करते हैं—पहाड़ी कोरवा एवं मैदानी कोरवा। ये गोत्रों में विभक्त हैं तथा इसके अतिरिक्त खिलवासों या उपगोत्रों में भी। इस प्रकार इनकी रूपरेखा जनजाति-उपजनजाति-गोत्र-उपगोत्र-परिवार-व्यक्ति की हुई। पलामू की पहाड़ियों के सामाजिक संगठन का फलक वंश है। उनमें गोत्र-संगठन नहीं है, परन्तु उनकी वंश-प्रणाली, जो खंडित प्रकृति की है, उनकी सामाजिक रूपरेखा की व्याख्या करती है। वंश-प्रणाली की परीक्षा छः भागों में की जा सकती है—परिवार, उप-वंश, वंश वर्ग, स्थानीय वर्ग-ग्रामीण तथा अन्तर-ग्रामीण स्तर। यदि इनकी व्याख्या बृहत् संदर्भ में गोत्रों की तुलना में की जाय तो इससे यह रूपरेखा उपलब्ध होगी—'जनजाति-क्षेत्रीय वर्ग-वंशीय वर्ग-वंश-उपवंश—परिवार-व्यक्ति।' राजमहल के संथाल परगना में मालेरों या सौरिया पहाड़िया में भी गोत्र-संगठन नहीं है। वे मुख्य पहाड़िया जनजाति समूह के हैं जो एक ही भौगोलिक क्षेत्र में रहते हैं। बैनब्रीज (१९०६:४६) ने इनमें पात्रे, मान्द्रो, फब्बी, छोटेह तथा डकरीन, ये पाँच क्षेत्रीय वर्ग पाये। एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ बहुत कम सामाजिक सम्बन्ध है। विद्यार्थी (१९६३:६०) को भी इस प्रकार के सात वर्ग मिले, परन्तु उनका दृष्टिकोण यह है कि मालेर इन शब्दों का व्यवहार अपनी जनजाति की विभिन्न दिशाओं में बँटवारे को इंगित करने के लिए करते हैं, परन्तु दिशा उल्लेख के स्थान से भिन्न होती है तथा इन्हें स्थायी क्षेत्रीय शाखाएँ नहीं माना जा सकता। मालेर गोम परिवारों का एक समूह है जो अन्ततोगत्वा वंशावली (Lineage) से सम्बन्धित है। मालेरों के यहाँ वंश एक संहत समूह होता है तथा उनका सामाजिक जीवन, विशेषकर जन्म, विवाह तथा मृत्यु

के अवसरों पर आयोजित समारोहो के समय, एक महत्त्वपूर्ण व्यवहारिक इकाई है (विद्यार्थी, (१९६३:६८)। उनके यहाँ माता एव पिता दोनों पक्ष के सम्बन्धियों को समान महत्त्व प्रदान किया जाता है। यहाँ पर वश को अपना उचित महत्त्व मिलता है तथा परिवार समाज की प्राथमिक इकाई है। इस प्रकार बृहत् संदर्भ मे उनकी रूपरेखा का उल्लेख इस प्रकार से किया जा सकता है—'पहाडियों की जनजाति का एक सदस्य-जनजाति क्षेत्रीय समूह-वंश-परिवार-व्यक्ति।' छोटा नागपुर के बिरहोर उथलु या मुल्या अर्थात् भ्रमणशील तथा जघी या थनिया अर्थात् आवासित, इन दो शाखाओ मे विभक्त हैं। इसके पश्चात् ये अन्य जनजातियो के समान गोत्रों मे बँटे हुए हैं तथा अन्त मे परिवार की प्राथमिक इकाई आती है। इसलिए इनका *सामाजिक प्रकार यह है—'जनजाति-उप-जनजाति-गोत्र-परिवार-व्यक्ति।'*

उड़ीसा मे सर्वाधिक आबादीवाली जनजाति खोण्ड है। खोण्डो में तीन क्षेत्रीय शाखाएँ हैं। इनमे से प्रत्येक शाखा को एक उपजाति माना जा सकता है। ये तीन शाखाएँ है—डोंगरिया खोण्ड (वन), देस्या खोण्ड तथा कुट्टिया (पहाड़) खोण्ड। डोंगरिया खोण्डो मे टोटमवादी गोत्रो मे विभाजन की विधि अत्यन्त विस्तृत एव विकसित है। इस प्रकार खोण्ड इस सरचना का निर्माण करते है—'जाति-उपजाति-गोत्र-परिवार-व्यक्ति।' सावरा अपने को टोटमवादी गोत्र मे विभक्त नही करते। उनके लिए विस्तृत इकाई है बरिन्दर, जिसमे कई परिवार सम्मिलित रहते है एवं जो वश के समान ही महत्त्वपूर्ण है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सावरा नारी जीवन भर अपने पिता के बरिन्दर या गोत्र की सदस्या बनी रहती है। ग्राम की रचना कई बरिन्दर इकाईयों से होती है जो सामाजिक एव सांस्कृतिक जीवन में सयुक्त होती हैं। इसके पश्चात् दूसरी उच्च इकाई व्यावसायिक एव क्षेत्रीय प्रकृति की है। यह जनजाति इस प्रकार के सत्रह अन्तर्विवाहीय वर्गों मे बँटी हुई है। ये समूह सावरा की उप-जनजातियो के समान हैं। ये है–झूम कृपि (परिवर्तनशील कृषि) करनेवाले लम्बा लोनिया, जापू; पीतल का काम करने वाले भाने, रैंका; बाँस की टोकरी बनानेवाले किन्डल, अरसी; ताड़ काटनेवाले जौरिया; तीरन्दाज कन्वेर, कुसमा सावरा, सुघा सावरा; तेलुगु बोलने वाले कम्पास, कुम्हार कुम्बीर और धातु कार्यकर्त्ता गोन्तुरा, लोहार, लुठार, सरदा तथा जारा। इनमें एक प्रकार का सामाजिक स्तरीकरण भी वर्तमान है। ये मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त हैं जिनमे एक है सावरा (Aristocrats) जिसमे गमंग सार्वजनिक नेता (Head) होता है और जिसकी सहायता डाल बहरा तथा मंडल करते हैं। इसके पश्चात् धार्मिक प्रधान (Head) बूढ़ा होता है तथा विवाह इसी सीमा (Moiety) में सम्पन्न होता है। शेष सावरा रैयत कहे जाते हैं। एलविन (१९५५:५०) इस प्रकार इनके क्षेत्र की रचना

बताते हैं—'जनजाति-उपजनजाति-अर्द्धक (Moiety) स्थानीय समूह-ग्राम्य समूह-वंश-परिवार-व्यक्ति ।'

उड़ीसा के कोरापुट तथा कालाहांडी जिलों में मुख्य रूप से निवास करनेवाले भोत्तादा या भोत्तारा या भोटडा सर्वप्रथम बोडो एवं सोना, इन दो अन्तर्विवाही शाखाओं में विभक्त हैं और फिर अनेक बहिर्विवाही टोटेमिक गोत्रों मे । उनकी संरचना इस प्रकार की हो सकती है—जनजाति-अर्द्धक-गोत्र-परिवार-व्यक्ति । इसी प्रकार उड़ीसा की जनजाति भुइयाँ, जो बिहार, उत्तरप्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल मे अनुसूचित जाति मानी जाती है, सर्वप्रथम पहाड़ी या पउरी या देश भुइयाँ तथा समतल भुइयाँ या सेमा, इन दो शाखाओं में विभक्त है । इसके पश्चात् समतल भुइयाँ पाँच शाखाओ मे उप-विभाजित है । ये हैं—खण्डिस्त या पैक भुइयाँ, जो प्रथम राज्य के सैनिक (Moiety) हैं, राजकोली या रजदी भुइयाँ, जो भुइयाँ रखेली से उत्पन्न राज-परिवार के हैं; परजा भुइयाँ या शरत्ली, जो मुख्य रूप से कृषक हैं, पवनबन्स तथा रीखीगन महतवार तथा अन्त मे समतल भुइयाँ, जिन्होने नाग, गज, कच्छप आदि हिन्दू गोत्रो के नाम अपना लिये हैं । भुइयाँ कभी कभी खिली शब्द का भी प्रयोग करते हैं । एक ही गोत्र के नाम दो या अधिक परिवारों द्वारा अपना लिये जाने पर आपस में विवाह वर्जित नही है । ऐसा प्रतीत होता है कि गोत्रो मे अन्तर्विवाही होने की प्रवृत्ति है । परन्तु इनमें सग्याओ के संगठन जैसा वंश मिलता है । सग्या वास्तव मे या एक ही पूर्वज के वंशज हैं या वैसे ही समझे जाते हैं । भिन्न-भिन्न गाँवो मे रहने वाले एक ही सग्या के परिवारों में विवाह तब तक वर्जित नहीं है जब तक दोनों परिवारो मे वंशगत सम्बन्ध का अभाव निर्दिष्ट न हो जाय (राय, १६३५:१४५-४७)। पउरियो (पहाड़ी भुइयाँ) में भी अन्तर्विवाही कुटुम्ब वर्तमान हैं । विवाह के लिए पउरी भुइयाँ तथा मैदानी भुइयाँ कुटुम्ब गाँवो के नाम से पुकारे जानेवाले बहिर्विवाही ग्रामीण समुदायों के दलों में विभक्त है । कुटुम्ब गाँवो के सदस्य एक ही दल के माने जाते है । इस प्रकार उनकी सामाजिक रूपरेखा इस प्रकार की हो सकती है—'जनजाति-उपजनजाति-क्षेत्रीय (कुटुम्ब गाँव) या व्यावसायिक वर्ग-गोत्र-वंश-परिवार-व्यक्ति ।'

भूमिजो को, जो छुटपुट रूप से बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल मे रहते हैं, सुरजीत सिन्हा जनजाति-जाति-सातत्य के पैमाने के अन्तर्गत पाते हैं । उन्होंने राजपूत क्षत्रिय जैसी अतिशय पतित (Degraded), ब्राह्मण जैसी नाग, सबसे निम्न स्तर के नीचू या पालित नामक कम से कम तीन अन्तर्विवाही सामाजिक-धार्मिक वर्गों को मान्यता दी है । इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने विभिन्न स्तरों को बीस से अट्ठाईस जातियों में बाँट रखा है । सभी स्थानों पर ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान दिया गया है; दूसरा स्थान राजपूत या वैश्य को मिला है । इसके सिवा वे अनेक पितृवंशीय बहिर्विवाही गोत्रों

मे विभक्त हैं। गोत्र पितृवश मे अतिरिक्त समान स्तर के खण्डों के साथ विभक्त हैं। इस प्रकार खण्ड स्तरीकरण की एक व्यवस्थित रूपरेखा पायी जाती है। यह है—'जनजाति-उप-जनजाति-सामाजिक वर्ग-गोत्र-वश-परिवार-व्यक्ति।'

प्राय: कोरापुट के गदबा एक अकेला जनजाति कहे जाते हैं, परन्तु वास्तव मे इनकी परिधि मे बोण्डो परजा, बोडो गदबा अर्थात् बडी गदबा, पोया गदबा या पारेण्डा जैसी अनेक जनजातियाँ आ जाती हैं (एलविन, १९५०:१)। बोडो गदबा सानो या परेण्डा तथा ओल्लेरो उप-जनजातिय के माने जाते है। ये गदबा अनेक पितृवंशीय टोटमिक तथा बहिर्विवाही गोत्रो मे विभक्त है तथा गोत्र कुटुम्ब नामक अनेक उप-गोत्रों मे विभाजित हैं जो कभी-कभी उनकी स्थानीय उत्पत्ति या विशेष परम्परागत व्यवसाय की ओर भी इंगित करते है। इसके अतिरिक्त ये उप-गोत्र गोत्रो मे भी विभक्त हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त उनके अन्तर्गत एक अन्य संरचनात्मक ढाँचा भी मिलता है। उन्होने कुछ मित्र सबंधी बना लिये है तथा वे आपस मे विवाह नही करते। वे है पजभाई, जो पचायत बनाते हैं तथा मोइतुर, जिसका अर्थ है मित्र तथा जिसकी सस्कृत अभिधा भी मित्र है। इसलिए उनकी सामाजिक रूपरेखा को इस प्रकार अकित किया जा सकता है—'जनजातियो का एक समूह-जनजाति-उपजनजाति-गोत्र-उपगोत्र-वश-परिवार-व्यक्ति।'

राउत कालाहाडी के भुइयाओ मे एक प्रकार के अर्द्धक पाये जाते हैं। क्षेत्रीय रूप से इन्होने अपने आपको चकतिया, खलासिया, नौगरिया तथा शरिया, इन चार शाखाओ मे विभक्त कर रखा है। प्रथम शाखा के दो समूह है, एक नेतम, जिसमे दस बरग है तथा दूसरा भरक जिसमे नौ बरग है। गोत्र की तरह प्रत्येक बरग एक बहिर्विवाही समूह है जिसमे अनेक प्रमुख वश है। उनमे दो प्रकार के वश है—समान अनिर्देश्य पूर्वजो वाले प्रमुख वंश तथा समान निर्देश्य पूर्वजो वाले लुलकु वश। प्रत्येक बरग का अपना देवता है तथा भूमि के स्वामित्व पर आधारित कुछ क्षेत्र। इस प्रकार यह अपनी रूपरेखा यो प्रस्तुत करता है—*'जनजाति-गोष्ठी-क्षेत्रीयवर्ग-गोत्र-वंश-परिवार-व्यक्ति'*।

क्योझर क्षेत्र के जुआग दो प्रकार के है—थानिया तथा बगुडिया (बोस, १९२९: ५१) तथा इनके पीढ है आरखड, सतखण्ड, कलुवा तथा रेवेना जैसी पहाड़ियो की क्षेत्रीय इकाईयाँ है। इसके अतिरिक्त समस्त जनजाति बोक या बाक या बाउर सैन्ना बरन् या गुत्रा आदि अनेक गोत्रो में विभक्त है। फिर ये गुत्र, बन्धु तथा भाय (भाई) जैसे विविध सगठनो मे विभक्त है अर्थात् वैसे गोत्रो में जिनमें विवाह हो सकता है या विवाह नही हो सकता। इस प्रकार इनकी सम्पूर्ण सामाजिक रूपरेखा है—'जन-जाति-उपजनजाति-अर्द्धक (Moietv)-क्षेत्रीय समूह-गोत्र-परिवार-व्यक्ति।' गदाबा जिन तीन जनजातियो में विभक्त है, उनमे एक के रूप में कोरापुट के बोण्डों का उल्लेख

है अर्थात् बोण्डो पोर्जा, गुतोब (या बोडो गदाब) तथा परेंग गदाबा का। बोण्डो पोर्जा बोण्डो माने जाते हैं (थर्स्टन, १९०९:२०९)। भूगोल की दृष्टि से बोण्डो बस्तियाँ बड़ा-जंगर, गदाबा तथा समजन इन तीन वर्गों में विभक्त हैं। एक सीमा तक भौगोलिक कारण से इन तीनों समूहों के अपने-अपने सीमित दायरे बन गये हैं। फिर भी, लड़की प्राप्त करने के लिए वे अपने क्षेत्र से बाहर जाते हैं। यद्यपि इन सभी समूहों के बीच विवाह आम बात है, तथापि इससे बचने की प्रवृत्ति भी मिलती है (एलविन, १९५०:७)। बोण्डो में भी ओन्टल् (नाग) तथा किल्लो (बाघ) जैसे विभिन्न संगठन है, यद्यपि इन दिनों ये पूर्ण अन्तर्विवाही समूहों के रूप में सक्रिय नहीं हैं। इन्हें बोन्सो कहा जाता है। इसके पश्चात् उनके अन्तर्गत कुडो अर्थात् गोत्र-संगठन मिलता है। संरचना में ग्रामीण समुदाय का उचित महत्त्व है तथा एक गाँव में रहने वाले सास-भाई (ऐसे भाई जिन्होंने एक ही बात-भोग भी ग्रहण किया है) कहे जाते हैं। वे सास-भाई को बहिर्विवाही मानते हैं। इस प्रकार इनकी जनजातीय रूपरेखा है—'जनजाति समूह के एक सदस्य-जनजाति-अर्द्धक (Moiety)-क्षेत्रीय समूह-गोत्र-परिवार-व्यक्ति।'

मध्य प्रदेश में सर्वविख्यात एवं सर्वाधिक जनसंख्या वाली जनजाति गोंड है। वस्तुतः गोंडों में अनेक जनजातियाँ सम्मिलित हैं तथा वे अपने को कोयतोर कहते हैं। गोंडों की प्रत्येक जनजाति अपने आपमें पूरी है। गोंड या तो क्षेत्रीय आधार पर बँटे हुए हैं या श्रेणी-क्रम के आधार पर। ये उत्तर में मिर्जापुर से लेकर आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र के आदिलाबाद तक फैले हुए हैं। उदाहरणार्थ, विभिन्न गोंड जनजातियाँ हैं—मंडला के गोंड, बस्तर के मुरिया गोंड तथा मारिया गोंड, आदिलाबाद के राजगोंड, वारंगल के कोया, छत्तीसगढ के अमतगोंड, धुरगोन्ड, उरिया गोंड आदि। ये सभी स्वतंत्र जनजातियाँ है जिनकी अपने अपने क्षेत्र में सामाजिक संगठन संबंधी अपनी संरचना है। कभी-कभी उन्हें उनके आवास-क्षेत्र के आधार पर भी अभिहित किया जाता है। इस प्रकार इनकी पहचान भिन्न-भिन्न लोगों से भिन्न-भिन्न आधारों पर होती है। अनुसूचित जनजाति (संविधान) सम्बन्धी आदेशों में उन्हें गोंड की उन जनजातियों में से एक के रूप में अंकित किया गया है जिनकी कुल संख्या तिरपन है। उनकी सामाजिक रूपरेखा की सबसे महत्त्व-पूर्ण विशेषता है विविध संगठन या अर्द्धक। प्रत्येक अर्द्धक अनेक गोत्रों का बना है जो उनके यहाँ भाईगोत्र के रूप में जाना जाता है। पहाड़ी मरिया या अबूझ मरियाओं में प्रत्येक अर्द्धक में ६० तथा ६६ गोत्र हैं (ग्रीगसन, १९४९:२३५-३६)। कुछ अन्य गोंडों ने अपने को अनेक कुल-समूहों में विभक्त कर रखा है। आदिलाबाद के राज गोंडों के अन्तर्गत यरूवेन सागा, सारूवेन सागा, सिवेन सागा, नालवेन सागा नामक (दुबे:१९७१) क्रमशः सात, छः, पाँच तथा चार भाइयों के कुल-समूह मिलते हैं। मुरियाओं

में वंश से अभिन्न इस प्रकार के पाँच कुल समूह हैं, जैसे नाग-वंश, कच्छिम-वंश, बक-वंश, बाघ-वंश तथा वाल्मीक वंश। जहाँ तक गोत्र-संघटन का सम्बन्ध है, प्रत्येक गोत्र में अपने मूल स्थान या भूम से अपना गृह साम्य बनाये रखता है। भैंस सिंग वाले मारियाओं में मर्वी, कुहरामी, सोढी तथा मरकामी ये चार कुल-समूह हैं (ग्रीगसन, १६४६:३०६)। इसलिए मोटे तौर पर गोंडो की रूपरेखा यह है—'जनजातियो का एक समूह-जनजाति-अर्द्धक-कुल-समूह-गोत्र-ग्राम्य समूह-वंश-परिवार-व्यक्ति।'

छत्तीसगढ के कमारो मे जनजातीय स्तर पर, क्षेत्रीय उप-विभाजन मिलता है। वे अन्तर्विवाही नही हैं। ये हैं नवगढिया, पहारपतिया, देवभोगिया, गुरियाबन्दिया, छूरा-रजिया, खालसा-रजिया, खरिवार-रजिया, पिंगेश्वर-रजिया तथा कोमखान-रजिया (दूबे, १६५१.५७-५८)। रसेल तथा हीरालाल (१६१६:३२४) के अनुसार उनमे बध-रजिया तथा मकदिया दो शाखाएँ हैं। दूसरी शाखा मकदिया कही जाती है, क्योकि उसके लोग बन्दर खाते हैं तथा वे बध-रजिया द्वारा हेय दृष्टि से देखे जाते है। परन्तु दूबे (१६५१ ५७) का ऐसा विचार है कि मध्य प्रदेश के कमारो मे अब ऐसा वर्ग नही है। सामाजिक सगठन का केन्द्र-बिन्दु परिवार है तथा अन्य प्रमुख इकाईयाँ है—स्थानीय समूह, गोत्र तथा सम्बन्धी समूह। कुछ घरजमाइयो के अपवाद छोड़कर परिवार पितृवंशीय एव पितृनिवासीय है। स्थानीय समूह भी एक स्पष्ट सामाजिक इकाई है तथा इसमे एक ही स्थान पर निवास करने वाले कई परिवार सम्मिलित है जो ऐसे विशेष कार्य करते है जो अकेले किसी परिवार द्वारा सही ढग से नही किये जा सकते। इसके पश्चात् कमारो मे सात बहिर्विवाहीय गोत्र-समूहो का गोत्र-सगठन है। इसलिए कमारो की सामाजिक सरचना की रूपरेखा यह है—'जनजाति-क्षेत्रीय समूह-गोत्र-उप-गोत्र-परिवार-व्यक्ति।'

हल्बाओ के भीतर बडे क्षेत्रीय समूह बन गये है अर्थात् बस्तर के निवासी, छत्तीस-गढ़िया अर्थात छत्तीसगढ के निवासी तथा मराठिया अर्थात् मराठी हल्बा। ये सब पुनः पुरैत या नेखा अर्थात् शुद्ध हल्बा तथा सुरैत या नायक अर्थात् मिश्रित हल्बा, इन दो अन्तर्विवाही वर्गों मे विभक्त हैं। उनके अन्तर्गत उनके व्यवसायो पर आधारित गोत्रो के तुल्य बहिर्विवाही उपजातियाँ है, जैसे रावत अर्थात् गडेरिया, बरेठा अर्थात् धोबी। इसलिये इनकी रूपरेखा है—'जनजाति-क्षेत्रीय समूह-सामाजिक वर्ग-गोत्र-परिवार-व्यक्ति।' बैगा लोगो ने भी अपने को भूमि के स्वामित्व, अपने रूप रंग आदि के आधार पर उप-जनजाति जैसी सात उप-शाखाओ में विभक्त कर रखा है। हैं—बिन्झवार (भूमिपति), भरोतिया (लम्बे बालों वाले), मुण्डिया (सफाचट मूछो वाले), कठमैना (काठ का काम करने वाले) रायमैना, नरोटिया या नाहर, कोन्दवाना या कुचकी, तथा गोण्डबैना।

प्रत्येक उप-जनजाति में अनेक गोत्र हैं। इसलिए इनका प्रकार है—'जनजाति-उप-जनजाति-गोत्र-परिवार-व्यक्ति।'

पहले कुरकुओ में राज कोरकू तथा पठरिया नामक द्विविध प्रकार के सामाजिक विभाग थे, परन्तु अब उनमें मवासी, बवासी, रूमा तथा बैदोया, ये चार क्षेत्रीय वर्ग हैं। मवासी सच्चे अर्थों मे अन्तर्विवाही हैं। प्रत्येक क्षेत्रीय वर्ग गोत्रों, जैसे टोटमिक बहिर्विवाही, वर्गों में बँटा हुआ है तथा अन्ततः यह जो सामाजिक रूपरेखा प्रस्तुत करता है, वह है—'जनजाति-मोयटी-क्षेत्रीय वर्ग-गोत्र-परिवार-व्यक्ति'।

कोलो के रउतिया, रोटेला, ठकुरिया, कवरिया तथा दसाहा नामक अनेक उप-विभाग हैं तथा उन्होने एक वर्ग-सोपान का निर्माण किया है। उनके अन्तर्गत बरगइयाँ, कठरिया, भुड़िया, कुमराया, भुआर, नथुनिया आदि अनेक टोटमिक सम्प्रदाय हैं। वे अपने विवाहो का नियमन वंश-सम्बन्धो द्वारा करते हैं। इसलिए कोल इस रूपरेखा की रचना करते है—'जनजाति-क्षेत्रीय वर्ग-गोत्र-वंश-परिवार-व्यक्ति। प्रधान जनजाति गोंडों के भाट माने जाते हैं। उनके अन्तर्गत कुछ अन्तर्विवाही क्षेत्रीय शाखाएँ हैं जिनमे प्रमुख हैं—राजप्रधान, गण्डा प्रधान, थोथिया प्रधान, बस्तर में मार्च क्षेत्र के भडेर, छत्तीसगढ़ में खलोतियन, छिन्दवाडा मे देवधरिया तथा व्यावसायिक समुदाय कन्डूप (बाँस के कार्यकर्ता), गैत (पुजारी), परख (कपड़ो के व्यापारी) आदि। इसके सिवा इनमें बहिर्विवाही टोटमिक गोत्र मिलते हैं। इस प्रकार प्रधानों की रूपरेखा 'जनजाति-क्षेत्रीय या व्यवसायिक वर्ग-गोत्र-परिवार-व्यक्ति' की है।

पश्चिमी भारत की जनजातियाँ

पश्चिम भारत में भील, कोली महादेव, गोंड, बर्ली, कोन्का, ठाकुर, कठोडिया, गामित, डब्ला, धोन्डिया आदि प्रमुख जनजातियाँ है। भील मध्यभारत एवं पश्चिम भारत के विस्तृत क्षेत्र मे बसे हुए है। नाथ (१९६०:२१) का विचार है कि ऐसा विश्वास करने के अनेक प्रमाण है कि भील के नाम से ज्ञात सभी लोग एक ही जनजाति में नही आते। इसके विपरीत ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि संलग्न क्षेत्रों में निवास करने वालों और मैदानी इलाकों मे रहनेवालो की दृष्टि मे जीवन-यापन की प्रणाली में बाहरी समानता रखने वाली जनजातियों के पूरे वर्ग को सम्भवतः एक ही संज्ञा मे जबरदस्ती सम्मिलित कर दिया गया। हैमनडार्फ (१९६०:५) का भी ऐसा विश्वास है कि भील एक पँचमेल समूह है जिसके अन्तर्गत मूलतः भिन्न ऐसी अनेक जनजातियाँ सम्मिलित कर ली गयी हैं जिन्हें अधिक उन्नत पड़ोसियों ने भील नाम दे दिया। भील पश्चिम भारत के विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं जिसका प्रतिबिम्ब उनकी भाषा शैली में मिलता है। उनकी भाषा पर

गुजराती का प्रचुर प्रभाव है जबकि उत्तर मे राजस्थानी का प्रभाव है तथा महाराष्ट्र में मराठी का।

भीलों मे बहुत सी बातो मे यथेष्ट भिन्नता है। इसका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से वातावरणकी स्थितियो तथा पड़ोस के लोगों के साथ सम्पर्क से है। उदाहरणार्थ, समतल में निवास करने वाले भील पहाड़ो से घिरी हुई घाटियो के भीलो की तुलना में भौतिक संस्कृति के क्षेत्र मे अधिक उन्नत हैं। मोटे तौर पर ये पतियावाला (वे जो धोती पहनते हैं) तथा लँगोटिया (जो लँगोटी पहनते हैं), इन दो भागो मे विभक्त है। लँगोटिया भील मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र की अधित्यका के भील है। दोनो प्रकार की नारियाँ लगभग एक ही प्रकार का गहरे नीले रग का या लाल फूलदार लहँगा तथा दुपट्टा पहनती है, परन्तु अलग-अलग ढंग से।

इस वर्ग मे सम्मिलित भील जनजातियाँ अनेक है तथा उनके नाम या तो किसी क्षेत्र-विशेष से या दो प्रजातीय वर्गों के किसी-न-किसी प्रकार के भोज से सम्बन्धित है। ये जनजातियाँ है—भील गडेरिया (भीलो एवं गडेरियो का मिश्रण), मीना भील, ठोली भील, डूँगरी गडेरिया, मवासी भील, रावल भील और तदवी भील। महाराष्ट्र मे भील नारी तथा मुसलमान पुरु की सतान और गुजरात के तदवी हिन्दू है। भगालिया भीलाला (भीलो का राजकीय खण्ड-राजपूत एव भीलो की सतान), वासव, बरेला (भीलो का हिन्दुत्व खण्ड), पटेलिया (राजपूत नारी एव भील पुरुष के वश) आदि। सदियों से एक-दूसरे से सम्पर्क की अवधि मे, सामान्य रूप से मान्य एक सामाजिक श्रेणी का विकास हुआ है जो अन्तर्वर्ग सम्बन्धो का विनियमन करती है।

भीलो की सामाजिक व्यवस्था को बहुखण्डी कहा जा सकता है जिसमे क्रमशः सकुचित होते हुए ऐसे खण्ड हैं जो सम्पूर्ण समुदाय को अनेक सगोत्रीय वर्गों में विभक्त करते हैं। इनको एक ही पक्ति मे रखने का मूल आधार है—पितृवंशीय उद्गम। जनजाति के अन्तर्गत पहले प्रकार का खण्ड क्षेत्रीय तत्त्व पर आधारित है। सामान्यतया लोग भीलों के साथ विवाह एव भोजन करते है। परन्तु ३०-४० किलोमीटर की परिधि के बाहर भील शब्द द्वारा सकेतित इसी जनजाति की सदस्यता कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। इस जनजाति के अन्तर्गत अनेक पितृवंशीय बहिर्विवाही अटक (गोत्र) हैं जिनके नाम अधिकतर मूल पुरुष पर आधारित है। सौ से अधिक गोत्रों को, जो टोटेमवादी प्रथाओं का पालन करते प्रतीत होते हैं, सूचीबद्ध किया गया है (नाथ, १९६०:७२)। गोत्र अत्यधिक खण्डित है तथा वास्तव मे इनका कोई भी क्षेत्रीय या सामूहिक महत्व नहीं है। अनेक खण्ड एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं तथा किसी भी श्रेणीकरण में नहीं आते।

ऐसा प्रतीत होता है कि गोत्रों की इससे भी छोटे खण्डों में विभाजन की प्रक्रिया चलती रही है। फिर भी, इन्होंने अपने गोत्र-परिचय को अटक नामों तथा बहिर्विवाह द्वारा बनाये रखा। उदाहरणार्थ, मारमार गोत्र में ये खण्ड हैं—पीपरेया, धनया, कटारा आदि। स्थानीय रूप से ये उप-खण्ड पेटा-अटक (उप-गोत्र) के रूप में जाने जाते हैं। गोत्र या उपगोत्र में वंश आते है जो साधारणतया पड़ोसी समूह है। एक वंश-समूह के अधिकतर ऐसे व्यक्ति एक-दूसरे की पहचान कर लेते हैं जो सात या आठ पीढियों की सीमा मे आते हैं। इस समूह का एक व्यापक समाजिक एवं धार्मिक संगठन है। एक वंश-समूह के लोग आर्थिक एवं अन्य गतिविधियों मे एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। एक वंश के अन्तर्गत तीन पीढ़ियो तक के अनेक परिवार होते हैं। यह एक सुगठित संहत वर्ग है तथा वास्तव मे सभी सामाजिक कार्यक्रमो की एक इकाई है। इकाई परिवार निवास एवं आर्थिक सम्बन्धों की एक इकाई है, परन्तु अनेक सदर्भों में यह सयुक्त परिवार के अधीन होता है। इस प्रकार भील अनेक जनजातियो का एक समूह है जिसके सदस्य जनजातियों की पृथक् पहचान है। क्रमानुसार अन्य खण्ड हैं—क्षेत्रीय वर्ग, गोत्र, उप-गोत्र, वंश, संयुक्त परिवार तथा इकाई परिवार।'

सह्याद्रि समूह की जनजातियो की सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप लगभग समान है। गोत्र एव परिवार सामान्य सामाजिक इकाइयाँ हैं। समूह के सदस्य सदैव ही कुल-नाम का व्यवहार उपनाम के रूप मे करते हैं। कोली महादेवों मे भगारे, बेन्दकोली, बदादे, भाण्डेकर, गोडे, गुम्बाले, परधी आदि जैसे बहिर्विवाही गोत्र है। भगारी, बुधार, भोवार बरत, गदरी, पवर आदि बर्नी कुल है। कोकनाओ में भी बगुल, बोरसा, गविल आदि बहिर्विवाही कुल हैं। ठाकुरों की दो प्राथमिक अन्तर्विवाही शाखाएँ हैं—मा ठाकुर तथा का ठाकुर। इन वर्गों मे मा ठाकुर के २२ तथा का ठाकुर के २६ गोत्र है। परिवार प्राथमिक सामाजिक इकाई है। कठोडियो में भी दो सामाजिक इकाइयाँ हैं—कुल एव परिवार। भगारे, भोये, बप्पयल्वी आदि कुछ कुल हैं। डब्लाओं के बहिर्विवाही कुल हैं—बभानियाँ, बैलमार्या, कदावे, पतियल आदि।

गुजरात के धनका प्रथमत तदवी तथा तेतरिया, इन दो वर्गों में विभक्त हैं। वे एक दूसरे के यहाँ भोजन नही करते। तदवी मुसलमान हैं। उनमें बहिर्विवाही कुल हैं। इनमें सभी स्थान तथा अन्य बातों में बराबर है। पाराधियों के बहिर्विवाही विभाग हैं—सोलकी की प्रमुख उप-जनजातियों का नामकरण उनके व्यवसाय पर आधारित है, जैसे शिकारी या भील पारधी जो बन्दूक चलाते हैं, फाँसे पारधी-जो जाल का उपयोग करते हैं। लँगोटी पारधी जो लँगोट पहनते हैं, टकन्कर, शिकाड़े, पथाके तथा पोस्सिया पारधी।

दक्षिण भारत की जनजातियाँ

दक्षिण भारत की जनजातियों में दो समान सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। अधिक प्रचलित सामाजिक इकाइयाँ हैं—गोत्र तथा परिवार। अधिकतर गोत्रों के नाम आवास या क्षेत्र के आधार पर रखे गये हैं। सभी के लिए गोत्र एक बहिर्विवाही समूह है। केरल के आदियानो के यहाँ अड़क मण्डू, तिसनेल्ली मण्डू, पोथोन मण्डू आदि नामों से ज्ञात रूप मे मोण्डू है। ये नाम उनके आवास के स्थान का संकेत करते हैं। केकुलम (गोत्र) हैं जो बहिर्विवाही विवाह मे सहायक सिद्ध होते है। इरुलुओ मे भी मूल सामाजिक इकाइयाँ हैं—बहिर्विवाही गोत्र तथा परिवार। कादरो मे इस प्रकार के गोत्र नही हैं, उनमे अस्थायी स्थानीय समूह और पारिवारिक इकाइयाँ हैं। वे संस्था की अपेक्षा व्यक्ति पर अधिक बल देते हैं। भाल पण्डरामो तथा भाल भलारसरो के यहाँ गोत्र नियम नही हैं। उनमे विवाह दूर के समुदायो के साथ होता है जिनके साथ नाम मात्र का सम्बन्ध हो या रक्त सम्बन्ध एकदम न हो। चेञ्चू पाँच सम्प्रदायों मे विभाजित हैं। इन टोटेमिक गोत्रो का स्वरूप बहिर्विवाही है। उनके अन्तर्गत तेलुगु चेंचू, कृष्णा चेंचू, अदरी चेंचू तथा बोन्ता चेंचू, ये चार अन्तर्विवाही समूह हैं।

तमिलनाडु मे नीलगिरि के टोडा लोगो की अपनी विशेष सामाजिक व्यवस्था है। सर्वप्रथम वे थार थजोली तथा थेवेलियोल, इन दो अन्तर्विवाही अर्द्धको में विभक्त है। दूसरे अर्द्धक का स्थान सामाजिक अनुक्रम की दृष्टि से निम्न है। प्रत्येक अर्द्धक मे अनेक बहिर्विवाही गोत्र है। थाजोली तथा थेवेतियोल मे क्रमश. दस तथा छः गोत्र है। इसके अतिरिक्त गोत्र क्रमशः अनुष्ठानो तथा आर्थिक उद्देश्यो से कुद्र और पोलम मे विभक्त हैं।

अध्याय ९

जनजातियों का धार्मिक जीवन

अति-मानवीय (Super human) प्रकार की जीवात्मा की सत्ता में विश्वास का प्रचलन प्रायः पूरे विश्व में पाया जाता है। बीमारी, मृत्यु और व्याख्यातीत अप्रत्याशित घटनाओं के दैनिक सांसारिक अनुभवों के कारण जनजातियों को भौतिक गोचर संसार के अलावा अगोचर जीवात्मा के ससार मे विश्वास करना पड़ा है। वे अपने मे और जीवात्मा के संसार मे निकट सबध स्थापित करते है। वे जीवात्मा के संसार या अतिमानवीय शक्ति के समक्ष अपने को दो रूपों में अर्पित करते हैं। प्रथम रूप है—जीवात्मा को मुग्ध कर उसपर अपना नियत्रण या अधिकार स्थापित करना अथवा किसी अच्छे या बुरे उद्देश्य से उसे अपनी इच्छित दिशा में मोड़ना। दूसरा रूप है—इच्छित वस्तु की या किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति के लिए अतिमानवीय शक्ति की पूजा कर उसे प्रसन्न करना। पहली क्रिया को हम जादू और दूसरी को धर्म कहते हैं। जनजातीय धर्म में जादू धर्म का एक अभिन्न अंग है और जादू के प्रयोग की क्रिया को मनाने का एक तरीका समझा जा सकता है : लोवी (१९५०:१७६)। जादू सहित अलौकिकता के सभी रूपो का समावेश धर्म मे रहता है।

वास्तव मे जनजातियो के धार्मिक जीवन के विषय में विचार करने के पूर्व उन मिथको एव गाथाओ को, जो जनजातियो के मस्तिष्क एव लौकिक विचार पर प्रभाव डालने की दृष्टि से अधिक महत्त्व रखती हैं, उद्धृत करना आवश्यक है। ऐसा समझा जाता है कि मिथक लाक्षणिक रूप से जीवन मे अतर्दृष्टि एवं लौकिक विचार का प्रतिनिधित्व करता है। जनजातियो के लिए मिथको एवं गाथाओ का वैसा ही महत्त्व है जैसा हिन्दुओ के लिए पुराणो और वेदो का। ये मिथक जनजातियों के धार्मिक मन को राह दिखाते और उनकी क्रियाओं को अनुमोदित करते हैं।

जनजातीय ससार ईश्वर या सिगबोगा या भगवान या धर्मेश को इस पृथ्वी एव मनुष्य आदि का रचयिता मानता है। जनजातियो के बीच ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में अनेक मिथक प्रचलित हैं। मिथक की सर्वाधिक प्रचलित भूमिका व्याख्या करने में निहित होती है। मिथक किसी अनुष्ठान या पूजा की व्याख्या करता है—वह क्यों किया जाता है और कोई व्यक्ति इससे क्या प्राप्त करेगा आदि-आदि। रोमांचकारी एवं वीरतापूर्ण कहानी

किसी ऐसे ऐतिहासिक पुरुष या व्यक्तित्व की हो सकती है जो जनजातीय समूह को अनेक गोत्रों या कुल-देवताओ से अंतिम रूप से सम्बन्धित करा सकता है। मिथक प्राकृतिक घटनाओं में पशु या मनुष्यो के प्रयोजन को लक्षित कर सकता है अथवा उन घटनाओं की व्याख्या किसी अति-मानव या दैवी शक्ति के कार्य-कलाप के रूप मे कर सकता है।

भारत की जनजातियों में जनजातीय मिथक एव गाथाओ की भरमार है और इनके द्वारा धार्मिक अवसरो की व्याख्या की जाती है। गोत्र, स्थान एव ग्राम, सब के पीछे कुछ मिथकीय आधार हैं। उदाहरणस्वरूप, शूद्रो का विश्वास है कि किटुंग मनुष्य एवं पृथ्वी का रचयिता है परन्तु किटुंग का स्थान अस्पष्ट है। एक समय उसने सभी जीवित प्राणियो का, केवल एक पुरुष एव एक नारी को छोडकर, विनाश कर डाला था (एल्विन, १६५५ ८७)। विभिन्न जनजातियो के मिथको के अनुसार नव-ससार की रचना अनेक प्रकार से हुई है। मुण्डाओ मे प्रचलित मिथको से ज्ञात होता है कि यह सिगबोंगा था जिसने जल पर विचार किया एव प्रथम जीवन के रूप मे एक कछुआ, एक कराकोम एव एक लेदाद की उत्पत्ति हुई। अत मे हुरना के एक पक्षी ने आकर अंडा दिया। इससे एक लड़के एव एक लडकी की उत्पत्ति हुई। ये सब होरोहोन मनुष्य के पुत्र के पूर्वज थे (राय, १६१२'३२८)। भारतीय जनजातियों के बीच से ऐसी अनेक कहानियाँ उधृत की जा सकती है परन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि मिथक समस्या जनजातीय परिस्थितियो एव अवस्थाओ की व्याख्या करती और जनजातीय मस्तिष्क एव विश्वास को सतुष्ट करती है।

भारत मे जनजातीय धर्मों की व्याख्या जीववाद के रूप मे की गयी है। जीववाद धर्म का वह अत्यन्त अपरिष्कृत रूप है, जिसमे जादू की प्रमुखता होती है। इसके अनुसार मनुष्य प्रेतात्मक शक्तियो के समूह से घिरे जीवन से गुजरती हुई वस्तु है। वे प्रेतात्माएँ ऐसी वस्तु हैं जो आकारहीन है, विशेषकर व्यक्तिहीन हैं जिनका कोई भी चित्र बनाया नहीं जा सकता। इनमे से कुछ जीवन के विशेष भागो के ऊपर या प्रभाव के दायरे के ऊपर सचालित करने के लिए जाती है। अत हम लोगो मे वैसी जीवात्मा है जो हैजा, एव चेचक पर आधिपत्य रखती है। उनमे से कुछ पहाडों से, तो कुछ पेडों या नदियो, झरनों आदि से सम्बन्धित हैं। खतरे से बचने के लिए, जो इनके प्रभाव के द्वारा पैदा होता है, इन्हे खुश किया जाता है (मजुमदार, १९६१:४२३)। अत. रचनात्मक कालीन भारतीय एव पुराने विदेशी जाति-वर्णन-कर्त्ताओं के द्वारा इस प्रकार का बिंब बनाया गया।

अब धर्म के दृष्टिकोण से यह कहा जाता है कि भारत की जनजातियाँ हिन्दू हैं। यह सर्वविदित है कि हिन्दूवाद अनेक संस्कृतियों की देन है जिसने वैदिक आर्यों से लेकर

आदिम लोगो के बलिदान की प्रथा को अर्थात् प्रत्येक तरह के धार्मिक कृत्य को अपना लिया है। इन सबों को हिन्दू धर्म के मुख्य अंग के रूप में देखा जा सकता है। १९६१ की भारत की जनगणना में भारतीय धर्म पर दिये गये आँकड़ों से जनजातीय भारत के धर्म का रूप स्पष्ट हो जाता है। जनजातियों मे ५९ तरह के धर्म हैं जिनमे वे लोग विश्वास करते हैं। केवल डेढ़ लाख जनजातियो में, जो उनकी कुल आबादी का (मुश्किल से) ५० प्रतिशत है, अनिश्चित विश्वास है या जिन्होंने धर्म को नहीं बताया। जनजातियों का ९/१० भाग (८९.३९ प्रतिशत) धर्म से हिन्दू है एवं उनमे से १/२० भाग (५.५३ प्रतिशत) ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है। नगण्य संख्यक जनजातियाँ (०.८९ प्रतिशत) बौद्ध धर्म मे विश्वास करने वाली है। इनके अतिरिक्त ३४ प्रतिशत इस्लाम, ०.२१ प्रतिशत जैन, सिक्ख एव जोरैस्ट्रियन (सभी, तीनो को मिला कर, ०.३४ प्रतिशत) धर्म मे विश्वास करने वाली जनजातियाँ हैं। जनजातियो का १/२५ भाग (४.१९ प्रतिशत) एक अलग धर्म मे विश्वास करने वाला है जिसका नाम उन्हीं के जनजातीय नाम पर है। उनकी संख्या इन जनजातीय धर्मों (२६) का ५२॥ प्रतिशत है (मित्रा, १९६६.२७५-७६)।

क्षेत्र के अनुसार उनके वितरण से पता चलता है कि दक्षिण भारत के द्वीपीय हिस्सों अर्थात् अन्दमान एव निकोबार और लक्षद्वीप, जो बंगाल की खाड़ी एवं अरब सागर मे पड़ते है, को छोड़कर सभी चार भागो मे हिन्दू लोग पाये जाते हैं। पश्चिम भारत (राजस्थान, गुजरात एवं महाराष्ट्र) एवं दक्षिण भारत (आंध्र प्रदेश, कर्नाटक एवं तमिलनाडु) तथा मध्य भारत के मध्य प्रदेश की लगभग ९९ प्रतिशत जनजातियाँ हिंदू है। उड़ीसा, पश्चिम बंगाल एव केरल राज्यो मे हिन्दू जनजातियो की संख्या ९० प्रतिशत से अधिक है। बिहार एव उत्तर-पूर्वी हिमालय क्षेत्र के त्रिपुरा के पश्चिमी एव मध्य भाग में अधिकतर हिन्दू है। पूर्वी हिमालय के असम, मेघालय, नागालैंड, मणिपुर एवं मिजोरम क्षेत्र में, जहाँ ५० प्रतिशत से कम जनजातियो की आबादी (४६ ८८ प्रतिशत) है, अनुसूचित जनजातियो मे ईसाई पाये जाते हैं। दक्षिण भारत मे, विशेषकर केरल में, वे लोग जनजातीय आबादी के १/२० वें भाग (४.७५ प्रतिशत) की सख्या में हैं, जबकि अन्दमान एवं निकोबार मे जनजातीय आबादी (७४.३१ प्रतिशत) के ३/४ हिस्से की संख्या में ईसाई हैं। जनजातियो मे बौद्ध धर्म को मानने वाले असम, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल एवं हिमाचल प्रदेश के कुछ भागो मे पाये जाते हैं। मुस्लिम धर्म को मानने वाली जनजातियाँ लक्षद्वीप (समस्त जनजातीय आबादी), हिमाचल प्रदेश (३.४ प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (२.७५ प्रतिशत) एवं महाराष्ट्र (०·९ प्रतिशत) में पायी जाती हैं।

समस्त भारत मे जनजातियों के द्वारा पालन किये जाने वाले धर्म का रूप, कम या अधिक हिन्दू धर्म है। विभिन्न नृजातीय वर्णनकर्त्ताओं, मानव-वैज्ञानिकों एवं अधिकारियों

का धर्म के संबंध मे एक ही विचार है। मार्टन (१९२१ : ११०) के अनुसार एक आदिवासी गोंड या भील के धार्मिक विचार को निम्न जाति के हिन्दू के एक सदस्य के धार्मिक विचार से नाम मात्र ही अलग किया जा सकता है। हटन (१९३१ : ३९१–९८) ने अपनी १९३१ की जनगणना की रिपोर्ट मे हिंदू धर्म एवं जनजातीय धर्म के बीच एक सीमा-रेखा खीचने की कठिनाई का अनुभव किया। उसके अनुसार जनजातीय धर्म वैसी वस्तुओ को प्रस्तुत करता है जो हिन्दू धर्म के मंदिरो मे नहीं बनायी गयीं। उसके अनुसार यह वस्तु पुरावैदिक काल के हिन्दू धर्म के निर्माण के लिए व्यवहृत वस्तु के समरूप है। हटन के पूर्व, दूसरे जनगणना प्राधिकारियो का भी यही विचार था। बेन्स (१८९१ : १५८) ने उन जनजातीय लोगों, जिनका हिन्दूकरण हो गया था एव वैसे जनजातीय लोगो, जिन्होने जनजातीय रूप के धर्म का पालन किया, के बीच अतर पर विचार करना निरर्थक समझा। एन्थोवेन (१९०१ : ३७८) ने तथाकथित जीववादियो को दूसरे लोगों से, जो नियमित रूप से हिन्दू बन गये, अलग करने मे व्यावहारिक कठिनाई का उल्लेख किया है। गेट (१९११ : १२९–३०) के अनुसार यह कहना बहुत कठिन है कि किस अवस्था मे एक मनुष्य हिन्दू बन गया है। टैलेन्ट्स (१९२१ : १२५) एक हिन्दू को एक जीववादी से अलग करने मे कठिनाई को स्वीकार करता है। घूर्ये (१९६३ : २०) के अनुसार जनजातीय धर्म हिन्दू धर्म का एक पिछडा रूप है। एल्विन का विचार है कि भारत मे जनजातियो का धर्म, हिन्दू धर्म के शैव धर्म से निकटत. संबंधित है, अतः हिन्दू धर्म एव जनजातीय धर्म का एक-दूसरे से भेद करना निरर्थक है। जनजातीय लोग सदैव ईश्वर की अधिकाधिक पूजा करने के लिए इच्छुक रहते हैं ताकि ऐसा करके वे लोग कुछ वस्तुओ का सामाजिक लाभ पा सके। दूसरी ओर (एलिवन, १९४२ . ३५) हिन्दू को अपने बहुदेव मदिर मे कुछ जनजातीय देवो को समाविष्ट करने मे कोई आपत्ति नही है। इस दृष्टि से विचार करने पर मजुमदार (१९६१ ४२४-२५) ने पाया कि आज जनजातीय धर्म पार्श्ववर्ती धर्म का प्रतिनिधित्व करता है जो विज्ञान एव कृत्रिम विज्ञान के बीच एव धर्म तथा जादू के बीच इस तरह अवस्थित है कि वह इनमे से किसी का नही है। गोंड का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि उनके धार्मिक जीवन को निम्न स्तर वाले हिन्दू जाति के लोगो से मुश्किल से अलग किया जा सकता है। जनजातीय भारत के अधिकतर भागो में जनजातीय लोगो ने लोकप्रिय हिन्दू धर्म के प्राचीन विश्वासो एवं व्यवहारों को अपना लिया है, यद्यपि यह स्थिति उनके द्वारा अपने देवताओं के लिए व्यवहृत विभिन्न नामो एवं भोजन, जल या व्यापार के सम्बन्ध में बरती गई उदासीनता से छुप जाती है। इस सदर्भ में यह कहा जा सकता है कि भारत, हिन्दू-भारत का सह-धर्मी है। कृष्ण अय्यर एवं बालरत्नम् (१९६१ : १९०) उनके वर्तमान धर्म को हिन्दू धर्म का एक अत्यन्त

सरल रूप समझते हैं। इस संदर्भ में निर्मलकुमार बोस का विचार सबसे बाद का है (१९७१ : ६)। यद्यपि वे भारत में धर्म के जनजातीय रूप पर निष्कर्ष देना नहीं चाहते, फिर भी उनका विचार है कि हिन्दू धर्म के निर्माण में पूर्व काल में भारत की जनजातियों ने उदारतापूर्वक योगदान दिया।

धर्म-समष्टि (सैक्रेड काम्प्लेक्स) के ढाँचे में भारत में जनजातीय धर्म की विशेषताएँ

भारत में जनजातीय धर्म के इस साधारण वर्णन के साथ हम लोग जनजातियों के के धार्मिक जीवन मे वर्तमान एव प्रचलित विस्तृत एव निर्दिष्ट विशेषताओं का उल्लेख करेंगे। उनका पूर्ण चित्र धर्म-संकुल[1] के साँचे में खींचा जा सकता है जहाँ अलौकिक शक्तियो मे उनके विश्वास के, अर्थात् धार्मिक विश्वास, जीवात्माओं के प्रकार, धार्मिक भूगोल, धार्मिक विशेषज्ञ एव धार्मिक कृत्य—पाँच अवयव हैं। उनके धार्मिक विश्वासों की रचना उनके बीच प्रचलित विभिन्न प्रकार के विश्वास एवं वाद करते हैं जब कि उनके बीच जीवात्माओ के प्रकार अलौकिक शक्तियो की अतिमानवीय शक्तियो के द्वारा की गयी क्रिया या घटित प्रभाव के रूप पर आधारित है। धार्मिक स्थान एवं सांकेतिक पदार्थ, जो विभिन्न शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, धार्मिक भूगोल का निर्माण करते हैं। धार्मिक विशेषज्ञ वे है जो समूह से सबधित तथाकथित ईश्वर को मानते हैं। उनके धार्मिक कृत्य, लोगो द्वारा अपनाये गये उन्हें मानने के तरीके, अनुष्ठान, पूजा, अर्पण एवं बलिदान आदि हैं।

अलौकिक शक्तियों में विश्वास की प्रकृति

जीववाद (ऐनिमिज़्म), पर आस्था धार्मिक विश्वासो और जीवात्माओं में विश्वास करनेवालो जनजातियो के साथ एक सामान्य बात है। जनजातियो के धर्म में जीववाद मे विश्वास एक सार्वजनिक विशेषता है। उन लोगो के लिए सभी स्थान धार्मिक है क्योंकि वे स्थान जीवात्माओं के स्थान हैं। जानवरो, पौधों, वृक्षों, तालावों, नदियां, पत्थर, पहाड़ सब में जीव का निवास-स्थान है। मृतक इसके अपवाद नहीं है क्योंकि वे आत्मा के रूप में रहते है या सतानों के रूप में उनकी पुनः उत्पत्ति होती है।

---

१. धर्म-संकुल : धर्म-संकुल शब्द धार्मिक नगरी गया एवं जनजातीय समुदाय मालेर के धार्मिक जीवन के नृजातीय वर्णन करने के लिए विद्यार्थी द्वारा रचा गया एवं व्यवहृत हुआ है (१९६३ : १४०)। धार्मिक, भूगोल, धार्मिक कृत्य एवं धार्मिक विशेषज्ञों के समूह—इन तीनों प्रत्ययों को मिलाकर धर्म-संकुल की रचना हुई है।

संपूर्ण वातावरण, चाहे गाँव हो या वन, जहाँ जनजाति के लोग निवास करते हैं जीवात्माओं से भरा रहता है। सभी जनजातियों के लिए, चाहे वे प्रमुख जनजातियाँ—संथाल, मुण्डा, उराँव हों या छोटी जनजातियाँ—बिरहोर, चेंचु या जंगल मे शिकार करने वाली दक्षिण भारत की जनजातियाँ हो, पूरा संसार जीवात्मामय है।

मध्य भारत में संथाल एव उराँव अपने मृतक की आत्मा की उपस्थिति में विश्वास करते हैं जिसकी पूजा मझिए थान मे करते हैं। जैसा कि मजुमदार(१९६१ : ४२२) का कहना है, मिर्जापुर के कोरवाओ मे फसलो, वर्षा और जानवरों का सचालन करने वाली जीवात्माएँ है और उनमे असख्य ऐसी जीवात्माएँ हैं जो कोरवा के पड़ोसी जनजातीय पुजारी प्रमुख पुरुष एव जनजाति के सामान्य कार्यो के प्रति धारणा व्यक्त करती हैं। अतः जीववाद अहितकारी जीवात्मा एवं शक्तियों मे विश्वास है जो मनुष्य के लक्ष्य को प्रभावित करता है। विद्यार्थी के अनुसार सथाल परगना के मालेर मे अलौकिक प्राणी गोसाईं के प्रति दृढ़ विश्वास पाया जाता है। मालेर के एक व्यक्ति के अनुसार बीमारी, अकाल, पानी की कमी, जमीन की कम उर्वरा शक्ति, फसल की कम उपज, अधिक मृत्यु आदि, ये सब तभी होती है जब गोसाईं या दुष्ट जीवो की यथोचित पूजा नही होती एवं समय पर बलि नही दी जाती (विद्यार्थी, १९६३ : १४१)। दूबे ने (१९७० : २८६) छत्तीसगढ़ के कामरो एवं भुइयों मे जीवात्मा के प्रति विश्वास की उपस्थिति पायी है। इस विश्वास के अनुसार जब मनुष्य स्वप्न देखता रहता है तो उसके शरीर का अतः जीव इधर उधर भटकता रहता है। जब किसी पुरुष की मृत्यु हो जाती है तो उसका शरीर खाली हो जाता है एव कब्र मे पड़ा रहता है। उसका अत.जीव बाहर निकलकर भगवान् मे मिल जाता है।

उत्तरी-पूर्वी हिमालय के मिकिर (बरकाटकी, १९६९ : ५९) अपने आसपास के स्थानों, जैसे पर्वतो, झरनों, नदियो के पुलो, बड़े बोल्डरो आदि को देवो का स्थान मानते हैं। सतानो के नामकरण मे अवतरण मे विश्वास की झलक मालूम पड़ती है। वे लोग प्रायः मृतक सबंधियो के नाम पर बच्चो का नामकरण करते हैं क्योकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि मृतक इस ससार मे लौट आता है। गारो मे ऐसा विश्वास है कि मनुष्य में अवस्थित जीव मृत्यु के उपरान्त पुन. अवतरण के पूर्व दूसरे क्षेत्र में कुछ दिनो के लिए समय व्यतीत करता है। जब कोई बीमार पड़ जाता है तब जयंतिया अपने पूर्वज की प्रार्थना बीमारी को दूर करने के लिए करता है। मिजो दूसरे संसार के अस्तित्व में विश्वास करता है जहाँ मृतको की आत्माएँ (जीव)बिराजती है। पत्थर मे किसी विशेष जीवात्मा के अस्तित्व का विश्वास कर नागा गाँव के चारों ओर एक बड़े पत्थर के साथ घूमता है।

पश्चिम भारत में भील (नाथ, १९६० : ९२ एवं १८२) मृतक के उत्तर-जीवन में विश्वास करता है। आत्मा का अस्तित्व जीव के रूप में रहता है। फिर उन लोगों में असंख्य प्रकृति-जीवात्मा, पहाड़ों की जीवात्मा, झरनों, जंगलों की जीवात्मा एवं हानिकारक एवं दण्डात्मक जीवात्मा का दल रहता है। वारलिस (व महाराष्ट्र सेंसस ऑफिस, १९७२ : ४२) जीवात्माओं से बहुत भय खाते हैं। जब कोई बीमार पड़ जाता है या कोई दुःखद घटना घट जाती है तब वे इसका कारण किसी देवता का क्रोध, किसी जीवात्मा का काम या किसी डायन का दुष्कृत्य मानते हैं। वीर उनका कुल देवता है। ठाकुर (छापेकर, १९६० : ६७) में भी वीर है जो उनकी पैतृक जीवात्मा है।

दक्षिण भारत में केरल के मलय एवं आर्य कुछ पत्थरों को अपने देवताओं का प्रतीक मानते हैं। उनका पूर्वज, उनके परिवार की रक्षा करता है। नीलगिरि का टोड पूर्वजों की पूजा में भी विश्वास करता है। वे लोग दो मृत्यु-अनुष्ठान मानते हैं—एक हरा एवं दूसरा सूखा[1]। मृतक की जीवात्मा के साथ रहने एवं उसका साथ देने के लिए वे लोग भैंस को पीटकर मार देते हैं। टोडा, मुथुवान, पलियम एवं उलातान आदि किसी खास स्थानीय पहाड़ी या दूसरी भयप्रद प्राकृतिक वस्तुओं को जीवात्माओं के निमित्त अर्पित करते हैं।

बोंगावाद (बोंगाइज्म)

मजुमदार जनजातियों के जैविक विश्वासों को अहितकारी जीवात्मा एवं शक्तियों में विश्वास के रूप में मानते हैं जो मनुष्यों की नियति को प्रभावित करता है। वे आदिम लोगों में धर्म (जीववाद) के केवल इस रूप के विचार को बहिष्कृत करते हुए विचार के दूसरे रूप के बारे में सलाह देते हैं। उनका कहना है कि भारत में जनजातीय धर्म बोंगावाद के सिद्धान्त पर आधारित है लेकिन उन्होंने इसका प्रतिपादन आदिम धर्म के मूल के बारे मे कोई परिकल्पना बनाने के विचार से नहीं किया। परंतु उन्होंने अनुभव

---

१. जनजातीय भारत में हम लोग एक से अधिक अनुष्ठान पाते हैं, जैसे मृत्यु-संबंधी संस्कार में। हो, उरांव, मुण्डा, सवरा, गदबा, टोडा आदि प्रथम मृत्यु-अनुष्ठान जलाने के समय और दूसरा अनुष्ठान अंतिम शांति या मृतक की मुक्ति के लिये मानते हैं। अंतिम अनुष्ठान अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। टोडा में दो तरह के अनुष्ठान हैं—पहला पच्चाई बाबु (कच्चा या हरा दाह) जो जलाने के समय होता है और दूसरा, जिसे वरयकाल (सूखा दाह-संस्कार) कहते हैं और जो हिन्दू प्रथा के काकबली की तरह है (नाम्बियार, १९६५ : ६६-६७)।

१२

किया कि हो, मुण्डा एवं छोटा नागपुर की दूसरी जनजातियों में धार्मिक विश्वास उनके बोंगाओं के एक खास पुंज मे दृढ़ विश्वास का पर्याप्त संकेत है। भारत का बोंगा मेला-नेशिया के माना के समानान्तर है।

हो लोग बोंगा को एक शक्ति मानते हैं जो सर्वत्र विराजमान है। यह अनिश्चित एवं व्यक्तित्वहीन है। अत: यह विश्वास किया जाता है कि यह कोई भी रूप या आकार ले सकता है। यह शक्ति सभी पशुओ एवं पौधो को जीवन प्रदान करती है। यह पौधे को बढ़ने मे उत्साहित करती है, यह वर्षा करती है, आँधी, ओला, बाढ़ और ठंडक लाती है। यह बुराइयो का विनाश करती है, महामारी को रोकती है, रोगो को ठीक करती है, नदियों मे धारा प्रवाहित करती है, सर्पों को विष एवं बाघों, भालुओ एवं लोमडियो को शक्ति देती है। शक्ति का अस्पष्ट विचार बाद मे स्वय प्रमाणित करता है एवं वस्तुओ या उसी वातावरण की वस्तुओ के रूप मे पहचाना जाता है, जैसा पिछले आदिम मनुष्य के द्वारा वह अपना एक अश समझा जाता था (मजुमदार १९५०, २७८)। उनके मतानुसार बोंगा या माना या व्यक्तित्वहीन जीवात्मा प्रत्येक जगह आदिम धर्म का आधार बनता है। मजुमदार के हो पर अध्ययन से पता चलता है कि जब कभी एक बच्चे मे उत्सुकता किसी यत्र, जैसे साइकिल, रेल इजन, हवाई जहाज आदि के द्वारा पैदा होती है तब इस उत्सुकता की सतुष्टि इसे बोंगा कहकर की जाती है। वे लोग बोंगा के बारे मे इस तरह कहते हैं जैसे उनकी जनजाति और परिवार के किसी भी सदस्य ने उसको कभी देखा नही है और न देखने की कोशिश की है। केवल बोंगा का उल्लेख ही उनकी प्रतिक्रियाओ की पूर्ति के लिए यथेच्छ है।

विद्यार्थी (१९६३ : १४१) के अनुसार मालेर मे प्रत्येक बच्चे, वयस्क एव बूढ़े, प्रत्येक सामान्य पुरुष एवं विशेषज्ञ के मस्तिष्क मे जीवात्मा एव अलौकिक ससार के बारे में एक प्रकार की धारणा है, जिसे वे लोग एक सामान्य शब्द 'गोसाईं' से व्यक्त करते हैं। प्रारंभ से ही मालेरं के बच्चो मे गोसाई के बारे मे शिक्षा दी जाती है। गोसाई एक घरेलू शब्द है एव जीवात्माओं के एक समूह को बतलाने के लिए इसका व्यवहार किया जाता है। जैसा विश्वास किया जाता है, वह उनकी नियति को राह दिखाता है। राय (१९६७) उसी प्रकार से बिरहोर में बीर की पूजा पाते हैं। बिरहोर मे विभिन्न उद्देश्यों के लिए उत्तरदायी अनेक बीर हैं। सबसे बड़ा हनुमान बीर है। दूसरे बीर हैं—हन्कर बीर, बाघ बीर, भाल बीर, सुन्दर बीर एव बीरों के पुत्र आदि। बीर की पूजा सर्वव्यापी है एवं सब के लिए प्रभावशाली है। बीर बिरहोर की रक्षा अनेक प्रकार से करते हैं। बटल (१९६८) के अनुसार वास्तव में भेरू माना-शक्ति के रूप में कार्य करता है। भेरू की मूर्ति मूलत: मेवाड़ में है एवं इसकी पूजा तथा धार्मिक क्रियाएँ सार्वजनिक हृदय अर्थात् अनेक

पड़ोसी ग्रामों को जोड़ने में सबसे अधिक प्रभावशाली रेखा का काम करती है। वास्तव में, सिंदूर लगा कोई पत्थर एवं न पहचाने जानेवाले देवता को लोगों द्वारा किसी प्रकार का भेंट डाला जायगा। प्रत्येक ग्रामीण के धार्मिक अनुभव के अनुसार सामूहिक दृष्टिकोण को बिना विचारे हुए प्रत्येक को भेंट के प्रति श्रद्धा एवं भय है।

प्रकृतिवाद (नैच्युरैलिज्म)

प्रकृति की पूजा एक दूसरे प्रकार के विश्वास से भी सबद्ध है जो जनजातियों में पायी जाती है। सूर्य, चंद्रमा एवं पृथ्वी या तो रचयिता या सर्वशक्तिमान समझे जाते हैं।

मध्य भारत में बिहार के संथाल, मुण्डा, हो, खालेर एवं बिरहोर सूर्य को सिंगबोंगा अर्थात् सबसे बड़ा ईश्वर समझते हैं। संथाल लोग सबसे बड़े देवता धर्मेश को सूर्य जैसा मानते हैं और धर्मी माता या पृथ्वी माता का पति समझते हैं। माल पहाड़िया में सूर्य (बेरू) एवं पृथ्वी (धरती) देवता हैं। पश्चिम बंगाल के भूमिज सूर्य भगवान् के समक्ष सिर नवाते हैं। पृथ्वी, सूर्य, अग्नि एवं जल के देव सबसे बड़े अलौकिक पुरुष हैं, जैसा उड़ीसा के खोंड विश्वास करते हैं। उनके लिए सूर्य रचयिता हैं। इस क्षेत्र के सओरा का विश्वास है कि मनुष्य सूर्य द्वारा ही रचा गया है और जुआंग इसके लिए पृथ्वी को उत्तरदायी ठहराता है। प्रत्येक नवान्न त्योहार के अवसर पर वे पृथ्वी देवी को सामग्री अर्पित करते हैं। सूर्य उनका धर्म-देवता है—सबसे बड़ा ईश्वर है। समस्त कंधाओं द्वारा पृथ्वी देवी, धरमराजा बेहरा एवं सूर्य की पूजा की जाती है। डोंगरिया कोंड मिहोनी पर्व को मनाते हैं एवं कुल्हाड़ी से मारकर भैंसों की बलि देते हैं। उन लोगों का विश्वास है कि धरती माता के वक्ष पर बहे हुए खून से फसल अच्छी होती है। कुटिया कोंड धरती देवी के लिए भैंस की बलि तीक्ष्ण कुल्हाड़ी से सिर काटकर देते हैं। सवराओं के लिए यूयूंगसुम अर्थात् सूर्य भगवान् सबसे बड़े देवता हैं परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि वह देवगिरि पर रहने वाले पहाड़ी देवता कुरयसुंग से बड़े हैं या नहीं। अंगयबोई अर्थात् चंद्रमा यूयूंगसुम की पत्नी है एवं तारे तथा ग्रह उनके बच्चे हैं। मारियाओं के लिए पृथ्वी देवी ही सब कुछ है। बस्तर क्षेत्र के मुरिया एवं अबूझ मारिया का विश्वास है कि सभी जीवन का मूल स्रोत धरती माता है जो अपने मरिया बच्चों को खिलाती और उनका पालन करती है। उसने प्रत्येक गोत्र को जमीन दी है एवं उसके दायरे को निश्चित किया है। हिमालय क्षेत्र के मारों का विचार है कि सूर्य, चाँद और तारे क्षेत्र पर शासन करने के लिए स्वर्ग में रखी हुई जीवात्माएँ हैं। पृथ्वी के विषय में कछारियों का विश्वास लगभग मारों जैसा है। अरुणाचल प्रदेश की विभिन्न जनजातियाँ सूर्य एवं चाँद की पूजा सबसे बड़े ईश्वर के रूप में करती हैं।

दक्षिण भारत में टोग एवं कोया सूर्य के प्रति श्रद्धा रखते हैं । केरल के मुथुवान, उराली एवं कनिक्कर सूर्य को अपना भगवान् मानते हैं एवं प्रकृति अवरम में विश्वास करते हैं । मुथुवान सूर्य की पूजा प्रातःकाल किया करते हैं । उराली सूर्य को रचयिता मानते हैं एवं कनिक्कर सूर्य को भगवान् समझते हैं । वे अपनी झोपड़ियों के समक्ष कुछ फल एवं चावल रखकर जलता हुआ दीप अर्पित करते हैं ।

टोटेमवाद (टोटेमिज्म)

प्रकृति के अतिरिक्त जनजातीय लोगों ने टोटेम के रूप में पौधों और पशुओं से अपने को संबद्ध किया है । भारतीय जनजातियों के लिए टोटेमवाद एक सामान्य विशेषता है । उनमें से अधिकतर पशुओं के अतिरिक्त पौधों के साथ अपने रहस्यात्मक संबंध में विश्वास करते हैं । हो के लिए खिल्ली उनका गोत्र है एवं प्रत्येक गोत्र के टोटेम से संबंधित एक वस्तु है जो उनके लिए पवित्र है । मुण्डाओं एव उराँवो मे भी टोटेमवादी गोत्र हैं । संथाल एव खड़ियाओं मे भी गोत्र हैं जो या तो पौधों या पशुओं या भौतिक वस्तुओं के नाम से जाने जाते हैं । सभी जनजातियों मे ऐसा विश्वास है कि टोटेम-सबंधित पौधों या पशुओं ने उनके गोत्र के पूर्वजों की रक्षा और सहायता की है या उनका कुछ उपयोग हुआ है । वे लोग अपनी टोटेम वस्तु को श्रद्धा की दृष्टि से देखते है और उसे नष्ट नही करते । वे लोग न तो उसका फल खाते हैं और न फूल । यदि टोटेम-सबंधित वस्तु बीमारी की अवस्था मे पायी जाती है तो वे लोग उसकी सेवा करते है और उसको मुक्त छोड़ देते हैं । मरे हुए टोटेम-संबंधी रश्ते बहिर्विवाह का बंधन कायम करते हैं ।

टोटेम-संबंधी पौधे या पशु को धार्मिक दृष्टिकोण से श्रद्धा की दृष्टि से देखनेवाली जनजातियों में से मध्य प्रदेश के भील एव गोंड, राजस्थान के मीना एव भीलाला और महाराष्ट्र के करकारी का उल्लेख किया जा सकता है । केरल की कुछ जनजातियाँ टोटेम-वाद को अनेक प्रथाओं और विश्वासों का आधार मानती हैं ।

वर्जना (टैबू)

वर्जना दूसरे प्रकार का धार्मिक विश्वास है जो किसी विश्वास की एक नकारात्मक प्रथा है । लोगों के लिए वर्जना अंधविश्वास बन गया है । कुछ लोग वर्जना को पवित्र-त्रास मानते हैं जिसके अनुसार वर्जित वस्तु में दानवी शक्ति छिपी रहती है । मजुमदार (१९६१ · ३५७, ६२) वर्जना के धार्मिक पक्ष पर विचार करते हैं और उसे धार्मिक पुरुषों तथा पूजा के स्थानों की रक्षा की वस्तु मानते है । वह अधर्म को फैलने से रोकती है । उनके मतानुसार बोंगा के विचार द्वारा वर्जना की पवित्रता प्रेरित होती है । जनजातीय लोगों का विश्वास है कि वर्जना का उल्लंघन करने से जनजातीय लोगों पर कोई भयानक विपत्ति आ सकती है ।

खड़िया जनजाति की स्त्रियों के लिए हल और घर को छूना वर्जित है। यद्यपि स्त्रियों के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाता है और उनको टहलुआ नहीं समझा जाता, फिर भी, उन लोगों को कुछ अवसरों पर अलग रखा जाता है (राय, १९३७ : १२०)। कुछ खास धार्मिक त्योहारों और अनुष्ठानों के अवसरों पर खड़िया स्त्रियों की उपस्थिति उनके मासिक धर्म के समय उचित नहीं समझी जाती। इसका अर्थ यह नहीं कि स्त्रियों को हेय दृष्टि से देखा जाता है वरन् खड़िया पुरुष ऐसा विश्वास करते हैं कि मासिक धर्म के समय स्त्रियों का खून दुष्ट जीवात्माओं को आकर्षित करता है। उरांव में भी स्त्रियाँ हल को नहीं स्पर्श करतीं। यदि इन वर्जनाओं का उल्लंघन किया जाता है तो उसके लिए एक पश्चात्ताप-अनुष्ठान संपन्न करना पड़ता है। मध्य प्रदेश का गोंड मासिक धर्मवाली स्त्री को नहीं छूता क्योंकि ऐसा होने पर अच्छी फसल नष्ट हो जाती है।

सेमानागा में शब्द गेन्ना[1], टैबू (वर्जना) और शब्द चिनी निषिद्ध के समानान्तर हैं। शेर के द्वारा मारा हुआ व्यक्ति गेन्ना है। उसके कपड़े, मकान, औजार, उपकरण और बर्तन आदि सारी वस्तुएँ उन लोगों के लिए गेन्ना बन जाती हैं। वे लोग उनके प्रभाव से बचने के लिए शान्ति का उपाय करते हैं। उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र के पुरुष थारू को बहुत सी प्रधान स्वीकृतियाँ नहीं दी जाती हैं। ऐसा न करने से कानून का उल्लंघन समाज को दैवी प्रकोप के प्रभाव में ला सकता है। दूसरी ओर, नीलगिरि पर्वत के टोडा अपनी स्त्रियों को खटाल के क्षेत्र में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं देते। उन लोगों से दूध से सम्बन्धित कोई काम नहीं लिया जाता। वे दूध को पवित्र वस्तु मानते हैं। मालेर के मकई और उनके धार्मिक अनुष्ठान इसी वस्तु की ओर केन्द्रित रहते हैं। केरल में कदार, मालापन्दरम, माला-वेन्दन एवं युराली लोगों का विश्वास है कि जब वे जंगल में घूमते हैं तो उनका प्रतिनिधित्व शस्त्र के द्वारा होता है और ऐसी अवस्था में उन्हें शुद्ध होना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि वर्जनाओं के रूप में भी धार्मिक विश्वासों का अस्तित्व है। दूसरे शब्दों में, जनजातीय विश्वास वर्जनाओं द्वारा प्रबल किये जाते हैं।

---

1. 'गेन्ना' शब्द दोनों सेमा शब्द 'चिनी' एवं 'मिनी' को ढाँकने के लिए मूल रूप से व्यवहार किया जाता है। 'चिनी' वर्जित है एवं टैबू की तरह व्यवहृत होता है। अतः एक मनुष्य कह सकता है कि वह 'चिनी' है जिसका तात्पर्य होता है कि वह अभ्यागतों या किसी के साथ थोड़े समय के लिए भी बोलने में असमर्थ है या उसका किसी के द्वारा संबोधित किया जाना वर्जित है। यह शब्द उन कार्यों के लिए कभी-कभी स्वच्छंद रूप से व्यवहृत होता है जिन्हें किया नहीं जाना चाहिए। 'मिनी' का तात्पर्य सिर्फ उस निषेध से है जिसके कारण खेत में कार्य करना और खेत में जाना मना है (हट्टन, १९२१ : २३०)।

जादू (मैजिक)

जनजातीय आयाम में जादू धर्म का एक अभिन्न अंग है। ऐसा कहा जाता है, जादू धर्म के बराबर महत्त्व रखता है। अशुभ प्राकृतिक घटना, अपर्याप्त तकनीकी साधन और अनिश्चितता एवं खतरे से पूर्ण वातावरण उन लोगों को जादुई प्रथाओं में विश्वास कराता है। यह किसी-न-किसी रूप में भारत की जनजातियों की सामान्य विशेषता है। मजुमदार ने मुण्डाओं द्वारा अच्छी वर्षा के लिए पत्थर को लुढ़काकर या हो द्वारा धुंआँ उत्पन्न करने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। मुण्डा जनजाति के लोग पहाड़ की चोटी पर जाकर सभी आकार के पत्थरों को नीचे की ओर फेंकते हैं जिससे पत्थर की गड़गड़ाहट, बिजली की गड़गड़ाहट से मिले। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से वर्षा होती है।

हो लकड़ियों के गट्ठर धुआँ उड़ाने के लिए जलाते हैं जो गाँव के ऊपर छा जाता है। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से वर्षा निश्चित रूप से होगी। खोंड लोग वर्षा के लिए मनुष्य के बलिदान में विश्वास करते हैं। उनका विश्वास है कि जिस तरह कष्ट सहनेवाले की आँख से आँसू नीचे गिरता है एवं जिस तरह उसके जख्म से खून बाहर निकलता है, उसी तरह वर्षा होगी। कोरवा लोग बीमार पुरुष को लोहे की सिकड़ी से पीटते हैं और उसको अच्छा करने के लिए उसके नाक में जलती हुई बत्ती डालते हैं। जब उड़ीसा का एक कुट्टिया बच्चा पहले पहल गंभीर रूप से बीमार पड़ता है तो लोग उसी समय को बच्चे का नामकरण-अनुष्ठान संपन्न करने का समय समझते हैं। वैद्य जादुई कृत्य संपन्न करने के लिए बुलाया जाता है एवं यह निर्णय करता है कि इस अनुष्ठान के समय किस प्रकार के पशु का बलिदान किया जाना चाहिये। जिस औजार का बच्चे की नाभि काटने के लिए व्यवहार किया जाता है, उसको बलिदान दिए जाने वाले पशु के खून में डुबाया जाता है जिसके कारण औजार खून से लथपथ हो जाता है और बच्चे के लिए सँजोयी संपत्ति के रूप में सुरक्षित रखा जाता है।

छिंदवाड़ा क्षेत्र के कामर एवं मुजिआ सर्वप्रथम अपने प्रेमी के कुछ वस्त्र, केश या उसके उपयोग की व्यक्तिगत वस्तुओं को प्राप्त कर और उसपर जादू करके अधिकार पाते हैं। जनजातियाँ पूरे तौर पर या आंशिक तौर पर जादू का काम करनेवालों को रखती हैं। हो एवं कुट्टिया में गाँव का पुजारी एक विशेष अवसर के लिए जादूगर होता है। हिमालय की थारू औरतें जादू कला में प्रवीण होती हैं, साथ ही साथ उतर देने में भी। जौनसार बावर के खासा (मजुमदार, १९६२ : २५४) बोने के पूर्व फसल के बढ़ने के समय और कटनी के तुरंत बाद नंगे होकर नाचते हैं। पहले यदि वर्षा नहीं होती तो वे लोग बेदवार्त का प्रयोग करते हैं अर्थात् असमान ऊँचाई की दो चोटियों से

चिकनी रस्सी को बाँधकर और उससे चिपककर बहुत वेग के साथ फिसलते हैं। यदि संयोग-वश नीचे के किनारे पर उनकी रस्सी की पकड़ छूट जाती तो वह उनके लिए प्राण-घातक होता था। एक समय नागा लोग सिर का शिकार करते थे क्योंकि पृथ्वी देवी को आदमी का बलिदान देकर वे अच्छी फसल की आशा करते थे। सामयिक वर्षा लोगों को जादू में विश्वास कराती है।

केरल के नायान्द, पनियान, उल्लादान, ओदियान में जादूगर कत्ल करने के लिए अपने को या दूसरे को प्रयुक्त कर सकता है। उन लोगों का विश्वास है कि जादू गुप्त शक्तियों के व्यवहार में प्रभावशाली होता है। मन्त्रावादी एवं ओदियान पूर्ण रूप से जादूगर होते हैं।

दूबे (१९७० : २८८) ने जनजातियों में उपस्थित जादू में विश्वास का विश्लेषण किया है। वे लोग उसकी अदृश्य शक्ति में दृढ़ विश्वास करते हैं जो महामारी पर नियंत्रण, वर्षा करने एवं बीमार पुरुष आदि को ठीक करने में सहायता करती है। भारत में जन-जातीय विचार जादुई विश्वासों एवं जादुई कल्पनाओं से परिपूर्ण हैं। जादू एवं धर्म में अन्तर दिखाने के पुराने तरीके का बहिष्कार जादुई-धार्मिक व्यवहारों के आधार पर, जिसे जनजाति के लोग करते हैं, किया जा सकता है।

पूर्वजपूजा (ऐनसेस्टर वर्शिप)

जनजातियों के लिए पूर्वजों की क्रियाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनके धार्मिक विश्वासों में पूर्वज-पूजा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे लोग इस बात से सहमत हैं कि एक मनुष्य की शक्ति एवं पहुँच नियंत्रित एवं सीमित दायरे तक है लेकिन पूर्वज-पूजा के द्वारा वह उस अलभ्य शक्ति को प्राप्त कर लेता है। वे लोग पूर्वजों के अस्तित्व, उनकी रुचि एवं सांसा-रिक क्रियाओं मे उनके प्रवेश मे विश्वास रखते है। पूर्वज उनकी वास्तविक जिंदगी में क्रियाशील हैं। दूबे (१९७०) एवं विद्यार्थी (१९६३, १४४) पूर्वज-पूजा को जनजातीय धर्म का एक महत्त्वपूर्ण पहलू मानते हैं। जनजातियो का दृढ विश्वास है कि मृतक पूर्वजों को उनकी नियति के बारे में निर्णय करने की शक्ति है; वे लोग सारे अनुष्ठान सावधानीपूर्वक संपन्न करते एवं पूजा करने में बहुत सतर्क रहते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि नया मृतक अपने पूर्व के मृत पूर्वजों में मिल जाता है। पूर्वजों की जीवात्माओं को पुकारा जाता एवं उनकी पूजा (१) वर्ष में, (२) अवसर आने पर या (३) जब कोई धार्मिक रूप से पूजा करने के लिए तैयार रहता है, उस समय की जाती है। जनजातियों का ऐसा विश्वास है कि जब तक मृत पूर्वज की पूजा नहीं की जाती तब तक वह स्वप्न देता है एवं घूमता रहता है। वह अपने संबंधियों को पूजा की तैयारी, एवं मृत्यु-संस्कार के लिए बलिदान

एवं भोज को संपन्न करने के लिए परेशान करता रहता है। हिमालय की जनजातियों में, जैसे नागाओं में, मिथुन त्योहार बहुत महत्त्वपूर्ण है जो पूर्ण रूप से पूर्वजों की जीवात्माओं को समर्पित किया जाता है। मृतक की संतुष्टि एवं अपनी उन्नति के लिये मृत पूर्वज के नाम से एक मिथुन की बलि दी जाती है। मिजोरम के मिजों का विचार है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसकी जीवात्मा रिह झील की ओर जाती है। जो कुछ भी हो, यह शीघ्र ही लौट आती है और उसके उपरांत अपने गृह या ग्राम के निकट लगभग तीन महीने तक निवास करती है। अतः ऐसी प्रथा है कि जब शोक-संतप्त परिवार के सदस्य भोजन करने के लिए बैठते हैं तो वे एक स्थान खाली छोड़ देते हैं या पूर्वज जीवात्मा के लिए गृह के मुख्य प्रवेश-द्वार पर कुछ पका हुआ भोजन रख देते हैं। तीन महीने के उपरांत जीवात्मा को विदाई देने के लिए दूर भेजने का अनुष्ठान किया जाता है। जब जीवात्मा को यह विदित हो जाता है कि उसकी आवश्यकता उसके परिवार को नहीं रह गयी तो वह मृतक पुरुष के निवास-स्थान मिथिकुआ की ओर प्रस्थान करती है जहाँ से आत्मा अपनी अच्छाई के कारण परमानन्दपूर्ण स्थान पैलरल मेप्रवेश कर लेती है। जिन लोगो को पावला, पैलरल का अमर दरवान अपने धनुष से मारता है, वे लोग पैलरल मे प्रवेश नहीं कर सकते लेकिन उन लोगो को मिथिकुआ मे रहने के लिए आदेश दिया जाता है। गारो अपने पूर्वजो के लिए अधिक श्रद्धा प्रकट करते है। वे लोग मनुष्य मे जीवात्माओ की सत्ता पर विश्वास करते है जो मृत्यु के उपरान्त पुनः अवतरण के पूर्व दूसरे क्षेत्र मे समय व्यतीत करती है। पुण्यमय जीवन के लिए सबसे बड़ा पुरस्कार उसी माचोंग मे पुनः पैदा होना है जो हिन्दू अध्यात्म विज्ञान की योनि के समानान्तर है। जयन्तिया के बीच प्रचलित विश्वास के अनुसार जब परिवार मे कोई बीमारी आती है तो उसे भगाने मे मदद के लिए पूर्वजो की प्रार्थना की जाती है। खासी लोगों मे मृतक का पूर्वज-पूजा के रूप मे सम्मान उनके धार्मिक विश्वासो का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस विश्वास के अनुसार मृत पूर्वज अलौकिक पुरुष हो जाते हैं और उनमे अपने वंशजो की उन्नति में सहायता करने और वरदान देने की शक्ति आ जाती है।

केन्द्रीय हिमालय के थारू अपने पूर्वजो को दीपावली के दिन प्रत्येक वर्ष रोटी अर्पित करते हैं। खासाओ मे दूसरे देवताओ एवं देवियों की अपेक्षा अपनी पूर्वजों की जीवात्माओ से अधिक लगाव पाया जाता है।

मध्य भारत मे संथाल परगना के मालेरों में उनकी पूर्वज-जीवात्मा उनके मृत संबंधियो की जीवात्मा होती है। प्रारंभ में मृतक की जीवात्मा निश्चित रूप से उन लोगों के लिए भय का स्रोत बन जाती है जो दाह के पाँचवें दिन दिये जानेवाले प्रथम भोज तक बनी रहती है। बाद में मालेर इन पूर्वज-जीवात्माओं को लाभकारी जीवात्मा मानता

है। भोज-अनुष्ठान औपचारिक बलिदान के साथ किया जाता है। कारा गुआर, अर्थात् भैंसों की पूजा अधिक पसंद की जाती है। सामूहिक भोज एवं मृतक की जीवात्मा के द्वारा चाही हुई प्रत्येक वस्तु देमानो की सहायता से उसे प्रसन्न करने के लिए दी जाती है। वे लोग सोचते हैं कि देमानो के मुख से निकला प्रत्येक शब्द सीधे मृत पूर्वज के मुख से निकलता है। प्रायः बन्दना त्योहार पर या कटनी के उपरान्त मृतक को भेंट चढ़ाई जाती है। मालेर का सोचना है कि पूर्वज-जीवात्माएँ सूर्य देवता बेरो गोसँइया की ओर लौट जाती हैं जब वे उनके द्वारा चढ़ायी भेंट से संतुष्ट हो जाती हैं। संथाल लोग अपने कल्याण के लिये अपने पूर्वज की जीवात्मा हपरामु पर आश्रित रहते हैं। किसी भी तरह की विपत्ति के लिए पूर्वज की जीवात्मा को उत्तरदायी ठहराया जाता है एवं उसको शांत करने के लिए पूजा की आवश्यकता होती है। उम्बुल-अदेर अनुष्ठान की पवित्रीकरण पूजा के उपरान्त मुण्डा लोग अपने पूर्वज की जीवात्माओं को अदिंग (रसोईघर) में स्थान देते हैं। फिर साल में एक बार जांग-तोपा अनुष्ठान मनाया जाता है, अर्थात् मृतकों की हड्डियों को जमा किया जाता है। इसी तरह का अनुष्ठान हो एवं उराँव में भी प्रचलित है जो क्रम से 'जनटोपा' एवं 'हरबोरी' के नाम से जाना जाता है। इस अवसर को हो लोग जीवात्मा का सर्वशक्तिमान बोंगा के साथ मिलन का अवसर मानते हैं परंतु उराँव लोग विश्वास करते हैं कि जीवात्मा जमीन के अंदर जाती है जहाँ हड्डियों के अवशेष को कुन्दी या हड्डी के दफनाने की जगह गाड़ा जाता है। खड़ियाओं में ऐसा विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति की दो आत्माएँ होती हैं—'जिओम' एवं 'लोगोए'। मृत्यु के उपरांत जिओम पूर्वजों में मिल जाती है जब कि लोगोए अपने पहलेवाले गृहों में रहने के लिए चली जाती है जो संतानों द्वारा बनाये जाते हैं।

उड़ीसा के गदबा एवं करजा द्वारा मनाये जानेवाले गोत-अनुष्ठान एवं सवरा (एल्विन, १९५५ : ३५८) द्वारा मनाया जानेवाला गुआर अनुष्ठान, जिसमें भैंसों की बलि दी जाती है, पूर्वजों में उनके दृढ़ विश्वास के सूचक हैं। ये अनुष्ठान अधिक खर्चीले होते हैं। इन अनुष्ठानों के कारण जीवात्माएँ अनदेखे संसार में प्रवेश करने योग्य हो जाती एवं पूर्वजों के पद पर आसीन होने लायक बन जाती हैं। मृतक के संबंधी अपने दुर्भाग्य का श्रेय विद्वेषी जीवात्माओं की दुष्टता को देते हैं जो उन लोगों को कष्ट पहुँचाती हैं। जो कुछ भी हो, एक बार अनदेखे संसार में स्थापित हो जाने पर वे सब कृपालु हो जाती हैं। कोरापुट के पहाड़ी बोंडो इस अवसर पर भैंस की बलि देना आवश्यक मानते हैं। उन लोगों में विश्वास है कि एक मृत व्यक्ति सान्त्वना से परे होकर तब तक अपने पड़ोस के खेत में बेचैनी के साथ भटकता रहता है और अपनी संतानों को विपत्ति में डालता रहता है जब तक उसके नाम से एक पत्थर खड़ा नहीं किया जाता और भैंस की बलि नहीं दी जाती। उसके

उपरान्त ही वह जीवात्मा के निवास-स्थान मे प्रवेश कर सकता है। आदिम बोंडो में अलग हुई आत्मा के लिए एक नियत कोठरी होती है। वे लोग मनुष्य की अमरता में विश्वास करते हुए अलग हुई आत्मा के लिए बड़े पैमाने पर पूजा करते हैं। मृत्यु के उपरान्त मृतक की आत्मा को कायम रखना उनका कर्तव्य हो जाता है। ज्यों ही कोई बच्चा पैदा लेता है, वे लोग बच्चे के शरीर पर जन्म-चिह्न की खोज उत्सुकता से करते हैं कि उनके पूर्वजो मे से किसने पुनः जन्म लिया है। मुरिया गोंड के लिए दिवंगत आत्मा की पूजा धर्म का मुख्य अंग है। प्रत्येक मुरिया के घर में अनाज की टोकरियों में दिवगत आत्मा के लिए एक बर्तन रखा रहता है जिसको वे लोग पूरी जिन्दगी भर प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अवसर पर अर्पित करते रहते हैं। छत्तीसगढ की जनजातियो, जैसे अगात, भुजिया, घूर कामर एव ओडिया गोंड मे भी पूर्वज-पूजा प्रचलित है। वे लोग भी अपने पूर्वजो की जीवात्माओ को घर में स्थापित करते हैं एव पूरी जिन्दगी भर महत्त्वपूर्ण एव विभिन्न अवसरो पर उनको भेंट अर्पित करते रहते हैं। जब वे लोग दूसरे देवताओ एव देवियो की पूजा करते हैं उस समय अपने पूर्वजों का भी आह्वान करते है। शाहाबाद के गोंड पचपीरी को सतुष्ट करते हैं। जन्म, शादी एवं महामारी के अवसर पर वे पितरो को सतुष्ट करते हैं। पूजा उनके परिवार को प्रसन्न रखती है।

मध्य प्रदेश एव पश्चिम भारत के भीलो में भी अपने पूर्वजो के प्रति दृढ भावना है। आवर्ती पूजा के बावजूद, पूर्वजो की पूजा भीलो के त्योहारो से निकट रूप से संबंधित है। मीना अपने गाँव के निर्माण-कर्त्ता की भी पूजा करते हैं। दीवाली के दूसरे दिन वे लोग अपने पूर्वजो का श्राद्ध करते हैं। श्राद्ध उनके लिए अत्यावश्यक है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् तिमाही, छःमाही एवं सालाना आधार पर दावत दी जाती है। वे लोग पिड-दान मे भी विश्वास करते है। नाट श्राद्ध मे विश्वास करते है एवं कावेलिया साल मे छः महीने अपने पूर्वजो को सतुष्ट रखने के लिए दावत देते हैं। गडुलिया लोहार हिन्दू मे प्रचलित आत्मा एवं पुनर्जन्म जैसा विश्वास करते है। परजन अनुष्ठान के अवसर पर गुजरात के धान्का, नैका और कुकाउ, सभी दिवगत आत्माओं को संतुष्ट करने में विश्वास रखते हैं।

दक्षिण भारत के टोडा में एक आत्मा की धारणा है जो किसी व्यक्ति की मृत्यु के उपरांत शीघ्र ही शरीर से अलग हो जाती है। दाह के समय प्रायः एक या दो भैंसों को छडी से पीट पीटकर बलि दी जाती है। उनका विश्वास है कि पृथ्वी पर रात होने के बाद सूर्य के चमकने के स्थान पर यह दूसरे जगत् में रहनेवाली जीवात्माओ से मिलेगी। सभी अनुष्ठानो, अवसरों एव पूजाओं के अवसर पर कदार अपने पूर्वजो की जीवात्माओं के आशीर्वाद पाने के लिए पूजा करते हैं। आत्मा सूखे दाह तक इस पृथ्वी पर मँडराती रहती

है अतः भैंसों की बलि एवं संबंधियों को दावत फिर दी जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि त्योहार के अवसर पर प्रज्वलित बत्ती पूर्वजों का आह्वान करती है और उनका आशीर्वाद प्राप्त कराती है। केरल के कनिक्कर, करिमपालाना, कोरगा एवं पनियन पूर्वजों की जीवात्माओं को देवता मानते हैं।

उड़ीसा के सबराओं में मृत्यु-संस्कार पेचीदा, विस्तृत एवं महत्वपूर्ण होता है क्योंकि उनके उचित कृत्य मृतक की अवस्था पर निर्भर करते हैं। यहाँ इसके विस्तृत वर्णन की आवश्यकता है। उनमें प्रचलित विश्वास के अनुसार मृत्यु होने पर आत्मा पहले छाया में बदल जाती है और उसके बाद पूर्वज हो जाती है। एल्विन (१९५५, ३४०) ने मृत्यु-संस्कार एवं पूर्वज-पूजा से संबंधित अनेक अनुष्ठानों का उल्लेख किया है। उनके मुख्य अनुष्ठानों को नीचे संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है:

१. प्रथम दिन चिता को अनावृत कर दाह किया जाता है और हड्डियों एवं राख को 'लिम्मा' अनुष्ठान, जो बलिदान एवं शकुन का अनुष्ठान है, के बाद गाड़ा जाता है। दूसरे या तीसरे दिन दावत दी जाती है। लिम्मा के उपरान्त जहाँ हड्डियाँ और राख गाड़ी जाती हैं उसके ऊपर एक छोटी झोपड़ी बनायी जाती है।

२. बाद में, कुछ महीनों से लेकर अनेक वर्षों तक किसी समय 'गुआर' अनुष्ठान किया जाता है। इसमें एक भैंस की बलि दी जाती है और दीर्घ स्तंभ खड़ा किया जाता है जिसकी सहायता से आत्मा छाया से पूर्वज में बदल जाती है।

३. गुआर अनुष्ठान के पूर्व या उपरान्त 'सिकुन्दा' संस्कार अनियमित रूप से अनेक लोगों के मरने पर गाँव के अनेक परिवारों मे किया जाता है। यह छायाओं को अधोलोक में जाने की अनुमति नही देता। केवल गुआर के द्वारा ही ऐसा हो सकता है, लेकिन इससे आत्माओं को प्रोत्साहन एव सांत्वना मिलती है।

४. प्रत्येक दूसरे या तीसरे वर्ष 'करजा' नामक एक बड़ा अनुष्ठान उन सभी लोगों के लिए सम्पन्न किया जाता है जो करजा-पूर्व मरते हैं। करजा की मुख्य विशेषता यह है इस अवसर पर असंख्य भैंसो को काटा जाता है। यह पूरे गाँव के लिए किया जाता है जिसमें सभी पारिवारिक समूह सहायता करते हैं, यद्यपि प्रत्येक समूह अलग-अलग भोजन की व्यवस्था के अतिरिक्त अलग-अलग बलिदान देते हैं।

५. 'लजाप', जो एक मामूली अनुष्ठान है, अंतिम रूप से वर्षा ऋतु की समाप्ति उपरान्त बड़े पैमाने पर धान की कटनी के समय सम्पन्न किया जाता है। इससे इस बात का आभास होता है कि मृतक का कार्य अब समाप्त हो गया है। भविष्य में अच्छी फसल और मृतकों को खुश करने के लिए यह मनाया जाता है। इस संस्कार के लिए प्रत्येक

परिवार अपनी-अपनी व्यवस्था करता है एवं बलिदान अंशतः घर में एव अंशतः खेत में किया जाता है।

ऊपर उद्धृत सभी अनुष्ठानों में गुआर का सबसे अधिक महत्त्व है। यह केन्द्रीय संस्कार है जिसके चारो ओर सवरा बलिदान का विस्तृत ढाँचा बनाया जाता है (एल्विन, १९५५ : ३५८)। यह वह साधन है जिसके द्वारा तथाकथित छाया को पूर्वजों के साथ होने की आज्ञा दी जाती एवं उसे अधोलोक[1] मे जाने की स्वतंत्रता दी जाती है। यह प्रायः कुछ सप्ताहों से लेकर बहुत वर्षों तक मृत्यु के उपरात किसी भी समय सम्पन्न किया जाता है। लेकिन कुछ ग्रामों मे यह करजा से सबद्ध एवं है एक खास अवधि मे मृत सभी व्यक्तियो के लिए मनाया जाता है।

'गुआर' शब्द की उत्पत्ति 'गु', जिसका अर्थ है 'गाड़ना' या 'बीज बोना' और 'आर', जिसका-अर्थ है 'एक पत्थर', से हुई है। इससे यह पता चलता है कि एक पत्थर को गाड़ना ही इस संस्कार की प्राथमिक विशेषता है। अब इसमें भैंस की बलि एव आनुष्ठानिक उपहार के आदान-प्रदान का भी समावेश कर लिया गया है। यद्यपि गुआर का सबसे अधिक उचित समय फरवरी है, जब फसल एकत्र कर ली जाती है तथापि इसे खुले मौसम मे किसी भी समय मनाया जा सकता है। गुआर की महत्ता एवं उत्पत्ति की व्याख्या करने के लिए अनेक लोक-कथाएँ हैं। परतु सिद्धान्त यह है कि छाया भूखी रहती है एव गुआर के संपादन के पहले वह ठंढी, नग्न एवं अस्पृश्य रहती है। यह अपनी असतुष्टि, अपने परिवार के सदस्य को बीमार कर या उसके जानवरो को मारकर तब तक व्यक्त करती रहती है जब तक वे लोग अपना कर्तव्य पूरा नहीं करते। वस्तुतः इस समय छायाएँ बहुत उपद्रवी होती हैं। जब वे घर जाती है तो उनके कारण भोजन, एवं शराब पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जब तक गुआर नही किया जाता तब तक मृत पूर्वज को खुश करने का कार्य प्रारभ नही होता। गुआर अनुष्ठान मृतक के गाँव में मनाया जाना चाहिए ताकि उसके परिवार के बड़े पत्थरों के समूह में एक बड़े पत्थर को गाड़ा जा सके। प्रवासी पुरुष की अवस्था में उसका 'गुआर' अनुष्ठान दोनों जगह

---

१. सवरा ने अधोलोक की कल्पना काफी हद तक की है। यह इसी विश्व की तरह है परन्तु वहाँ हर समय चाँद को रोशनी रहती है। प्रकाश इतना धुंधला होता है कि कोई आदमी कुछ दूर पर खड़े लोगों को नहीं पहचान सकता। वहाँ के अधिकारी यम अधिष्ठाता देवता हैं एवं पूर्वज किसान हैं। चूँकि वहाँ इतनी कम रोशनी है अतः पूर्वज अधिक नहीं चल सकते। परंतु जब वे रास्ता पा जाते हैं, वे इस संसार में आते हैं एवं बहुत परेशानी करते हैं (एल्विन, १९५५ : ९९)।

घर होना चाहिए अर्थात् एक नए स्थान पर एवं दूसरा उसके गाँव में। औरत के लिए भी दो जगह गुआर अनुष्ठान मनाया जा सकता है, अर्थात् एक तो उसके पति के स्थान पर एवं दूसरा उसके माता-पिता के स्थान पर।

गुआर अनुष्ठान प्रायः बहुत दिनों के बाद होता है क्योंकि यह बहुत खर्चीला अनुष्ठान होता है और उसमें हुए आर्थिक विनिमय बड़े जटिल होते हैं। उस अवसर पर अनेक अतिथियों को भोजन कराया जाता है जिसमें अधिक मात्रा में चावल, शराब एवं मांस देना पड़ता है। चावल की समस्या तो हल हो जाती है क्योंकि हर कोई एक टोकरी में अपना-अपना चावल एवं काँसे की अँगूठी लाते हैं और एक साथ मिलाकर रखते हैं किन्तु भैसों की व्यवस्था करना कठिन होता है। एक भैंस की, जो बलिदान के लिए आवश्यक पशु है, सत्कारकर्त्ता द्वारा मृतक के लिए बलि दी जाती है। शेष आवश्यक पशु रिश्तेदारों एवं मित्रों द्वारा दिये जाते हैं। आनुष्ठानिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भैंस का सर अलग कर लिया जाता है, तदुपरांत उस भैंस को दो बराबर हिस्से में काट दिया जाता है। आधा भाग गुआर दावत के लिए दिया जाता है एवं आधे हिस्से को दाता अपने घर ले जाता है। दाता दावत में अपना उचित हिस्सा पाता है।

हड्डियों को लाने रिश्तेदारों और 'इदैबोई' को, जो एक धार्मिक अधिष्ठाता है, बुलाने और ढोल एवं घण्टा बजाकर छाया को बुलाने के साथ ही वास्तव में गुआर अनुष्ठान किया जाता है। वे लोग हड्डियों को सीधे जलाने के स्थान पर ले जाते हैं और वहाँ 'सिम्मर-भरन' चावल एवं शराब उनके ऊपर फेंकता है और हड्डियों के ऊपर एक पत्थर रखकर गाड़ देता है। उसके बाद कोई अनुष्ठान नहीं किया जाता। इस प्रकार से मृतक की हड्डियों के ऊपर अलग-अलग पत्थर खड़े किये जाते हैं। कुछ दिनों के बाद कुछ लोगों के समूह, जो मृतक के परिवार के होते हैं, बड़े पत्थर को पाने के लिए जाते हैं। वे लोग पुराने मेनहिर (बड़े पत्थर) के सामने नये पत्थर को रखते हैं। शामनिन उसके सामने अनेक पत्तियाँ रखता है। प्रत्येक पत्ती पर चावल की छोटी टोकरी एवं काँसे की अँगूठी रखी जाती है। दूसरी सुबह प्रत्येक व्यक्ति गाँव में चावल लाता है। 'शानिन' एवं 'इदैबोई' अग्नि एवं जल की व्यवस्था करते हैं। अनेक ढोलक-वादकों के साथ 'शामन' एवं 'सिम्मामेरान', लड़कियों के कुएँ तक जाने में मार्ग-रक्षा करते हैं। उसके बाद दल 'मेनहिर' तक आता है। सिम्मामेरान, शामन, शैमानिन एवं इदैबोई इसकी पूरी तैयारी करते हैं। अंत में भैंस के बलिदान का क्षण आता है। गाँव का एक कुशल आदमी बुलाया जाता है जो सभी भैंसों को कुल्हाड़ी के पीठ के हिस्से से आघात कर उसका बलिदान करता है। कुल्हाड़ी के एक ही आघात से पशु के मरने पर शुभ शकुन माना

जाता है जिसके लिए बलिदानकर्त्ता की जयजयकार की जाती है। दूसरे लोग उसकी चमड़ी उतारते हैं एवं लाश को टुकड़ा-टुकड़ा करते हैं।

मेनिहर के स्थान पर मध्यान्तर के समय शामन एवं सिग्यामरान मस्तक, पैर, कलेजे का कुछ अंश और काटा हुआ मास चढ़ाते हैं। शार्मानिन मृतक को उपस्थित होने और समग्री को स्वीकार करने के लिए मंत्र पढ़कर बुलाता है। दूसरे लोग नाचकर, पीकर, अर्पित मांस को पकाकर एवं वितरित कर समय व्यतीत करते हैं। दोपहर के बाद एवं संध्या तक सभी लोग दावत खाने, पीने और नाचने मे लगे रहते है। अनुष्ठान का अंत इस कल्पना के साथ होता है—'आज हमलोग तुमको बलि देते है, हम लोगों की मदद करो, हमलोगो को सताओ नहीं।'

अतः पूर्वज-पूजा के संपादन से हम लोग स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि साधारण रूप से जनजातीय जीवन में और विशेषकर उनके धार्मिक विश्वास में दिवगत पूर्वजों की एक महत्त्वपूर्ण एव निश्चित भूमिका होती है।

बहुदेववाद

भारत की जनजातियो में प्रचलित विभिन्न विश्वासों एव उनकी धार्मिक प्रथाओं के परवर्ती वर्णनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग बहुदेववादी हैं। दैवी शक्तियों को ऐसे देवताओ मे स्थान दिया गया है जो समुदाय के जीवन की घटनाओं पर प्रभाव डालती एवं उसपर नियंत्रण करती हैं। अधिकतर जनजातियों मे जीवात्माएँ अलौकिक पुरुषो का पुंज है और तदनुसार ही विभिन्न देवताओं को शक्ति प्रदान की गयी है। कुछ देवता उनके गाँव, उनके स्वास्थ्य, वर्षा, अन्न आदि के लिए उत्तरदायी ठहराये जाते है। सभी देवताओ का अपना-अपना विभाग, प्रभाव का क्षेत्र और नियंत्रण होता है तथा अपनी-अपनी क्रियाओ की प्रकृति होती है। जनजातियाँ अनेक देवताओ एवं देवियो मे विश्वास करती है। उनके बीच पूजा करने की विभिन्न पद्धतियाँ हैं जो उनकी परंपरा पर निर्भर करती हैं जिससे बहुदेववाद के प्रति उनके लगाव की जानकारी होती है।

इन देवताओं को विभिन्न नाम, विभिन्न रूप एव विभिन्न उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं। जीववादी देवता, बोंगा, प्रकृति एवं पूर्वज की जीवात्माएँ उनके आधार हैं जिसके साथ वे लोग पहले से ही संबंधित रहते हैं।

जनजातीय लोगों में प्रायः एक ऐसा देवता होता है जो उनके खेत एवं फसल की रक्षा करता है। दूसरा देवता उनकी झोपड़ियों की रक्षा करता है। तीसरा देवता उनके परिवार एवं रिश्तेदारों की रक्षा करता है। चौथा उनकी संपत्ति की रक्षा करता है, आदि।

देवताओं के विभिन्न निवास-स्थान एवं विभिन्न निर्दिष्ट अधिकार हैं। एक जनजातीय पुरुष अनेक देवताओं से परिचित रहता है, जैसे पहाड़ का देवता, जंगल का देवता, जीवात्मा का देवता, झरने का देवता, नदी का देवता, तालाब का देवता, वृक्ष की जीवात्मा, सूर्य देवता, पृथ्वी देवी, चाँद देवता आदि। जहाँ उनके लोग रहते हैं, वहीं देवताओं एवं देवियों का दल रहता है। उनका स्थान निश्चित रहता है। एक जनजातीय समुदाय में उनकी सभी सामाजिक एव सांस्कृतिक क्रियाएँ जीवात्माओं एवं देवताओं के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। वे लोग अपने दायरे एवं शक्ति के अनुसार अलौकिक शक्ति का दूसरे देवताओं में विकेन्द्रीकरण कर देते हैं। उन लोगों में स्वास्थ्य, रोग, विपत्तियों के लिये टोटम के रूप में, गोत्र-समूह, पूर्वजों की जीवात्मा के रूप में, उनकी संतानों के लिए, उनके पशुओं आदि के लिए विशेष देवता रहते हैं। प्रत्येक पत्थर या लकड़ी के खम्भे मे, जिसमें सिंदूर लगा रहता है, खास देवताओं का निवास रहता है। प्रतिनिधित्व करती हुई वस्तु में एक व्यक्तिगत ताबीज की शक्ति पूर्ण रूप से रहती है।

सिंहभूमि के हो एवं राँची के मुण्डा लोगों का विश्वास है कि वे लोग लगभग विभिन्न ईश्वरीय शक्तियो एवं अलौकिक वस्तुओं से घिरे पड़े है। मध्य भारत की मुण्डारी बोलने-वाली जनजातियों का सबसे बड़ा भगवान् सिंगबोंगा अनेक बोंगाओं, जैसे पर्वत, वन, नदी आदि-के बोंगाओं के द्वारा सेवित है। सिंगबोंगा पृथ्वी का रचयिता माना जाता है। मजुमदार (१६३७: १३२) के अनुसार बोंगा, जैसे नागा बोंगा या नदी देवी, देस्सौली या हातु बोंगा उनके ग्राम-देवता है एवं मरंग बोंगा, दिसुम मरंग बोंगा या मरंग बुरू हो के पूर्वजो के घर के देवता हैं जो पर्वत के शिखर पर रहते हैं। मजुमदार का कहना है कि व्यावहारिक दृष्टि से बोंगा असंख्य है एवं स्थान के अनुसार बदलते रहते हैं। १९६७ में सारोंदा जंगली क्षेत्र के हो के बीच दूसरे बोंगा की भी चर्चा पायी गयी है। वे हैं—'बोंग्या बोंगा' यानी शेर की जीवात्मा, 'बिरसा बोंगा' अर्थात् जंगल की जीवात्मा, 'बुरू बोंगा' जो पहाड़ पर रहता है, गारो या इकिर बोंगा—नदी की जीवात्मा एवं कपरूबोंग—जंगल में रहनेवाली जीवात्मा (राय, १९६७)। अनेक देवताओं की प्रार्थना उनके बीच बहुदेववाद की उपस्थिति की द्योतक है। राय (१९६७) ने हो के बीच कपरूबोंग की पूजा देखी है। देवरी ग्राम के पुजारी ने निम्नलिखित शब्दों का उच्चारण किया:

"हे पालकोबाद (एक ग्राम) के ईश्वर, बुरू बोंगा, गारा बोंगा, सभी बोंगा एवं कुप बोंगा, जंगल के ठीकेदार बीस-तीस लोगों की संख्या में उसको काटने आयेंगे। जंगल में ट्रक प्रवेश करेगा, उन सबकी रक्षा करो एवं दयालु बनो।"

संथाल 'चाण्डो' या 'ठाकुर' को परमात्मा की तरह मानते हैं जो सभी अवसरों पर बुलाये जाते हैं। संथाल समुदाय के लिए 'मरन बुरू' दूसरा देवता है। इसके अतिरिक्त उन लोगो मे असंख्य देवतागण हैं जैसे सिमाबोग अर्थात् सीमांत देवता, बहरे-बोंगा या गाँव के कगार पर का देवता, दुष्ट जीवात्माएँ, जैसे भूत, राकेस आदि पर निरीक्षण करनेवाले देवता, परगना बोंगा एवं मांझी बोंगा। मालेर में भी अनेक प्रकार के गोसाईं हैं जैसे बेरू गोसाईं अर्थात् सूर्य भगवान्, बिल्पु गोसइयाँ, चन्द्रमा भगवान्, बिंद के गोसइयाँ अर्थात् तारे, चालनदू आदि।

सबरा देवताओ को गिनना आसान नही है क्योकि उनके विस्मयकारी प्रकार हैं। प्रत्येक गाँव मे कभी-कभी वहाँ की अपनी विशेष पूजा होती है। एक ही देवता को विभिन्न नामों से जाना जाता है। किसी एक क्षेत्र मे जो देवता महत्त्वपूर्ण हैं, दूसरे क्षेत्र में लोग उसको जानते भी नही। उन लोगो में सोनुमांजी (देवता), किट्टुंग (अनेक मिथों के नायक) अधिष्ठातागण, छायाएँ एवं पूर्वज है। सीतापति (१९३८ : ११७) ने सबरा देवताओ को देवताओ एव जीवात्माओं के इक्कीस वर्ग से कम मे वर्गीकृत नही किया है। एल्विन (१९५५ : ९५-१२७) ने सबरा देवताओ की एक सूची दी है। किसी भी प्रकार के वर्गीकरण से बचने के लिए उन्होने लगभग १८२ देवताओ के नामों को क्रमानुसार सजाया है। सबराओ मे देवताओं को बनाने की क्रिया कभी समाप्त ही नही होती। जैसा हम लोगो ने देखा है, गुआर अनुष्ठान के समाप्त होने पर प्रत्येक पूर्वज अधोलोक में प्रवेश करने पर इदैसुम (सुलुमन देवता के लिए, जिसका छोटा रूप है सुमन, समास में इसको और छोटा किया जाता है जो सुम कहलाता है) हो जाता है जो सोनुमाजी या देवताओं में से एक है। यह गतिविधि चालू है। जब पुराने देवता अपना प्रभाव खो बैठते हैं और विस्मृत हो जाते हैं तो उनके स्थान पर नये देवता आ जाते हैं।

जीवात्माओं के वर्ग

जनजातियाँ जीवात्माओं के चार वर्गों मे विश्वास करती हैं। ये वर्ग मनुष्यों के साथ जीवात्माओं के संबंध पर निर्भर करते हैं।

(१) संरक्षी जीवात्माएँ,

(२) हितैषी जीवात्माएँ,

(३) अहितैषी जीवात्माएँ और

(४) पैतृक जीवात्माएँ।

संरक्षी जीवात्माएँ—ऐसा विश्वास किया जाता है कि ग्रामीण देवता गाँव के कल्याण के लिए उसकी देखभाल करते हैं। वे ग्रामीण समुदाय के द्वारा सामूहिक रूप

से पूजे जाते हैं। मुण्डाओं में ग्रामीण देवता को सब लोग 'हातु-बोंगा' या गाँव का देवता कहते हैं। 'हातु-बोंगा' की संख्या तीन है अर्थात् देसौली बोंगा, जाहेर बुढ़ी एवं चांडी बोंगा। ये देवतागण मुण्डा गाँव के अभिभावक हैं। शिकार एवं कृषि-कार्य के समय उनकी सहायता की आवश्यकता होती है। गाँव के पवित्र स्थान पर निर्दिष्ट अवसरों पर वे 'पाहन' द्वारा पूजे जाते हैं।

संथाल के ग्रामीण देवताओं में संथाली मिथों में 'मरंग बुरू' की जो पर्वत की जीवात्मा है, प्रधानता है। वह गाँव के भाग्य का निर्माता है एवं सभी आनुष्ठानिक अवसरों पर बुलाया जाता है जाहेर बुढ़ी छायामय देवी है जो 'मरंग बुरू' के साथ भेंट स्वीकार करती है। सभी आनुष्ठानिक अवसरों पर 'मोरोएको तुरूइको', जो पाँच भाइयों एवं एक बहन के परिवार की तरह सामूहिक रूप से जाना जाता है, भेंट एवं पूजा स्वीकार करता है।

हो में 'देस्सौली' का ग्राम-कुंज में निश्चित निवास स्थान है। वह एक ऐसा देवता है जो दुष्ट जीवात्माओं से ग्रामीणों की रक्षा करता है, जैसे बीमारी एवं महामारी से। वह वर्षा करवाता है और पर्याप्त फसल देता है। त्योहारों के समय 'देस्सौली' को भेंट के रूप में बलि दी जाती है। यह बड़े देवता 'सिंगबोंगा' का सहायक समझा जाता है।

उराँव के गाँवों की जीवात्माओं का अधिपति 'पाट' या 'पाट राजा' है जो बीमारी या दूसरी विपत्तियों से गाँव की रक्षा करता है। कुछ गाँवों में इसका निवास स्थान गाँव के बाहर पर्वत पर और कुछ गाँवों में झाड़ी या वृक्ष के नीचे होता है। राँची जिला के मध्य पठार पर अधिकतर गाँवों में 'पाट' की पूजा का कोई उपयोग नहीं होता पर अन्यत्र उसकी पूजा सब लोग करते हैं। इन दिनों चालापच्छो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उन गाँवों में जहाँ 'पाट' को अग्रगण्य देवता माना गया है, 'पाहन' उसको समय-समय पर बलि देता है।

उराँव के गाँव की जीवात्माओं में सबसे भयानक 'दरहा देसवाली' है। वह गाँव का दरवान है एवं उसका स्थान गाँव की सीमा पर होता है। कुछ गाँवों में दरहा देसवाली की एक संगिनी होती है जिसे देसवाली कहा जाता है। इसके लिए एक अलग पवित्र कुंज रखा जाता है। परंतु अधिकांश गाँवों में दो जीवात्माओं को एक ही जगह रखा जाता है। जब गाँव में महामारी फैल जाती है तो तीन से लेकर बारह वर्षों के बीच 'दरहादेसवाली' को भैंस की बलि दी जाती है।

हितैषी जीवात्माएँ—जनजातियों में बड़ी जीवात्माएँ हितैषी होती हैं। जनजातियों का विश्वास है कि जीवात्माएँ एक पशु या पेड़ या पत्थर या झरना या पर्वत आदि के रूप

में सभी जगह मौजूद हैं। वे पत्थर, बाँस, लकड़ी की खम्भे, लकड़ी की चौखट, धाराओं, ग्रहों, पेड़ों आदि द्वारा अपना प्रतिनिधित्व करते हैं एवं नियमित रूप से पारिवारिक एवं ग्राम-स्तर पर पूजे जाते हैं। यदि ऐसा नही किया जाता है तो उनके कारण परिवार या गाँव में बीमारी, मृत्यु, फसल का असफल होना, दुर्घटना, अथवा अन्य विपत्ति आती है। इस तरह के देवता सपूर्ण जनजातीय भारत मे पाये जाते हैं।

अहितैषी जीवात्माएँ—भूत, पिशाच, बीमारियो के देवता अर्थात् छोटी माता, बुखार, गर्भ-हरण आदि के देवता दुष्ट जीवात्माएँ है। दुष्ट जीवात्माओं का कुप्रभाव ही मृत्यु का कारण है। कब्र मे रहनेवाली या घने जगल में अकेली रहनेवाली जीवात्मा अहितैषी समझी जाती है। अकेले स्थानो पर बच्चो एवं गर्भवती माताओं को जाने के लिए मना किया जाता है।

पैतृक जीवात्माएँ—जनजातियो मे ऐसा विश्वास है कि दिवंगत पूर्वज उनके साथ निकट सबंध स्पष्ट रूप से दिखाते हैं। इस पहलू पर पूर्व पृष्ठो मे पूर्वज-पूजा के अतर्गत विचार किया गया है। इन जीवात्माओं को जनजातियाँ हितैषी समझती हैं। ये जीवात्माएँ स्वप्नों मे दिखाई पड़ सकती है या समुदाय या ग्राम के धर्म-विशेषज्ञों के माध्यम से भी आ सकती है जो मृतक-पूर्वज की इच्छा बतलाते हैं।

धार्मिक भूगोल

जब कोई व्यक्ति भारत के जनजातीय गाँव में आता है तो वह रास्ते की बगल में एक बड़े वृक्ष, एक छोटे पौधे या स्तम्भ या चट्टान या तालाब, नदी, झरने आदि से होकर गुजरता है। ये सब उनके मदिर हैं। सरल नुकीले या सिंदूर लगे हुए पत्थर या लकड़ी के खंभे लगभग आधा या एक मीटर की ऊँचाई तक लगातार स्थापित किये जाते हैं। गोबर से पोती हुई एक मिट्टी की वेदी के साथ मिट्टी के बर्तन के कुछ टुकडे जनजातीय देवता का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनजातीय गाँव के धार्मिक भूगोल से दो बातों का पता चलता है अर्थात् धार्मिक क्षेत्र एवं धार्मिक केन्द्र का। क्षेत्र से किसी स्थान के खास हिस्से का बोध होता है जो देवी-देवताओं के लिए बनाया जाता है और बादवाले से स्थान-विशेष का पता चलता है जहाँ देवता रहते हैं।

जनजातियों में धार्मिक भूगोल प्रधानतया (१) गृह-संबंधित एवं (२) गाँव के आस-पास होता है। भारत की जनजातियों में धार्मिक एवं आनुष्ठानिक क्रियाओं के संपादन के लिए ये मूलभूत इकाई है। यदि लोगो का एक समूह दूसरे स्थान पर चला जाता है तब भी वे लोग अपने मूल स्थान के देवताओं की पूजा चालू रख सकते हैं। घुमंतू बिरहोर के देवता उनके साथ चलते हैं।

धार्मिक क्षेत्र

जनजातियों में ऐसा विश्वास है कि वे लोग अनेक देवों एवं देवताओं से घिरे हुए हैं जो सर्वत्र विराजमान रहते हैं। अतः समस्त जनजातीय ग्रामों का क्षेत्र एवं इसके समीप का क्षेत्र जनजातीय देवों एवं देवताओं का धार्मिक क्षेत्र माना जा सकता है। उन लोगों के देवता गाँव के एक विशेष क्षेत्र में केन्द्रित नहीं हैं, वरन् पूरे क्षेत्र में फैले हुए हैं। जहाँ तक धार्मिक क्षेत्र का प्रश्न है, समस्त जनजातीय ग्राम एवं इसके पड़ोस के पर्वतों एवं जंगली क्षेत्र को एक इकाई में लिया जा सकता है। गृह से संबंधित देवता, जो उन लोगों की पैतृक जीवात्मा है, पाक-गृह या घर या झोपड़ी के एक भाग में रहता है। ग्राम का देवता ग्राम के पुजारी के घर के निकट एक मिट्टी की वेदी पर गाँव के मध्य में या गाँव के परिसर में रहता है। जंगल का ईश्वर, निकट के जंगल में रहता है जहाँ झरना, नदी, गड्ढा, पर्वत या पर्वत की चोटी, पुराना वृक्ष असंख्य अन्य देवताओं का निवास-स्थान हैं।

धार्मिक केन्द्र

धार्मिक क्षेत्र के बाद धार्मिक केन्द्र का स्थान है जहाँ पूजा-संबंधी या आनुष्ठानिक क्रियाएँ अधिक रूपों में सम्पन्न होती हैं। इस तरह के स्थान को धार्मिक केन्द्र कहा जाता है। 'मालेर' लोग गाँव के तीन देवताओं को अधिक महत्त्व देते हैं। वे हैं—चाल, राकसी एवं कांदो। चाल जाहेस्थान या धार्मिक कुंज में रहता है। प्रत्येक महत्वपूर्ण अवसर पर गाँव की भलाई एवं उन्नति के लिए उसे बलि अर्पित की जती है। 'राकसी गोसाईं' राकसी स्थान में, जो गाँव से कुछ दूर पर अवस्थित होता है, रहता है। वह किसी भी बुरे प्रभाव से, जो गाँव में प्रवेश करनेवाला होता है, रक्षा करता है। गाँव के पुजारी द्वारा वार्षिक या सलाना पूजा के समय उसे बलि चढ़ाई जाती है। 'कांदु गोसाईं' गाँव का प्रमुख देवता है। उसके रहने का स्थान एक लकड़ी का तख्ता है, जो कांदो-मांझी के घर में रखा जाता है या छानी किये हुए स्थान के नीचे गाँव के केन्द्र में रखा जाता है।

पहाड़ी खड़िया 'बासुकी' को गाँव की अधिष्ठात्री जीवात्मा की भाँति मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं। 'बासुकी' प्रत्येक गाँव में रहती है। यह देवी धरती देवी जैसी है। यह केवल पहाड़ी खड़िया द्वारा ही नहीं वरन् उनके बीच रहनेवाली दूसरी जनजातियों एवं निम्नवर्गीय हिन्दू जातियों द्वारा भी पूजी जाती है।

मुण्डा, संथाल, हो, उरांव, भील और गोंड तथा दूसरी कृषक जनजातियों में विस्तृत ग्राम-पूजा का केंद्र वह पवित्र कुंज है, जहाँ ग्रामीण देवतागण निवास करते हैं। धार्मिक कुंज पेड़ों का झुंड होता है जिसे काटना वर्जित है। मुण्डा, उरांव और हो के कुंज में साल वृक्ष होते हैं। संथाल में नारजोम वृक्ष होते हैं। मुण्डा और उरांव में सरना एवं

ही और संथाल में हार्बेर या जाहिरा कहा जाता है। कुंज में दो सबसे बड़े वृक्षों में से, जो अगल-बगल खड़े रहते हैं, एक वृक्ष संथाल की प्रमुख जीवात्मा 'मरंग बुरू' का होता है और दूसरा उसकी रानी 'जाहेर बुढ़ी' का होता है। पहले वृक्ष के नीचे काला किया हुआ चूल्हा और पत्थर रखा जाता है जिसपर गाँववाले बलि की हुई सामग्री को पकाते हैं। इनके अतिरिक्त गाँव का पुजारी भी अपने हिस्से की अर्पित सामग्री को पकाता है। पूजा के निमित्त थोड़े समय के लिए जाहेर में छायी हुई झोपड़ी बनायी जाती है और इसमे पशुओं की बलि दी जाती है।

संथाली गाँव मे दिवंगत प्रमुख पुरुष की जीवात्मा के नाम से एक महत्त्वपूर्ण वेदी होती है जहाँ पूरे ग्रामीण समुदाय के लोग पूजा करते हैं। इस वेदी के लिए उसी तरह स्थान का चुनाव होता है जिस तरह ग्राम-देवताओ के लिए धार्मिक कुंज का। यह गाँव के केन्द्र के निकट मुख्य सड़क के एक ओर होती है जिसे 'माझी थान' या प्रमुख पुरुष का स्थान कहा जाता है। कुछ गाँवो में माझी थान पर मिट्टी का एक ऊँचा चबूतरा होता है जिसके ऊपर चार खम्भो पर टिकी छाई हुई छत रहती है जिसके मध्य में पाँच फुट की ऊँचाईवाला स्तम्भ होता है। दूसरे गाँवो मे केवल मिट्टी का चबूतरा और स्थायी रूप से खम्भा होता है जिसे धार्मिक अनुष्ठान के समय घास से ढँक दिया जाता है। कुछ वेदियों मे गाँव के प्रत्येक दिवगत प्रमुख पुरुष के लिए एक-एक पत्थर होता है परन्तु जो पत्थर पुराने प्रमुख पुरुष का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनको हटा दिया जाता है। गाँव के मूल स्थापनकर्त्ताओ और कुछ दिन पूर्व के दिवगत प्रमुख पुरुषों की पूजा 'माझी-हुरम' के रूप मे की जाती है। धार्मिक कुंज की तरह 'माझी थान' में भी मिट्टी के बने हाथी और घोड़ों की मूर्तियाँ रखी जाती हैं।

भील और गोंड गाँवो के आस-पास भी देवता होते है। गाँव के चारों कोने पर छोटी-छोटी झोपड़ियाँ रक्षा करने के लिए बनायी जाती है। गाँव मे प्रायः पुजारी के घर के निकट गाँव का कुंज रहता है।

मालेर मे 'माझी थान' उनका धार्मिक केन्द्र होता है जहाँ गाँव का देवता 'झंडा गोसाईं' रहता है। 'सिगपाते नाडू' का, जिसकी पूजा वंदना त्योहार के समय की जाती है, छोटे काले पत्थर द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है। 'चाल नाडू' पहाड़ की चोटी पर रहता है जब कि ग्यारह बेलनाकार पत्थरो द्वारा मालेर गोसाईं का प्रतिनिधित्व किया जाता है। उनके दूसरे देवता है—कन्हइया नाडू, सादेली झरने की जीवात्मा, टुबडु नाडू, शेर की जीवात्मा आदि।

उपर्युक्त धार्मिक केन्द्र के अतिरिक्त जनजातीय परिवारो के घरों में या ठीक झोपड़ी में कुछ स्थान एवं वस्तुएँ होती हैं जो परिवार के सदस्य के लिए धार्मिक केन्द्र होती हैं।

प्रत्येक जनजातीय परिवार का अपना पारिवारिक एवं घरेलू देवता होता है। अवसर आने पर उसकी पूजा की जाती है। उनके बीच सबसे महत्वपूर्ण पैतृक जीवात्माएँ होती हैं, जो उनकी अधिष्ठात्री हैं। उन्हें घर में उचित स्थान दिया जाता है और तदनुसार उनकी पूजा की जाती है। उनके दूसरे देवता हैं—घर या झोपड़ी के देवता, पशु के रहने के स्थान, खम्भें, चूल्हे आदि के देवता। एक गोत्र के सभी सदस्यों के लिए 'गोत्र-देवता' है, तो भी वे लोग व्यक्तिगत पारिवारिक स्तर पर अपने गृह-देवता की पूजा करते हैं। दीवाल या जमीन पर देवता या देवी के अस्थायी रूप से चित्र बनाये जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि देवी-देवताओं की उपस्थिति से बच्चों एवं परिवार के अन्य सदस्यों की रक्षा होती है। महामारी के देवता अस्थायी रूप से बीमारी को दूर करने के लिए घर में बिठाये जाते है। एक व्यक्ति, विशेषकर एक शामन या माली का अपना ईश्वर या भूत या जीवात्मा या देवी होती है जिसे व्यक्तिगत स्तर पर स्थान दिया जाता है। एक जनजातीय परिवार के गृहदेव के स्थान में उच्च श्रेणी का भगवान् होता है। उसकी प्रतिमा या चित्र को घर में यथास्थान प्रतिष्ठित किया जाता है।

जब कोई खासी प्रातः उठता है तो वह माबविरम्यू (चूल्हे के देवता) का, जो चूल्हे में गड़ा पत्थर होता है, चिमटे से धीरे से मारकर स्वागत करता है। घर से संबंधित जीवात्माएँ उसके पूर्वज हैं। समय-समय पर दिवंगत पूर्वज की सहायता की आवश्यकता होती है। वार्षिक रूप से पूर्वजों की जीवात्माओं को भोजन अर्पित किया जाता है। 'काइ-आबबेई' खासी के गृह-देवता हैं। कालेई इंग एवं का कसाव का जीनंगय, जिन्हें घर के कल्याण के लिए पूजा अर्पित की जाती है, छद्म रूप में काइयाव्वेई (प्रथम माता) हैं। पहले पिता उथाबल्ग का सम्मान किया जाता है। परिवार में मुसीबत आने पर उसे एक मुर्गे की बलि दी जाती है। खासी की एक उप-जनजाति 'वार' के अहाते में भी एक छोटी सी छायी हुई झोपड़ी होती है जिसे वे लोग 'इंग कन्युइद' कहते हैं। जब वे लोग अपने पूर्वजों की पूजा करते है तो भोजन का अर्पण इन गृहों मे भी करते हैं (गर्डन, १९१४ : ११२-१३)।

जब कोई रेंगमा व्यक्ति किसी स्थान पर घर बनाने जाता है तो उस स्थान को दुष्ट जीवात्माओं से मुक्त करने के लिए एक सरल अनुष्ठान करता है। पूर्वी रेंगमा जब तक चूल्हे के पत्थर को यथास्थान नहीं रख लेता, तब तक कोई भी अनुष्ठान नहीं करता। चूल्हे के पत्थर को बैठाने के समय एक विशेष अनुष्ठान का आयोजन किया जाता। जिस रोज घर बन जाता है, उस रोज संध्या समय घर का स्वामी चूल्हे के पत्थर को यथास्थान रखता है। दूसरी सुबह घर का मालिक घर के मध्य के खंभे को चावल की शराब चढ़ाता है। परिचित जीवात्मा 'कानुई' या 'अकेल्योंग' भावी पुरुष के घर में उसके बिठावन के

या टोकड़ी के निकट, जिसमें कमरे से बाहर धान का भूसा रखा जाता है, रहती है। कभी-कभी यह अनाज के गोदाम में सो सकती है। घर के मालिक की मृत्यु के उपरांत वह उसी घर मे रहती है जब तक कि घर गिर न जाये।

'चूते-गामते' एवं 'इते-बोते' गैलोंग-गृह की जीवात्माएँ हैं। घर में रहनेवाली जीवात्मा उसमे रहनेवाले लोगों की देखभाल करती है और आनेवाली विपत्ति के बारे में सावधान कर देती है। प्रत्येक घर पूजा और बलि के अर्पण का स्थान है। कभी-कभी बीमरी को दूर करने के लिए घर के निकट एक वेदी खड़ी की जाती है (श्रीवास्तव, एल० आर० एन०, १९६२ : १०४-१०६)।

थारू अपनी पैतृक जीवात्माओ की, जिन्हें 'बुधे बाबू' या 'रिघार' कहा जाता है, पूजा करते है। वे लोग इन जीवात्माओ को घर के अदर स्थापित करते हैं। उनका विश्वास है कि वे घर के लोगों की रक्षा करेगी। परिवार मे बीमारी की दशा मे उनकी प्रार्थना की जाती है और मनौती मानी जाती है। पशु के रहने के स्थान की जीवात्माएँ, 'कारोदेव' एव 'राकतकलुआ' भी उनके गृह से संबंधित देवता हैं। घर के सबसे बड़े व्यक्ति का अधिकार और कर्तव्य होता है कि वह इन जीवात्माओ को भेंट अर्पित करे। 'बेमड़ा' देवी दुष्ट जीवात्माओ से नये पैदा हुए बच्चे की रक्षा करती हैं। उसका चित्र बच्चे की फूफी द्वारा माता के कमरे की दीवार पर बनाया जाता है। थारू ठाकुर या भगवान् को अपने परिवार के देवगण के साथ घर के खुले आँगन मे दूसरे देवता के साथ स्थापित करते है। उनके पारिवारिक देवगणो मे हिन्दुओ के दूसरे देव, जैसे पाण्डव, महादेव, नरसिंह धीरे-धीरे सम्मिलित किये जा रहे है।

मध्य भारत मे मान्डी ओरा, जिसमे मुण्डा लोग भोजन पकाते है, अदिंग धार्मिक मण्डप को सम्मिलित करता है जहाँ पूर्वजो की जीवात्मा, जैसे ओरा-बोंगा (गृह-देव) का पूजा की जाती है। ऐसे समय केवल परिवार के सदस्य ही अदिंग मे प्रवेश कर सकते हैं। इस स्थान को पाक-गृह से एक छोटी मिट्टी की दीवार से अलग किया जाता है। पवित्र अदिंग भण्डार-गृह के रूप मे व्यवहृत होता है (राय, १९१२ : २२०, २६८)। 'हो' लोग मृतक की हड्डी के अवशेष का मिट्टी के बर्तन मे संग्रह करते हैं और उसे अदिंग मे रख देते है। सथाल और भुइयाँ के घर के अंदर एक छोटा-सा स्थान रहता है जिसे 'भीतर' कहा जाता है और जो खासकर पैतृक जीवात्माओ के निवास के लिए सुरक्षित रखा जाता है। 'खूट-भूत' उराँव की अधिष्ठात्री जीवात्माएँ हैं। पैतृक जीवात्माएँ परिवार की रक्षा करती हैं। तुलसी का पौधा एक पवित्र वस्तु है जो उराँव के घर मे भी पाया जाता है। मालेर मे 'अद्दो गोसाईं' (गृह-देवता) का एक 'बादी' (दरवाजा) द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है एवं उसकी पूजा नये गृह के निर्माण या नयी फसल होने

पर की जाती है । 'पोमो पोलाई' (गृह का स्तंभ) परिवार में खुशहाली और स्वास्थ्य प्रदान करता है । 'पत्तो पोलाई' उनके चूल्हे का देवता है । 'पोहर पोलाई' पशुशाला में रहता है और उनकी रक्षा करता है (विद्यार्थी, १९६३ : १५३-५४) । कामरों के पाक-गृह मे एक माता-दूमा चबूतरा रहता है जहाँ परिवार के सभी देवता अर्थात् घोमरी देवता रहते हैं । कामरों द्वारा पैतृक जीवात्मा तथा जीव बुलाये जाते हैं, फलत: दिवंगतों के जीव माता-दूमा चबूतरा पर रहने लगते हैं । माता अर्थात् धरती माता भी पैतृक जीवात्माओं के साथ एक विशेष चबूतरे पर बिठायी जाती है । बुधा राजा, दुल्हा देव आदि भी पूजे जाते है और माता-दूमा के चबूतरे पर उन्हें स्थान दिया जाता है (दूबे, १९५१ : १४५) ।

पहाड़ी मारिया गोंड के प्रत्येक परिवार में एक हँडा—बर्तन रखा जाता है । उन लोगों के विश्वास के अनुसार यह बर्तन पूर्वजो का प्रतिनिधित्व करता है । प्रत्येक भोजन करने के अनुष्ठान के समय बर्तन मे एक मुट्ठी अनाज रखा जाता है । गाँव के सभी बड़े अनुष्ठानो के पहले प्रत्येक परिवार के प्रमुख व्यक्ति द्वारा पूर्वजों के सम्मान में हतल-कटला अनुष्ठान किया जाता है । घरेलू स्तर पर बीमारी या दुर्भाग्य को हटाने के लिये 'लेसकेतल' नामक एक महत्वपूर्ण अनुष्ठान किया जाता है अत: उससे संबंधित देवता 'लेसके' अर्थात् 'शामन' (जेय, १९७० : २४७) कहे जाते हैं । मुख्य कमरे का मध्य 'सवराओ' के लिए महत्वपूर्ण है । बीचवाले स्तंभ के सामने की दीवाल पर प्रतिमा के नीचे या ओखली के ऊपर अनुष्ठान के अवसर पर प्रतिनिधित्व करने के लिए एक वेदी बनायी जाती है । 'गिरेजांगसुम' सवराओ का गृह-देवता है । 'गोरसुन' एवं 'सोरीसुम' पशु चरानेवालो के देव हैं । जुआंग का गृह-देवता है 'पितरू', जो उनका पूर्वज और हाल में मरे व्यक्ति की प्रेतात्मा है ।

दक्षिण भारत में कनिकर, कोरगा पनियन एवं करीम-पलाला पूर्वजो की जीवात्माओं को अपना गृह-देव मानते हैं ।

अत: स्पष्ट है कि जब कोई व्यक्ति जनजातीय झोपड़ी या गाँव या इलाके में प्रवेश करता है तो उसे कोई धार्मिक केन्द्र जरूर मिलता है ।

धार्मिक विशेषज्ञ

सभी जनजातीय समूहों में एक पुजारी या धार्मिक विशेषज्ञों का एक समूह होता है जो प्राय: दो से तीन की संख्या में होते हैं । विभिन्न जनजातियों में इन्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है । बिहार के 'हो' उन लोगों को 'पाहन' मध्य प्रदेश के गोंड उन्हें 'बैगा' और केरल के कनिक्कर एवं मुदुवा उन्हें 'प्लाथी' कहते हैं ।

अपवाद के तौर पर उड़ीसा के कुवीकंधाओं में पुजारिन होती है जो अपनी सहायिका द्वारा देवताओं की पूजा करने में सहायक होती है। धार्मिक अनुष्ठान से संबंधित सभी क्रियाओं में पुरोहितों में प्रमुख व्यक्ति मुख्य कार्यकर्ता होता है। सबराओं में भी शामनिन एवं इदैबोई की तरह पुजारिने होती हैं जो धार्मिक अनुष्ठान स्वतन्त्र रूप से संपादित कर सकती हैं।

मालेर में गाँव के स्तर पर पुरोहित से सबधित तीन कार्यकर्ता होते हैं अर्थात् कांदो-माँझी, कोतवार एवं चालवे। कांदो माँझी लोगो के धार्मिक जीवन को नियन्त्रित एवं निर्देशित करता है। ऐसा समझा जाता है कि वह ईश्वर द्वारा चुना गया है। उसके चयन के लिए लौकिक मुख्य पुरुष के घर के सामने गाँव के मध्य मे ग्रामीण लोग इकट्ठा होते है। इस अवसर पर धूप और सुगंधित पदार्थ जलाये जाते है। यदि सभी क्रियाएँ सुचारु रूप से संपन्न हो जाती है तो ऐसा समझा जाता है कि गोसाईं ने उसे स्वीकार कर लिया है। तब वह औपचारिक रूप से कादोमाझी या गाँव का प्रमुख पुजारी घोषित किया जाता है।

कादोमाँझी का सहायक कोतवार होता है। वह देवता के लिए बलि देने से लेकर वास्तविक पूजा तक को भी संपन्न करता है। कोतवार अपने पद पर जीवन भर रहता है एव उसका चुनाव कांदोमाँझी की तरह होता है। उसके चुनाव के समय कादोमाँझी गोसाईं से सहायता लेने के लिए उसे बुलाता है। चालवा कोतवार का सहायक होता है। इसका चुनाव भी उन्ही दोनो की तरह होता है।

खडियाओं मे प्रत्येक गाँव मे केवल एक प्रमुख पुरुष होता है जो लौकिक एव धार्मिक क्रियाओ दोनो मे सम्मिलित होता है। उसे कालो, देहुरी या पाहन कहा जाता है। देहुरी गाँवो मे ग्राम के पुजारी को 'कालो' एव उसके सहायक को 'पुजार' कहा जाता है। कालो का पद परपरागत होता है। उदि उसके घर मे कोई पुरुष नहीं होता तो उसके परिवार की कोई स्त्री कालो के पद पर आसीन होती है। गाँव के पुजारी के कार्यालय का चिह्न होता है—पवित्र ओसानेवाली टोकरी (सामू) जिसके ऊपर कुछ अरवा धान (बिना उसना हुआ धान) रखा जाता है जो ग्राम के देवताओ एवं जीवात्माओं को अर्पण करने में काम आता है। सामूहिक अनुष्ठान के प्रत्येक अवसर पर 'कालो' पुजारी की तरह काम करता है। वह ग्राम-देवताओं को बलि एवं भेंट अर्पित करता है।

'हो' ग्राम मे 'देउरी' या 'धार्मिक प्रमुख पुरुष' एवं 'देवोनवा' या जीवात्मा के चिकित्सक को धार्मिक अधिकार रहता है। देउरी पवित्र कुंज के देवताओं की पूजा करता है और गाँव के प्रमुख देवता देउसौली को बलि चढ़ाता है। जब गाँव मे महामारी या बीमारी फैल जाती है तो वह धार्मिक कुंज पर बलि चढ़ाता है। 'देउरी' हितकारी

देवताओं से संबंधित रहता है। अहितकारी जीवात्माएँ 'देओनवा' द्वारा पूजित होती हैं।

'मुण्डा' एवं 'उराँव' में धार्मिक प्रमुख पुरुष को 'पाहन' कहा जाता है जो धर्म से संबंधित विषयों के लिए उत्तरदायी होता है और इसी कारण गाँव में उसका बड़ा सम्मान एवं प्रभाव रहता है। एक हिंदी कहावत है जो इस जगह सटीक बैठती है—पाहन गाँव बनाता है, महतो गाँव चलाता है अर्थात् पाहन गाँव का भाग्य बनाता है जबकि महतो गाँव की देखरेख करता है। जिस तरह लौकिक प्रमुख पुरुष गाँववालों के बीच और दूसरे लोगों के साथ उचित संबंध कायम रखता है उसी तरह 'पाहन' गाँव के साथ देवों एवं अलौकिक जीवों का संबंध कायम रखता है। 'पाहन' का कार्य-काल तीन वर्ष का होता है। ओसानेवाली टोकरी से शकुन विचारकर उसका चुनाव होता है। सामान्यतः वह 'पाहन' के वंश का होता है। यदि कोई उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिलता तो उस दशा में दूसरे वंश के मूल निवासियों में से 'पाहन' का चुनाव होता है। कुछ गाँवों में 'पाहन' का पद वंशानुगत होता है और वह गाँव के स्थापनकर्ता के परिवार का होता है। विभिन्न उराँव गाँवों में, जो पहले मुण्डा द्वारा अधिकृत थे, मुण्डा वंशानुगत 'पाहन' होता है क्योंकि मुण्डा वहाँ के मूल निवासी थे।

सपूर्ण गाँववालों की ओर से ग्राम-देवताओं को बीमारी एवं दुर्भाग्य को दूर करने के लिए मनाना पाहन का कर्तव्य है। उसके सहायक को 'पुजार' या 'पनभारा' कहा जाता है। 'पुजार' को बिना किराये की जमीन दी जाती है जिसे 'पुजार' खेत कहा जाता है।

संथाली गाँव के पुजारी को 'नायक' कहा जाता है। वह गाँववालों द्वारा मनोनीत नहीं होता बल्कि देवों द्वारा मनोनीत किया जाता है। एक नायक की मृत्यु के उपरान्त जीवात्माएँ नये नायक का रूप लेती हैं। यद्यपि नये नायक का चुनाव जीवात्माओं द्वारा किया जाता है तथापि साधारणतया वह पद नायक के परिवार द्वारा हस्तांतरित होता है। नायक जमीन पर काम करने का अधिकार रखता है और पंचायत द्वारा लिये गये करों में हिस्सा पाता है। सामूहिक शिकार में मारे गये जानवर की पीठ के हिस्से का मांस उसे दिया जाता है और प्रत्येक अनुष्ठान पर गाँववालों द्वारा दिये गये पशुओं के बलिदान में उसे प्रत्येक पशु का सिर मिलता है। सभी अनुष्ठानों एवं बोंगा की पूजा के पूर्व नायक का उसके गाँववाले साथियों से एक विशेष धार्मिक अलगाव होता है।

प्रत्येक गाँव में एक सह-पुजारी होता है जिसे 'कदम नायक' कहा जाता है और जिसका एक विशेष कर्तव्य निर्धारित किया गया है। 'कदम' शब्द से तात्पर्य वास करनेवाले घर के पीछे का क्षेत्र है। गाँव में, त्यौहार के समय, नायक मुख्य भेंट चढ़ाने में व्यस्त रहता

है। कदम नायक, परगना बोंगा को बलि चढ़ाता है जो एक विस्तृत क्षेत्रीय इकाई की अभिभावक जीवात्मा है और गाँव के उस क्षेत्र का एक अंश।

भीलों का पुजारी 'बदवा' है। वह सभी कार्यों का माध्यम, ईश्वर, पुजारी एवं सुधारक हो सकता है।

सवराओं मे चार प्रकार के पुरुष धार्मिक कृत्य सम्पन्न करते हैं अर्थात् (१)बुइया—ग्राम का पुजारी, (२) कुरानभावन—शामन (३)इदैमायान, जो शामन की सहायता करता है एव (४) सिग्गमावान, जो दाह संस्कार करता है।

दक्षिण भारत की जनजातियो के सभी समूहों मे एक पुजारी, एक मंत्रावदी (जादूगर) एवं एक कवियान (ज्योतिषी) होता है।

धार्मिक कृत्य

जनजातियों के धार्मिक समष्टि का अंतिम एवं महत्वपूर्ण घटक है धार्मिक कृत्य, जो मुख्य रूप से ग्रामीण पुजारी या उसके सहायक द्वारा संपादित होता है। इस कृत्य मे जन-जातीय लोग भगवान् या देवता को मनाने के लिए बलि चढ़ाते हैं।

बलिदान देने योग्य वस्तुएँ अंडे से लेकर भैंसे तक हो सकती हैं। मध्य भारत की जनजातियो को पडोसी हिन्दुओ के प्रभाव ने बलिदान के मामले में कुछ हद तक उदार बना दिया है जिसके परिणाम-स्वरूप वे लोग बलिदान देने के बदले मिठाई एवं फल चढाने लगे हैं। पूजा की दूसरी सामग्री होती है—सिंदूर, अरवा चावल एव फूल आदि। समस्त जनजातीय समुदाय के लिए खून की पूजा का सर्वाधिक महत्त्व है। नयी फसल के दाने जैसे मकई, धान, आदि भी चढाये जाते हैं। उपर्युक्त भेंट के अर्पण के अतिरिक्त ईश्वर को देशी शराब भी चढायी जाती है।

जब भेंट चढायी जाती है, उस समय ग्रामीण पुजारी या बलिदाताओं द्वारा उपयुक्त कथनों का उच्चारण भी किया जाता है। किसी परिवार द्वारा ये धार्मिक कृत्य किये जाने की स्थिति में परिवार का मुख्य पुरुष अच्छी फसल, खुशी, स्वास्थ्यादि के लिए शुभकामना एवं वरदान के लिए अपने देवताओ या पूर्वजों की प्रार्थना करता एवं उन्हें मनाता है। जब ग्राम का पुजारी देवता को बलि देता है या उसकी पूजा करता है, तो उस स्थिति मे वह पूरे गाँव की खुशी, उन्नति एवं लोगो के स्वास्थ्य के लिए देवता को मनाता है।

कुछ विशेष अवसरो पर शामन के शामनकीय कृत्यो से भेंट संबंधित रहती है। बलिदान के समय धार्मिक कृत्य एव पूजा का विधिवत् संपादन होता है। उस समय पवित्रता पर काफी ध्यान दिया जाता है अन्यथा जीवात्मा के नाराज होने पर पूजा से संबंधित व्यक्तियो, परिवार या गाँव पर मुसीबत आ सकती है।

पूजा की समाप्ति के समय जनजातीय लोग खान-पान एवं नृत्य की प्रतीक्षा उत्सुकता के साथ करते हैं। यह पूर्णतया त्यौहार का रूप ले लेता है। अतः जनजातियों में त्यौहार उनके धार्मिक जीवन का अंग है। इसके साथ ही धार्मिक कृत्य की समाप्ति होती है।

इस प्रकार जनजातीय लोगों में धार्मिक-कृत्य के ये चार प्रकार हैं :

(क) स्वयं एक व्यक्ति की धार्मिक प्रक्रिया के विभिन्न अवसरों पर धार्मिक कृत्यों का संपादन, जो उस व्यक्ति के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु-पर्यन्त चलता रहता है।

(ख) पैतृक पूजा के लिए धार्मिक कृत्य—मृतक के जीव को पूर्वज की जीवात्माओं में सम्मिलित होने के लिए तथा परिवार एवं गोत्र के कल्याण के लिए इसका संपादन होता है।

(ग) व्यक्त एवं अव्यक्त शपथ प्रतिश्रुति (Promise) एवं कठिन परीक्षा की पूर्ति के लिए धार्मिक कृत्य।

(घ) त्यौहार, जो जनजातीय लोगो के धार्मिक कृत्य की सूची प्रस्तुत करता है।

जीवन के सोपान एवं पैतृक पूजा से संबंधित धार्मिक कृत्य के, जो आत्मा की अमरता से संबंधित है, संदर्भ मे पहले ही चर्चा की जा चुकी है। पशुओं की बलि को ही प्राथमिकता दी जाती है।

तीसरे प्रकार का धार्मिक कृत्य, व्यक्तिगत कृत्यों द्वारा परिलक्षित होता है। जब किसी परिवार में कोई बच्चा पैदा होता है तो पूर्वजों को मनाया जाता है एवं उनकी पूजा की जाती है। विभिन्न माताओं—चेचक की जीवात्मा, हैजा की जीवात्मा आदि—की पूजा की जाती है। मनौती की पूर्ति के लिए शामन या जादूगर आदि पर विजय पाने के लिए जीवात्माओं को मनाया जाता है। शामन या गुरु तेलपत्ता एवं झाड़-फूंक का प्रयोग करता है। शपथ या कठिन परीक्षा के लिए भी धार्मिक कृत्य किये जाते हैं। जब कोई व्यक्ति दुष्ट कर्म करता है तो उसे गाँव के धार्मिक केन्द्र पर ले जाया जाता है एवं उससे शक्तिशाली देवता या जीवात्मा के नाम से शपथ खिलायी जाती है। जनजातियों में ऐसा विश्वास है कि यदि कोई व्यक्ति झूठ बोलकर देवता के नाम से शपथ लेता है, तो उसे बहुत हानि होती है। वह मर भी सकता है। स्वयं को काटने का अनुष्ठान, आग पर चलना, गर्म किये हुए लाल लोहे को चाटना, मध्य भारत की जनजातियों के बीच लोकप्रिय कठिन परीक्षाएँ हैं।

चौथे प्रकार का धार्मिक कृत्य है त्यौहार जो जनजातीय लोगों को उत्साहित एवं प्रमुदित करता है। विभिन्न प्रकार के त्यौहारों के समय के धार्मिक कृत्य, लौकिक एवं धार्मिक दोनों पहलुओं को समाविष्ट करते हैं जिनका अर्थ विभिन्न त्यौहारों के धार्मिक—

कृत्यों के विश्लेषण से चलता है। ईश्वर के सम्मानार्थ जनजातीय लोगों द्वारा जत्तरा एवं मेला लगाया जाता है। त्यौहार एक दिन में भी समाप्त हो सकता है या कुछ दिनों तक चल सकता है। संथाल एवं मालेर के बंदना त्यौहार, मुण्डा एवं उरांव के करमा एवं सरहुल त्यौहार, भील के होरी त्यौहार आदि वर्ष मे बहुत दिनों तक मनाये जाते हैं। इन अवसरों पर विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। उन्हें प्रति दिन भेंट अर्पित की जाती है। इन दिनों लोग खाने-पीने, नृत्य करने में मस्त रहते हैं। कुछ दशाओं में युवक-युवतियों के बीच स्वच्छन्द समायोग भी होता है। त्यौहार के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा सकते है।

मध्य हिमालय मे खासा लोगो का सबसे प्रमुख त्यौहार 'माघ' है जो माघ के महीने मे होता है और एक महीने तक चलता है। प्रत्येक रात्रि लोग गाँव के कुछ घरों मे एकत्र होते है जहाँ वे बारी-बारी से लोकगीत एवं लोकनृत्य प्रस्तुत करते है। यह त्यौहार ऐसा है जहाँ लोग एक-दूसरे के गाँव मे बारी-बारी से जाते है एव अभ्यागतो का शराब एव स्वादिष्ट भोजनो से स्वागत करते हैं। त्यौहार के प्रथम दिन प्रातःकाल बकरे एव सुअरो की बलि दी जाती है जो संध्या तक चलती रहती है। इसका प्रारंभ एक बहुत बडे मेले से, जिसे बेस्सो मेला कहा जाता है, होता है। अप्रैल महीने के दूसरे सप्ताह में इस त्यौहार के होने के तुरत बाद यह मेला लगता है जो पाँच दिन तक चलता है। पर्वत की चोटी के ऊपर या किसी खुले मैदान मे रगीन कपडे पहने हुए हजारो की सख्या में जौनसर एकत्र होते है और विभिन्न प्रकार के लोक-नृत्य एव हास्य-लडाई करते है। मछली मारने के लिए मासमेला मौनसून ऋतु मे दुहो द्वारा लगाया जाता है। 'जगरा' एक धार्मिक त्योहार है जो अगस्त महीने के अत में मनाया जाता है। इस अवसर पर जौनसर-बावर की सबसे महत्त्वपूर्ण महासु की प्रतिमा को यमुना नदी मे स्नान कराया जाता है। महासु की प्रतिमा उपस्थित लोगो को समर्पित कर दी जाती है जिसे लोग अपने हाथों से नहलाते हैं। लोनाई के अवसर पर सितबर महीने मे गड़ेरिया लोग अपने जानवरो के झुड चराने के लिए ले जाते हैं एवं उसे स्नान कराकर अच्छा चारा एवं नमक देते हैं। अक्तूबर महीने मे पाँचो त्यौहार दसहरा के समकालिक होते हैं। उस समय मेला लगाया जाता और रामलीला का आयोजन किया जाता है। अत मे 'देवाली' उनके प्रमुख जाड़े के त्यौहार 'माघ' की घोषणा करता है। यह ऐसा समय है जब विवाहिता स्त्रियाँ घाती का कार्य करने के लिए अपने गाँव आती हैं। मध्य भारत मे छोटा नागपुर के 'उरांव' के धार्मिक निमंत्रण एव त्यौहार उनके आनंद मनाने के रूप में धार्मिक प्रथाओं के महत्त्वपूर्ण अग हैं। एक व्यक्ति के जीवनमे अनेक बदलती हुई परिस्थितियोंके कारण, उरांव समुदाय के लोग अलौकिक शक्ति की सक्रिय सहायता पाना चाहते हैं और जब विपत्ति आसामी

से टल जाती है तो समुदाय के लोग इसे पुनः मनाते हैं और सामाजिक गठबंधन के पुनर्नवीकरण के लिए नाचते हैं, पीते हैं, खाते हैं। राय (१९२८ : १३६, १९६२ संस्करण) ने विभिन्न धार्मिक कृत्यों, अनुष्ठानों एवं जादू से संबंधित और उरांव द्वारा सुरक्षा पाने के लिए ली गयी सावधानियों का वर्णन किया है। उन्होंने वर्ष के प्रत्येक नये सोपान पर सामुदायिक उन्नति के निमित्त सरल आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए की जानेवाली सावधानियों का भी वर्णन किया है जिसके परिणामस्वरूप उनमें सामाजिक-पुन-संयोग, दावत, प्रसन्नता होती है, जो उनकी सफलता का परिचायक है। मुख्य रूप से ये उद्देश्य हैं—(१) भोजन-संग्रह के लिए त्योहार, (२) शिकार करने का त्योहार, (३) पशुओं से संबंधित त्योहार एवं (४) कृषि-संबंधी त्योहार।

उरांव में भोजन-संग्रह की अवस्था के त्योहार से जोड़नेवाले दो धार्मिक त्योहार सरहुल या खद्दी और फागू हैं। जब तक सरहुल त्योहार नहीं मनाया जाता तब तक कोई भी उरांव नया फल, नये फूल या खाने योग्य पत्तियाँ नहीं खा सकता। चैत महीने के आसपास विभिन्न प्रकार के पौधे फूलते हैं और खाने योग्य पत्तियाँ निकलती हैं। कन्द भी निकलते हैं। उरांव के लिए इन सबमें साल का फूलना अधिक महत्त्व रखता है जो उनकी नजरों में प्रकृति के फूलने-सा है। अतः उरांव वसन्त के समय धार्मिक त्योहार अपने धार्मिक कुंज या सरना में मनाते हैं जिसमें साल का फूल एक आवश्यक तत्त्व है। इस त्योहार को लोग 'सरहुल' कहते हैं। 'फागू' त्योहार भी अधिक महत्त्व रखता है क्योंकि यह वर्ष का अंतिम त्योहार होता है। 'फागू' त्योहार का खाद्य-संग्रह से पुराना संबंध है जो उरांव की प्रथाओं में परिलक्षित होता है, अर्थात् यह वसंतमें शिकार करने के बाद ही मनाया जाता है ताकि उरांव लोग महुआ चुन सकें। यह शिकार करने के अनुष्ठान से निकट रूप से संबंधित है।

शिकार से संबंधित अनुष्ठान सामुदायिक आधार पर अर्थात् (१) फाल्गुन में फागू सेन्दरा (२) वैशाख में बिसु सिकारोर (३) ज्येष्ठ में जेठ शिकार व्यवस्थित किया जाता है। इन सभी शिकारों से संबंधित जादू-धार्मिक कृत्य एवं धार्मिक कृत्य हैं—बुरे शब्द, बुरे महीने, बुरी नजरों से रक्षा करने के लिए 'दंडकट्टा' अनुष्ठान का मनाया जाना और चांडी (शिकार का प्रतिनिधित्व करने वाली जीवात्मा) को बलि देना। इन शिकारों से संबंधित त्योहार जतरा एवं नृत्य द्वारा संपादित होते हैं।

एक सफल जतरा, जहाँ बहुत संख्या में लोग एकत्र होते हैं, वही है जो जादू द्वारा धान के पौधे को बढ़ने एवं अधिक फसल होने में मदद करता है।

पशु से संबंधित त्योहार, जिसे हिन्दुओं से लेकर उरांव जनजाति ने अपना लिया है, 'सोहराई' है जो कार्तिक महीने की पूर्णिमा को मनाया जाता है। इसमें विशेषतः जानवरों को

नहलाया जाता है एवं अधिक मात्रा में उड़द, मड़ुआ एवं गोंदी का अनाज, जो रात में उबाला जाता है, दिया जाता है। पशु के सींग, माथे एवं खुर को तेल में मिलाये हुए सिंदूर से लेपा जाता है।

उरांव जनजाति के लोग कृषि से संबंधित त्योहार भी मनाते हैं। ये त्योहार हैं—(१) हरे पौधों के कारण आषाढ़ में 'हरीअरी', (२) अगस्त में 'कदलोटा' जो बुरी नजरों से बचाने के लिए मनाया जाता है, (३) दूसरे दिन 'डंडाकटेटा', (४) अगस्त महीने मे करम एकादशी के दिन 'करमा त्योहार', (५) करम के बारह दिन के उपरान्त 'जितिआ', (६) 'धान डुबनी पूजा' या बोने का त्योहार, (७) बंगारी या धान-रोपने के समय धानों के पौधों की शादी, (८) नवाखानी या नये चावल खाना तथा (९) अगहन में दौनी करने के चबूतरे पर 'खरिहानी' त्योहार या खरपा पूजा।

मुण्डा लोग अनेक त्योहार मनाते हैं। उनमें से इन्हें उद्धृत किया जा सकता है—जनवरी में 'मागे परब' पूर्वजो को खुश करने के लिए मनाया जाता है। 'फागु' त्योहार हिन्दुओं की होली से मिलता है। अन्य त्योहार हैं—बा-परोब अर्थात् फूलों की दावत, होन-बा-परोब—बैसाख या ज्येष्ठ मे खेत में धान रोपने की शुरुआत, बटौली—आषाढ़ मे रोपनी के तुरत पहले, भादो मे करब, दसइ् अर्थात् दसहरा, कोलोम सिंगबोंगा—दौनी करने की भूमि की पूजा, जोम-नवा—आश्विन में नये चावल खाना, इन्द-परोब एवं कार्तिक मे सोहराई—इस अवसर पर जानवरों को अच्छी तरह खिलाया जाता है।

'हो' में सात मुख्य त्योहार होते हैं। ये त्योहार कृषि से संबधित होते हैं। इनके समय और ऋतु का कृषि की आवश्यकता के अनुसार निर्धारण किया जाता है। इन त्योहारों के अवसर पर वे लोग 'देस्सौली' को बलि अर्पित करते हैं। 'देस्सौली' उनके गाँव का देवता होता है जो उन्हे संपदा देता है, महामारी एवं दुष्ट जीवात्माओं से उनकी रक्षा करता है, वर्षा करवाता है और अच्छी फसल देता है। 'हो' के ये त्योहार हैं—(१) जनवरी-फरवरी में माघ, (२) मार्च-अप्रैल में बा, (३) मई मे दमुराई, (४) जून में हेरो, (५) जुलाई मे बहटौली, (६) अगस्त-सितंबर में जोमनामा और (७) अक्टूबर मे कालम। पहले चार त्योहारो में देस्सौली की पूजा की जाती है जब कि बाद के तीन त्योहारो में देस्सौली के अतिरिक्त अन्य बोंगाओं की पूजा की जाती है। भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने, प्राकृतिक एवं अति-प्राकृतिक विपत्तियों से फसल की रक्षा करने या ग्रामीण एवं अधिष्ठाता बोंगाओं को धन्यवाद देने के रूप में अनुष्ठान संपन्न किए जाते हैं। माघ ग्रामीणों के अंतर-संबंध एवं शादी ठीक करने आदि का त्योहार है। लोग प्रत्येक वर्ष त्योहारों के लौटने की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं। गाँववालों

को (केल्हन) त्यौहार के अवसर पर अपने कार्य के स्थानों से वापस लौटना पड़ता है और उनमें शरीक होना पड़ता है। खास धार्मिक विधि, पशुचारी नकलों (भावभाषा), जंगल में पीछा करने एवं शिकार को खोज निकालने का नाटकीय ढंग से संपादन (ओटे-डल्ली), सफाई एवं पवित्रीकरण (लोयो), मरंग परब (मुख्य त्यौहार), एवं बोंगाहार अर्थात् गाँव के बाहर एक खास स्थान पर बोंगा के निष्कासन आदि का समावेश करता है।

सवराओं के त्यौहार उर्वरा शक्ति की धार्मिक विधि को व्यक्त करते हैं। अप्रैल-मई में अब्बानादुर नये पुष्पों का त्यौहार है जब उदानादुर—पके हुए आमों का त्यौहार है। मीठे आलू एवं जड़ों के लिए 'गनुगायानदुर' त्यौहार मनाया जाता है जिसके बाद गाँव जड़ें उखाड़ने के लिए स्वतंत्र रहते हैं। 'किन्देमान्दुर', जो मोटे चावल का त्यौहार है, सितम्बर के अंत में मनाया जाता है। लाल चना की कटनी के लिए मुख्य सवरा त्यौहार 'रगोनादुर' दिसंबर एवं जनवरी में मनाया जाता है।

उपर्युक्त वर्णन खास रूप से जनजातीय देवकुल के देवताओं की पूजा से संबंधित है। जनजातीय लोग मिथक से उसका अनुमोदन करते हैं। ये मिथक एवं गाथाएँ सारी स्थिति को स्पष्ट कर देती हैं और लोगों को या तो कथित वीर के सम्मान का या उसकी स्मृति का या मिथक शास्त्र मे वर्णित घटना के आधार पर त्यौहार को मनाने का निर्देश करती हैं। जनजातीय लोगों के धार्मिक कृत्यों, नृत्यों एवं गीतों मे मिथक शास्त्र के कुछ खण्डो की झलक मिलती है।

सभी धार्मिक कृत्य गीत, नृत्य एवं कथाओं से जुड़े हुए हैं जो लोगो को पौराणिक कथाओ से परिचित करते हैं। त्यौहार से जुड़ी कहानी एक खास व्यक्ति या समूह द्वारा अपनायी गयी प्रथाओं एवं विश्वास की व्याख्या करती है, साथ ही त्यौहारों एवं धार्मिक कृत्यों की महत्ता भी बताती है। इन कहानियों, नृत्यों एवं गीतों में जनजातीय लोगों की बुद्धि एवं अभिव्यक्ति प्रकट होती है। मुण्डा में 'करम' त्यौहार से संबंधित कहानी करम एवं धरम की तरह उनके कर्तव्य एवं अधिकारों की व्याख्या करती है। गीतों में उनके देव एवं ऋतु का वर्णन मिलता है। एक 'करम' गीत में अनावृष्टि के प्रभाव एवं देवता की उपस्थिति का वास्तविक वर्णन मिलता है। राय (१६१२: २१३) ने इस प्रकार का एक गीत अभिलिखित किया है जो निम्नांकित है :

धूल उड़ रही है,
पृथ्वी से लेकर आकाश तक,
पूरे कुहासे की तरह छा गयी है।
वर्षा नहीं हो रही है।

आषाढ़ एवं सावन में मूसलाधार वर्षा होती है
भादों में खिलखिलाती हुई धूप पृथ्वी पर पड़ती है ।
फिर भी अभी तक वर्षा क्यों नहीं हुई ?
ऊपर स्वर्ग है जहाँ सूर्य शासन करते हैं
नीचे मरंग देव का शासन है ।
फिर भी अभी तक वर्षा क्यों नहीं हुई ?
भूख की वेदना, जोरों की प्यास के साथ लारगोर की
तरह मृत्यु होती है ।
इस अकाल के समय हमलोग मृत्यु के कगार पर खड़े होते हैं ।

नृत्यों में भी लोगो की क्रिया के साथ-साथ धार्मिक उल्लास परिलक्षित होता है । कुछ नृत्यों में किसी देवता, अवसर या कुछ ऋतु-संबधी क्रियाएँ, जैसे बोना, काटना, आदि का स्वांग-भरा प्रतिनिधित्व होता है ।

इस सब से ज्ञात होता है कि नृत्य, गीत, कहानी सुनाना, मिथक एवं गाथा धार्मिक कृत्य के अंग हैं । एक ओर ये जनजातीय अभिव्यक्ति के साधन है तो दूसरी ओर उनकी धार्मिक विधियो एव विश्वासो का अनुमोदन करते है ।

दूसरे विश्वासो का प्रभाव

जनजातीय लोगों का अपना देवकुल होता है । फिर भी वे गैर-जनजातीय पड़ोसियों एवं ब्रिटिश शासको के विश्वासों से मिले हुए है । इन सबमे सबसे अधिक प्रभावकारी हिन्दू धर्म एव ईसाई धर्म रहे हैं जिन्होंने उनके धार्मिक विश्वासों को झकझोर डाला है । उनपर हिन्दू धर्म का प्रभाव सदियो से रहा है । ईसाई धर्म का संपर्क अपेक्षाकृत आधुनिक है । इनका प्रभाव जनजातियों मे प्रचलित विभिन्न विश्वासों एव धार्मिक त्यौहारो में परिलक्षित होता है । उनमे से कुछ अपने परंपरागत धर्म को भूल चुके हैं और नये को अपना लिया है । कुछ लोगो ने अपने धर्म के सुधरे हुए रूप को अपना लिया है ।

नृजातीय वैज्ञानिको द्वारा हाल में किये गये अध्ययन से, खास तौर से उत्तरी, पश्चिमी एव मध्य भारत की जनजातियो के अध्ययन से कोई भी संदेह नहीं रह जाता कि कुछ जनजातियों का हिन्दूकरण हो गया है जो विभिन्न स्तरों पर हिन्दुओं की विभिन्न जातियो में मिल गयी हैं (घुर्ये, १९६३) ।

---

१. देखें, कल्चर चेंज इन ट्राइबल इण्डिया ।

उत्तरी-पश्चिमी हिमालय और मध्य हिमालय क्षेत्र की जनजातियों ने अपने धर्म को हिन्दू धर्म से संबंधित कर लिया है। थारू (श्रीवास्तव, १९५८) एवं खासा (मजुमदार, १९६२) अपने को क्षत्रिय और ब्राह्मण बनाने में सफल हो सके हैं।

मध्य भारत में छोटा नागपुर के चेरो, खरवार, परहिया, पश्चिम चंपारण के गोंड एवं थारू, पश्चिम बंगाल के भूमिज एव मध्य प्रदेश के राजगोंड ने अपने को क्षत्रिय घोषित किया है। छोटा नागपुर के मुण्डा एवं उरांव के ऊपर वैष्णव संप्रदाय का बहुत प्रभाव पड़ा है (सच्चिदानंद, १९६४ : ८६-१०४)। पश्चिम बंगाल के माहली ने हिन्दू जीवन-पद्धति को बहुत हद तक अपनाया है। मुण्डा क्षेत्रों में मांझी को एक जाति माना जाता है (विद्यार्थी, १९६६)।

उरांव के हिन्दूकरण का पूरा विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है। जनजातीय अध्ययन के दौरान राय (१९२८) ने इस बात का पता लगाया कि किस हद तक उरांव ने हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासो को अपनाया है और देशज परंपरा में अपने को उसके अनुकूल बनाया है। उरांव के पहले के धर्म की मुख्य विशेषता थी जीवात्मा के अस्तित्व एवं धर्मेश अर्थात् सूर्य देवता पर विश्वास, परन्तु दूसरी ओर वे बंई-भाक (दुष्ट मुख) पर भी विश्वास करते थे जिसमें दुष्ट प्रवृत्ति के बलों का समावेश है (राय, १९२८, २७७,१९७२ प्रिंट)। राय का विश्वास है कि जब उरांव रोहतास के राजा द्वारा शासित थे तो वे लोग न तो भूत या जीवात्माओ के बारे में जानते थे और न गाय का मांस या गंदा भोजन करते थे बल्कि उन लोगों की आदतें अच्छी थीं और वे अनेक तक पहनते थे। जब उरांव लोग मुण्डा के संपर्क मे आये तो वे धीरे-धीरे उनकी प्रथा में समंजित हो गये एवं जीवात्माओं में विश्वास करने लगे। बाद में जब उरांव हिन्दुओं के संपर्क में आये तो वे लोग महादेव एवं पार्वती या देवी माई या शक्ति के विचार को अपने ईश्वर की जीवात्मा की धारणा में समावेशित कर लिया, जो आश्चर्य की बात नही हो सकती। समय के दौरान संपर्क द्वारा विचार की उन्नति के साथ-साथ कुछ जीवात्माओं का प्रवेश हुआ, जैसे पितृक जीवात्मा, ग्राम जीवात्मा या लाहुत-भूत। सच्चिदानंद (१९६४ : ९६) ने उरांव के बीच हुए हिन्दूकरण का विस्तृत विश्लेषण किया है। उरांव लोग श्रावन में सावनी पूजा करते हैं एवं देवी मंडप पर बकरे का अर्पण करते हैं। पाहन पूजा की शुरुआत सुगंधित पदार्थ, हँड़िया, गुड़, घी, सिंदूर एवं बेलपत्र से की जाती है। कुछ युवा उरांव मंत्र सीखते हैं एवं हिन्दू देवताओं की पूजा करते हैं। लोग विभिन्न अवसरों पर भजन गाते हैं। कुछ परिवार के लोग पूजा करने देवथान भी जाते हैं।

हाल में हिन्दूकरण तीव्र गति से होना प्रारंभ हुआ है। राय (१९२८: २२७-१९७२ प्रिंट) ने इन पाँच धार्मिक वादो का वर्णन किया है—(१) नेन्हा भगत या भुईफुट भगत, (२) हिन्दूकृत या बछीदान भगत, विष्णु भगत को मिलाकर, (३) कबीरपंथी भगत, (४) टाना भगत एवं (५) हिन्दू आंदोलन। उन लोगो में भक्ति-पूजा का उद्भव पहले नही तो अठारहवी सदी के मध्य में हो सकता है। सभी भगतो—नेन्हा एवं बछीदान—की आवश्यकता आनुष्ठानिक शुद्धता जैसे भोजन, मद एवं दूसरी आदतो के नियमो को कायम रखने के लिए पड़ती है। सभी लोग उन सामाजिक प्रथाओं एव नियमो का पालन करते हैं जो भगतो की आनुष्ठानिक शुद्धता के विचारो का उल्लंघन नहीं करते। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भगतो को शक्ति ईश्वर या महादेव की कृपा से मिलती है। इस तरह की शक्ति प्रायः उस आधिभौतिक स्वभाववाले पुरुष को प्राप्त होती है जो दैवी कृपा के पूर्व अपना विलासिता पूर्ण जीवन-यापन करने के बाद प्राकृतिक उत्कंठा से परे हो गया है एवं तटस्थ जीवन-यापन करता है, दैवी वस्तुओं मे अधिक समय तक व्यस्त रहता है, एव महादेव की पूजा करता है। साधना से आवेशित मस्तिष्क द्वारा या स्वप्न में देखने के बाद, ऐसा कहा जाता है कि दूसरी सुबह महादेव का पत्थर जमीन के अंदर से झोपड़ी के चबूतरे पर या आँगन में निकलता है। इस तरह के महादेव को 'भुईफुट' महादेव कहा जाता है एवं व्यक्ति 'भुईफुट' भगत बन जाता है।

कुछ संपन्न परिवारों ने मूल भगत की संतान हिन्दू गुरुओं को स्वीकार कर लिया है जिसे बाछीदान भगत कहा जाता है। यह उद्धृत किया जा सकता है कुछ अर्द्ध-हिन्दूकृत भगत, जो वैष्णव को अपना गुरु मानते हैं, अपने को विष्णु भगत कहते हैं और उन लोगों ने विष्णु या श्रीकृष्ण को स्वीकारा है।

उरांव मे बुद्धिजीवी पुरुष स्वच्छ जिंदगी बिताते हैं। उनके उच्च अध्यात्मवादी विचार होते हैं। कबीर के उपदेशो ने उन्हें आकर्षित किया है और उनके देशज भगतों ने कबीरपंथ के सिद्धान्तों को अपनाया लिया है। जो कबीरपंथी होता है वह प्रातःकाल सतसाहेब या संत कबीर का उच्चारण करता है। इसके अतिरिक्त वह कभी भी इस शब्द का उच्चारण कर सकता है। कबीरपंथी का धार्मिक उत्सव, जिसे 'छलिका' कहा जाता है, जन्म, शादी-विवाह, मृत्यु आदि के अवसरों पर, उनके अपने कृत्यों के अलावा, मनाया जाता है।

बीसवीं शती में भक्ति-संप्रदाय के अंतर्गत एक और आंदोलन चला। नये आंदोलन से उरांव नेताओं को संशय हुआ कि उनकी पुरानी जीवात्माएँ, जिनकी मदद वे बहुत दिनों से चाहते रहे थे, उनकी आर्थिक कठिनाइयों एवं भूमि-संबंधी कठिनाइयों को दूर करने में

शक्तिहीन हो गयी हैं। उन्हें शंका हुई कि वे जीवात्माएँ मुण्डाओं की जीवात्माएँ हैं जो उनकी दयनीय स्थिति के कारण है। तदनुसार उन लोग ने अपने विश्वासों में सुधार किया जिसे 'कुरूखधरम' कहा जाता है। उनकी स्तुति में 'टानों' या "टाना' (खींचना एवं खींचने की क्रिया) शब्द के अधिक व्यवहार के कारण वे लोग अपने पड़ोसियों द्वारा "टाना' भगत कहे गए। सच्चिदानंद (१९६४ : १००) ने 'टाना' शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की है। शायद 'टाना' शब्द की उत्पत्ति जतरू भगत के मस्तिष्क की देन है। १९१३-१४ में इस प्रवर्तक नेता ने सभी उराँवों को एक सूत्र में बाँधने की कोशिश की। "टाना' आंदोलन के नेताओं ने उराँव की उन पुरानी प्रथाओं में यथोचित सुधार किया है और उन्हें सरल बना दिया है जो उनके जन्म, शादी एवं मृत्यु से संबंधित थीं।

जहाँ तक ईसाई धर्म के प्रभाव का प्रश्न है, यह धर्म जनजातियों के धार्मिक विश्वासों मे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। ईसाई मिशनरी विभिन्न संप्रदायोंके हैं और ये जनजातियों को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने के उद्देश्य से काम कर रहे हैं। इसके लिए इन लोगों ने सामाजिक सेवा, शिक्षा एव दवा-दारू की सुविधा आदि को अपना साधन बनाया है। इनका सबसे पहला प्रभाव मेघालय के खासियों मे १८१३ ई० में, छोटा नागपुर के उराँव मे १८५० ई० में। और मध्य प्रदेश के भीलों में १८८० में देखा गया है।

प्राप्त आँकड़ो के अनुसार जनजातीय आबादी का ५½ प्रतिशत भाग ईसाई धर्म में विश्वास करता है। यह संख्या २० लाख के लगभग है। सबसे अधिक संख्या में ईसाई धर्म को माननेवाले आधे आदिवासी उत्तरी-पूर्वी हिमालय क्षेत्र में पाये जाते हैं और उनकी आधी जनसंख्या मध्य भारत में, विशेषकर बिहार, उड़ीसा एवं मध्य प्रदेश के क्षेत्रों में रहती है। पूर्वी द्वीपों में जनजातीय संख्या के दो-तिहाई भाग में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ है। दक्षिण भारत में केरल ही ऐसा राज्य है जहाँ ईसाई धर्म के अनुयायी लगभग १० हजार की संख्या में हैं।

ईसाई धर्मावलम्बी जनजातियों में सबसे अधिक संख्या उराँव की है जो लगभग चार लाख है। मुण्डाओं, मिजो एवं नागाओं को मिलाकर ईसाइयों की संख्या लगभग दो लाख है। खासी एवं गारो में ईसाई धर्म को माननेवालों की संख्या एक से दो लाख तक है। खड़िया, तगखाल एवं थारू मे ईसाइयों की संख्या आधे लाख या उससे अधिक है। मिजो, खासी, तोंगखुल, नागा एवं खड़िया, इन मुख्य जनजातियों में ईसाइयों की संख्या आधे लाख से अधिक है। पूर्वी हिमालय की सभी छोटी जनजातियाँ हमार, लाखेर, पावी, अनाल, छोये, खरामी, कोम, जनमाला एवं सिमते तथा केरल की पहाड़ी पुल्या, मल्लयारयन एवं पल्लियार ने ईसाईकरण का सामना बहुत हद तक किया है। जनजातीय आबादी का दो-तिहाई भाग ईसाई धर्मावलम्बी बन गया है।

केरल को छोड़कर दक्षिण एवं पश्चिम भारत में ईसाई धर्म का प्रभाव नाम मात्र पड़ा है।

ईसाइयत ने जनजातियो को पश्चिमीकरण का प्रथम प्रतिमान चर्च संस्था, पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी मूल्य एवं नैतिकता के रूप में दिया है। मजुमदार एवं राय द्वारा छोटा नागपुर मे धर्म-परिवर्तन के कारणो का विश्लेषण किया गया है। छोटा नागपुर की अधिकाश जनजातियाँ ईसाई धर्म द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित की गई हैं। मुण्डा, उराँव एवं खड़िया में ईसाई धर्म के अनुयायियों की उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। ये जनजातियाँ मुख्यतः रांची जिले में पायी जाती हैं। मजुमदार (१९३७ : १२७) का कहना है कि हिन्दू जमीदारों एव आदिवासी रैयतो के बीच संबंध असतोषजनक रहा है जिसका विस्तृत विवरण राय ने मुण्डा-सबंधी अपने प्रबंध मे दिया है। इसमे जिले की जनजातीय आबादी मे ईसाई बनने की सख्या मे बढ़ोत्तरी की व्याख्या की गयी है। 'हो' एवं 'सथाल' मे ईसाइयो की सख्या कम है। मजुमदार (१९३७ : १२७) द्वारा स्थिति की व्याख्या की गयी है। इसके अनुसार जब मुण्डा लोग अनुत्तरदायी जमीदारो द्वारा भयंकर रूप से सताये जा रहे थे, हो एव सथाल लोग तुलनात्मक रूप से अधिक शांत जगह चले गये एवं वहाँ अपना घर बसाया, जो न तो जमीदारो का था या न मध्यम दर्जे के पुरुष द्वारा अधिकृत किया जाने वाला था। हो कोल्हन को अधिकृत करते है, जहाँ केवल वेही लोग रहते है एव संरक्षात्मक शासन का निर्माण करते है। सथाल लोग अपने मूल स्थान से बहुत दूर चले गये और एक बहुत बडे क्षेत्र मे फैल गये। अतः 'हो' एवं संथालो को अपनी आर्थिक दुरवस्था से मुक्त होने के लिए सघर्ष करने मे मिशनरियों की सहायता की आवश्यकता अधिक महसूस नही हुई। ईसाईकरण की वृद्धि के बारे मे मजूमदार (१९३७ : १२८) ने निष्कर्ष दिया है कि जहाँ जनजातीय लोग अधिक संख्या मे एवं सघन समूहों मे रहे है, वहाँ उनकी सस्था मजबूत रही है एव उनका ईसाई धर्म मे परिवर्तन नहीं हुआ है। इसका एक अनोखा उदाहरण 'हो' जनजाति है।

उराँव और मुण्डाओं मे ईसाईकरण का उदाहरण लिया जा सकता है। सच्चिदानंद (१९५४ : १०५) का कहना है कि मुण्डा एवं उराँव कि सांस्कृतिक परिवर्तन का कोई भी अध्येता आदिवासी जीवन पर ईसाई मिशन के प्रभाव को नकारने का प्रयास नही कर सकता। उनमें परिवर्तन के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी ईसाई मिशन ही है। ज्योंही धर्म-परिवर्तन हुआ, जनजातीय लोगों को पुराने विश्वासो एवं प्रथाओं को छोड़ देने के लिए कहा गया। ईसाई जनजातियाँ विभिन्न ईसाई त्योहारो, जैसे क्रिसमस, ईस्टर, आल सेंट्स के इस्राइल यात्रा आदि मनाती हैं। जनजातीय विश्वासों एवं त्योहारों की

पुनः सांस्कृतिक व्याख्या की जाती है। 'सरहुल' त्यौहार की उत्पत्ति का स्रोत सिकंदर एवं पोरस के बीच ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हुई लड़ाई से माना जाता है। संक्षेप में कहानी इस प्रकार है—राजा पोरस मुण्डा के राजा थे। वह समय चैत्र का महीना था एवं सालके फूल फूल रहे थे। साल इतना प्रचुर थे कि हाथी सालके जंगल में घूम रहे थे। परंतु जब शत्रु ने हाथी की सूंडों को काटना प्रारंभ किया तो हाथी पीछे की ओर लौटने लगे जिसके परिणामस्वरूप मुण्डा लोग अपने ही हाथियों द्वारा कुचले गये। मुण्डा लोग पराजित हुए और पोरस को बंदी बनाया गया। अब वे लोग अपने पूर्वजों की यादगार में उस दिन शोक एवं दुःख के प्रतीक के रूप में उपवास करते है। दूसरा दिन हर्ष का दिन होता है क्योंकि सभी पूर्वज स्वर्ग चले जाते हैं। चर्च मण्डी का विकास चर्च के नजदीक होने के कारण स्थानीय पुजारी या पादरी के निर्देश मे या चर्च फादर के प्रभाव के कारण हुआ है। कुछ गाँवो में ईसाई धर्म के अनुयायी मुण्डा, ईस्टर के अवसर पर कब्रों पर स्मरण-पत्थर रखते हैं।

ज्योतिसेन ने छोटानागपुर में सामुदायिक विकास के अध्ययन के दौरान ईसाईकरण की दिशा की खोज की। उनके (१९६८ : ६५) अनुसार जहाँ तक ईसाई मिशनरियों का प्रश्न है, वे यथासंभव परिस्थिति के अनुसार अच्छा कार्य कर रहे है परन्तु ईसाई मिशनरियो का ध्येय है ईसाई धर्म को उत्कृष्ट अध्यात्मभाव के रूप में स्वीकार कराना, जो अनुचित है। यदि भारत की साधारण जनता एक बार सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के रास्ते पर चलना प्रारंभ कर दे तो ये अपना अधिक मूल्य एवं आकर्षण खो देंगे। मिशनरियो के अधीन प्रगतिशील दौड़ मे भाग लेने का कारण साधन के अलावा कुछ और नहीं है।

सहाय ने जनजातियों पर ईसाइयत के प्रभाव के बारे में पाँच प्रकार की सांस्कृतिक प्रक्रियाओ, जैसे दोलन (आसिलेशन), संवीक्षण 'स्क्रूटिनाइजेशन), संयोग (कॉबिनेशन), देशीकरण (इंडिजिनेशन) और पश्चनति (रिट्रोवर्शन) का उल्लेख किया है।

अंतः हम पाते है कि धर्म के प्रति जनजातीय लोगों के विचार में अनेक तत्व हैं जिनको मिलाकर जनजातीय जीवन का एक चित्र मिलता है। जैसा हमने पूर्ववर्ती आर्थिक व्यवस्थाके अध्याय में देखा है, इसमें संदेह नहीं कि पारिस्थितिक जनजातीय संस्कृति के रूप एवं प्रकार का पता लगता है परंतु इस अध्याय में उनकी धार्मिक क्रियाओं एवं विश्वास का वर्णन हमे इन निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि लौकिक विश्वास एवं धार्मिक कृत्य के वातावरण ने जनजातीय संस्कृति को प्रभावित किया है और एवं उसमें सुधार लाया है। जनजातीय लोगों को संस्कृति की व्याख्या करने के लिए सर्वांगीण अभिगम की आवश्यकता है एवं उनकी संस्कृति के संरूप में धार्मिक जीवन का एक महत्वपूर्ण योगदान है। भारतीय

मानवविज्ञान द्वारा निर्माणावस्था के मनुष्य की क्रियाओं एवं प्रकृति पर ध्यान देते हुए संस्कृति की व्याख्या करने के लिए अनेक अध्ययन किये गये। परंतु भारत में मानव-विज्ञान की विश्लेषणात्मक अवस्था के विकसित अध्ययनों मे मनुष्य का संबंध केवल पारिस्थितिकी या वस्तु के स्तर पर नहीं था। जनजातियों के जीवन की प्रत्येक अवस्था में अदृश्य जीवात्मा के संसार का प्रवेश है जो उन लोगों के लिए आकस्मिक विशेष घटनाओं एवं व्याख्यातीत अनुभवो का स्पष्टीकरण करनेके लिए एक साधन है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रकृति-मनुष्य-जीवात्मा अभिगम जनजातीय संस्कृति के वर्णन के लिए लाभदायक है। जनजातियों का जीवात्मा-संसार उनकी अनेक वस्तुओ की व्याख्या करता एवं जनजातीय सस्कृति के अध्ययन के लिए एक पद्धति प्रस्तुत करता है।

इस विश्लेषण के प्रारम्भ में हमे जनजातियों में प्रचलित विश्वासो की प्रकृति के दर्शन होते हैं जो अपने आपमे जीववाद से लेकर बहुदेववाद को तक सम्मिलित करती है। मिथक एव गाथाएँ उन्हे अनुज्ञप्तियां प्रदान करती हैं। वे लोग सभी प्रकार की जीवात्माओं की, चाहे वे हितकारी हो या अहितकारी, पूजा करते हैं। उनकी झोपड़ियाँ, उनके गाँव, मैदान एव जंगल सभी धार्मिक केंद्रो से भरे हैं। परिवार के प्रमुख पुरुष का यह उत्तरदायित्व है कि वह परिवार के स्तर पर देवी-देवताओ की पूजा करे। गाँव का पुजारी इसका उत्तरदायित्व सामुदायिक स्तर पर लेता है। जनजातियों की भूत-प्रेत से रक्षा करने के लिए उनमे शामन एवं जादूगर है। धार्मिक कृत्यो के अवसर पर देवी-देवताओं को अडे से लेकर भैंस तक अर्पित की जाती हैं। लोग धार्मिक उत्सवो की बाट उत्सुकता के साथ जोहते हैं। पैतृक जीवात्माएँ अपने नये वंशजो द्वारा पूजित एवं पसद की जाती हैं। जनजातीय लोग पूर्वजो को अपने परिवार एव गृहो के देव मानते हैं जो जीवन के प्रत्येक कदम पर उनकी मदद करते है। यह भी देखा गया है कि जनजातीय लोगो ने अपने विश्वासों एवं धार्मिक कृत्यों को दूसरो के विश्वास के साथ जोड़ लिया है। हिन्दुत्व उनमें सक्रिय है जो सदियों से उनके निकट पड़ोसी एवं आदर्श प्रतिमान के रूप में रहा है।

अध्याय १०

भारत की जनजातियों में सांस्कृतिक परिवर्तन

(क) सांस्कृतिक परिवर्तन

भारत की जनजातियों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन उनके अपने आवरण में फलता-फूलता रहा है। फिर भी, उनके निकट के पड़ोसियों तथा आस-पास की आर्थिक एवं सामाजिक घटनाओं एवं प्रक्रियाओं का भी प्रभाव सदियों से उनपर पड़ रहा है। आधुनिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों का प्रभाव अपरिहार्य है। ऐसी स्थिति में उनमें सामाजिक परिवर्तन एक वास्तविकता है। हाँ, उसकी दिशा क्या है और वह किस रूप में सामने आयी है, यह विश्लेषण का विषय है।

सर्वप्रथम यह उचित होगा कि हम उन तत्वों की चर्चा करें जो उनके सामाजिक जीवन पर प्रभाव डालते हैं और उनमें एक नवीन या परिवर्तित सांस्कृतिक जीवन की संभावनाएँ पैदा करते हैं। सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी दो तत्त्व हैं—(क) परम्परागत एवं (ख) आधुनिक।

(क) परम्परागततत्त्व

(१) हिन्दूकरण—जनजातियों के सबसे पुराने एवं निकट के पड़ोसी हिन्दू, उनकी सभ्यता और उनका धर्म—इस तत्त्व से प्रस्फुटित सामाजिक परिवर्तन को 'हिन्दूकरण' की संज्ञा दी जा सकती है।

(ख) आधुनिक तत्त्व

(२) ईसाईकरण—ईसाई धर्मावलम्बियों द्वारा उनमें ईसाई धर्म फैलाना और धर्म-परिवर्तन करना। इसे एक शब्द में 'ईसाईकरण' नाम दिया जा सकता है। इसकी विस्तृत चर्चा हम पिछले अध्याय 'भारतीय जनजातियों के बीच ईसाई धर्म' में कर चुके हैं।

(३) कल्याणकारी योजनाओं का प्रभाव—जनजातियों के लिए विगत पचीस वर्षों में अनेक सरकारी कदमों द्वारा विभिन्न दिशाओं में विकास किया गया और यह क्रम जारी है। सामान्यतया विकास सामुदायिक विकास-कार्यक्रम के अधीन है। विकास के लिए इन क्षेत्रों में कल्याणकारी कदम उठाये गये, यथा—

(क) शिक्षा,
(ख) संचार,
(ग) कृषि एवं पशु-विकास,
(घ) स्वास्थ्य कार्यक्रम, और
(ङ) पंचायती राज की व्यवस्था।

(४) शहरीकरण—जनजातीय क्षेत्रों पर शहरो का प्रभाव भी विशेष पड़ा है और उनके लोक-जीवन मे नयी सभ्यता के अनेक तत्त्वों का समावेश हुआ है। यह प्रक्रिया 'शहरीकरण' की संज्ञा से अधिक अच्छी तरह समझी जा सकती है।

(५) औद्योगीकरण—जनजातीय क्षेत्रो में प्राकृतिक सम्पदा की भरमार के कारण देश के बडे-बडे उद्योग जनजातीय क्षेत्रों मे शुरू किये गये हैं। इसके कारण जनजातियो के सम्पर्क में नये लोग, नयी प्रथाएँ, नयी चीजें और नयी विधियो का आना स्वाभाविक है और उनके जीवन पर औद्योगीकरण का प्रभाव भी उनके बीच सामाजिक परिवर्तन को दिशा दे रहा है।

इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए और भी अनेक उत्तरदायी तत्त्व है और उन्हे अलग-अलग नाम दिया जा सकता है, यथा, भक्ति-आन्दोलन, जिसे 'हिन्दूकरण' के अन्तर्गत ही देखा जा सकता है या 'आधुनिकीकरण' जिसे कुल मिलाकर कल्याणकारी योजनाओ के प्रभाव एव शहरीकरण के अन्तर्गत वर्णित किया जा सकता है। अतः मूलत. उक्त पाँच तत्त्वो का ही विशद विवेचन आगे किया जा रहा है।

हिन्दूकरण : जनजातियों पर हिन्दुओ का प्रभाव

इसमे रंच मात्र भी सन्देह नही कि भारत की जनजातियाँ सदियों से यहाँ की हिन्दू जनता एव सभ्यता के साथ-साथ रहती आ रही है। हिन्दुओं की सदियों की निरन्तर समीपता ने जनजातियो के जन-जीवन मे तथा उनकी जीवन-शैली में गहराई तक प्रभाव डाला है। घुर्ये ने तो उन्हे 'पिछड़े हिन्दू' की संज्ञा दी है। उनके सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे हिन्दुओ का स्पष्ट एवं ठोस प्रभाव झलकता है। प्रभाव की सीमा, प्रकार, सुधार आन्दोलन आदि विभिन्न क्षेत्रो की जनजातियों मे भिन्न-भिन्न मात्रा एवं दिशा मे परिलक्षित हैं। प्राप्त मानव-वैज्ञानिक जानकारियों के अनुसार जनजातियों ने अर्द्ध-पृथकता से लेकर पूर्ण आत्मसात् होने की स्थिति तक को प्राप्त किया है। इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। अनेक जनजातियो ने क्रमशः जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत कालान्तर में स्थान पा लिया है। विभिन्न मानवविज्ञानियो ने जो आँकड़े या विवरण एकत्र किये

हैं, उनसे यह बात और स्पष्ट हो जाती है। यह स्थिति विशेषकर उत्तर, पश्चिम एवं मध्य भारत की जनजातियों के साथ विशेष रूप से द्रष्टव्य है (घुर्ये, १९५८)।

हिमालय के थारू (श्रीवास्तव, १९५८) एवं खासा (मजुमदार, १९६२) जैसी जनजातियों के अध्ययन में ज्ञातव्य है कि अपनी संस्कृति के कुछ विशिष्ट तत्त्वों को कायम रखते हुए उन्हें जाति-व्यवस्था के विशाल आवरण में 'क्षत्रिय' की मान्यता मिल गयी है। थारुओं ने जनेऊ धारन, करठा-कुर परिवार से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर तथा अपने जीवन-पथ के संस्कारों को हिन्दू-प्रथाओं के अनुरूप प्रतिपादित कर ठाकुर कहलाना पसन्द किया है। खासा लोगों ने भी स्थानीय ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की जीवन-शैली अपनाकर तथा उनकी पदवियाँ या नाम ग्रहण कर अपने लिए तथाकथित राजपूत या ब्राह्मण का नाम प्राप्त कर लिया और समाज के सिरमौर बन गये हैं।

हिन्दुओं की क्षत्रिय-जीवन-शैली से मध्य भारत की भी अनेक जनजातियाँ विशेष रूप से प्रभावित हैं। इसे श्रीनिवास के सम्कृतीकरण (१९६२) के संदर्भ में और अच्छी तरह समझा जा सकता है जिसमे उन्होंने जाति-विशेष द्वारा अपने सामाजिक स्तर को उठाने के लिए ब्राह्मण-जीवन-शैली के कुछ तत्त्वों तथा जनेऊ धारण करने आदि को अपनाने की प्रक्रिया का वर्णन किया है। क्षत्रिय-जीवन, शैली अपनाने और क्षत्रिय कहलाने के सन्दर्भ से मध्य भारत की कतिपय जनजतियाँ ये हैं—पलामू (बिहार) के चेरो, खरवार तथा पढ़ैया, वीरभूमि (बंगाल) के भूमिज, गोडवाना (मध्य-प्रदेश) के राजगोंड। १९३५ ई० मे आयोजित भूमिज क्षत्रिय संघ का मूल उद्देश्य ही यही था कि भूमिजो को क्षत्रियो की समकक्षता दिलायी जाय, जिससे उन्हे बृहत् हिन्दू समाज में ऊँचा स्थान एवं महत्त्व मिल सके (एडवर्ड, १९६१)।

मध्य भारत की भूमिज, मुण्डा तथा गोंड सदृश जनजातियों ने अपने-अपने इलाकों में अपना राज्य-सा स्थापित कर रखा था, तथा छोटा नागपुर का मुण्डा राज, वीरभूमि का भूमिज राज, गोंडवाना का राजगोंड राज इत्यादि। इन सब राजाओं की स्थापना जनजातीय आधार पर ही उनके आन्तरिक विकास से क्रमशः हुई है (सिन्हा, १९६१)।

पलामू के चेरो और खरवार सदियो से हिन्दू समाज के मध्य रहते आये हैं तथा उनके जीवन का ढंग भी क्रमशः हिन्दू जैसा होता गया है और अन्ततः स्थानीय जाति-व्यवस्था में उन्होंने 'क्षत्रिय' का स्थान पा लिया। उनके उज्ज्वल अतीत की कहानी आज भी पलामू का किला कहलाता है। चेरो लोगों के पलामू के किले को भी मुण्डा राज और राजगोंड राज के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। इन लोगों के बीच 'हिन्दूकरण' की इतनी गहरी नींव है कि उस क्षेत्र के पढ़ैया अपने को चेरो-मूलक हिन्दू ही कहना चाहते हैं। इनके गाँवों

के ब्राह्मण गया या वाराणसी जाते रहे हैं और इनके विभिन्न संस्कारों में ब्राह्मणों की विशेष भूमिका होती है।

'हिन्दूकरण' की दिशा मे अग्रसर पश्चिम बंगाल के बौरी अपने को 'ब्राह्मण' होने का दावा करते हैं। इसके लिए उनकी यह दलील है—मृत्यु-संस्कार के समय बारह दिनो तक पूजा-पाठ में सक्रिय योगदान, जनेऊ धारण करना, वैष्णव होना और शीतला तथा मनसा माता की पूजा एवं दर्शन करना। शीतला तथा मनसा माता की पूजा के लिए बौरी लोगो की ही विशेष मान्यता है। उनके अनुसार बौरियों के पूर्वज को महादेव जी ने अपनी घरेलू नौकरी के लिए बनाया था पर किसी भयंकर भूल के कारण ही बाद में उन्हें नीची जाति का दर्जा प्राप्त हुआ।

ब्राह्मण या क्षत्रियो की जीवन-शैली अपनाने के कुछ एक उदाहरणों के बाद संस्कृति-संक्रमण (ऐकल्चरेशन) के क्रम मे जनजातियो पर हिन्दुओं की विभिन्न जीवन-पद्धतियों के प्रभाव की बारी आती है। हिन्दू-जीवन-शैली अपने आपमे बहुत विशाल है। इसमें अगणित जातियां हैं और अलग-अलग जीवन के अलग-अलग ढंग हैं। ऐसी परिस्थिति मे हिन्दू तत्त्व अनेकानेक हैं जो जनजातियों के जीवन पर प्रभाव डालते हैं। मिदनापुर की 'महली' जनजाति पर भी आस-पास की रहनेवाली विभिन्न जातियों का बहुत प्रभाव पडा है। महलियों ने भी हिन्दुओ के अशुद्ध एवं शुद्ध या पवित्र एवं अपवित्र के भावो को अपना लिया है। अन्य अपनाये गये हिन्दू तत्त्व ये हैं—जीवन-पथ के संस्कार, हिन्दू देवी-देवताओ मे आस्था, हिन्दू-त्यौहार मनाना, नामो मे जान बूझकर और अनजाने हिन्दू-उपाधियाँ लगाना। 'महली' समाजसेवियो और नेताओं ने हिन्दू तत्त्व ग्रहण कराने मे विशेष सहयोग दिया है और दे रहे हैं।

छोटा नागपुर के कुछ उरांव गांवो मे ब्राह्मण-पुजारियो के कारण हिन्दू देवी-देवताओं को लगातार महत्त्व दिया जाने लगा है, वे गो-मास वर्जित समझते हैं, रामायण एवं हनुमान चालीसा में वर्णित कथा से परिचित है (सहाय, १९६२)। कोल जनजातियो मे भी 'हिन्दूकरण' हुआ है। ग्रियर्सन (१९३८) हिन्दू कोलों की गणना बहिर्जाति या अनुसूचित के रूप मे करते हैं। मैं ने (विद्यार्थी, १९६९) मुण्डा क्षेत्र में मांझी लोगो को एक जाति के रूप मे उभरते हुए पाया। उन्होने कालान्तर में हिन्दू जीवन-शैली को अपनाया है और पड़ोसी मुण्डाओ से भिन्न प्रतीत होते हैं।

भक्ति-आन्दोलनों ने भी मध्य भारत की जनजातियों पर विशेष प्रभाव डालकर 'हिन्दूकरण' की प्रक्रिया को बल दिया है। इन आन्दोलनों के अन्तर्गत जनजातियों के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में हिन्दुत्व सिद्धान्तानुसार तथाकथित शुद्धीकरण किया गया है। इन आन्दोलनों का प्रारम्भ १९वीं शताब्दी के अन्त में हुआ (राय, १९२०)।

भक्ति-आन्दोलन के स्वरूप की चर्चा में हम छोटा नागपुर की प्रधान जनजातियों में जो आन्दोलन देखते हैं, वे हैं—उराँवों में विष्णु भगत, महादेव भगत, कबीरपन्थी भगत, संथालों मे साफा होड़, इत्यादि। टाना भगत आन्दोलन इन सभी में अत्यधिक प्रचारित हुआ। १९१४ में इसके प्रारम्भ होने पर उराँवों के मूल धर्म 'कुरुख धर्म' की पुनःस्थापना का आन्दोलन चलाया गया। इसके अन्तर्गत गाँव के देवी-देवताओं एवं भूत-प्रेतों में परिष्कार लाने तथा उनका सामाजिक महत्त्व बढ़ाने के लिए कुछ विचारों एवं व्यवहारों, यथा शूकर एवं कुक्कुट पालने तथा उसके भक्षण, मद्यपान आदि का बहिष्कार और महादेव या भगवान् की भक्ति-भावसे पूजा करने का प्रचार किया गया। अनेक जनजातियों में तथा- कथित सुसंस्कृत वर्ग तैयार हो गये हैं। पर गैरभगतों के बीच भी विवाह का क्रम जारी है। हाँ, भगत परिवारों में लायी गयी बहू और आये हुए दामाद को 'भगत' मे दीक्षा दी जाती है।

कुल मिलाकर भगत या अन्य आन्दोलनो से मध्य भारत की जनजातियो ने अपने में हिन्दू जीवन-शैली को काफी सीमा तक अपनाया है और स्वय को बृहद् हिन्दू-समाज से एकीकृत कर लिया है। विभिन्न अध्ययनों से भी ज्ञात होता है कि उनके जीवन-पथ के संस्कार, देवी-देवता और जीवन-शैली मे हिन्दू धर्म के आदर्शों को विशेष स्थान मिला है और इसके लिए जनजातियों ने अपने हिन्दू-पड़ोसियो के व्यवहारो का अनुकरण करने का भरसक प्रयत्न किया है।

'हिन्दूकरण' के इस सन्दर्भ में जनजातीय गाँवों एवं क्षेत्रों में रहनेवाले पड़ोसी हिन्दू-समुदाय पर पड़ोसी जनजातियों के प्रभाव का भी उल्लेख आवश्यक है। कालिया (१९५९ : ३३-३४) ने जनजातीयकरण की इस प्रक्रिया की चर्चा उत्तर प्रदेश के जौनसार-बावर तथा मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र के सम्बन्ध में की है। उनके अनुसार वहाँ रह रहे उच्च जाति के हिन्दुओ ने वहाँ की जनजातियों के बहुत से रीति-रिवाजों, विश्वासों एवं नैतिकताओ को, जो उनके अपने आदर्शों के बिल्कुल विपरीत हैं, अपनाया है। मजुमदार ने (१९५०) सिहभूमि के 'हो' लोगों के बीच भी इसी प्रकार हिन्दुओं पर जनजातियो के प्रभाव का विवरण 'परा-संस्कृति-संक्रमण' के अन्तर्गत किया है। 'हो' जनजातियो के बीच 'हो' ग्राम में रहनेवाले हिन्दुओं, विशेषकर गोप लोगों पर 'हो' जनों के धार्मिक रीति-रिवाजों के प्रभाव की चर्चा राय (१९६३ : ८५) ने भी की है। ऐतिहासिक तथ्य भी इस प्रक्रिया की पुष्टि करते हैं। यह तो सर्वविदित है कि आर्यों ने द्रविड़ों की पूजन-विधियों एवं अन्य रीतियों को अपनाया और क्रमशः हिन्दूवाद का विकास हुआ। श्रीनिवास (१९५६ : २०) ने भी इस प्रक्रिया का समर्थन करते हुए विचार व्यक्त किया है कि महान् परम्परा 'लघु परम्परा' के समक्ष घुटने टेक सकती है। हटन (१९३१)

का यह विचार इस सन्दर्भ मे विशेष माने रखता है कि हिन्दू धर्म एवं जनजातीय धर्म, दोनों ही मे कुछ उभयात्मक तत्त्व हैं, यहाँ तक कि हिन्दू मन्दिरों में जनजातीय धर्म की द्योतक कुछ पवित्र वस्तुओ का भी ग्रहण हो गया है।

इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन के दौर में जनजातियों के लिए 'हिन्दूकरण' जहाँ एक लक्ष्य और आदर्श रहा है, वही हिन्दू-समाज भी पडोसी जनजातियों की जीवन-शैली से अछूते नहीं रह सके।

ईसाईकरण : ईसाई धर्म का जनजातियों पर प्रभाव

ईसाई मिशनरियो ने भारत के जनजातीय क्षेत्रो में, विशेषकर उत्तर-पूर्व तथा मध्य-भारत मे जनसेवा का कार्य किया और अपने धर्म-परिवर्तन के मूल लक्ष्य में सफल हुए। इसकी विशद चर्चा एक अध्याय मे पहले ही की जा चुकी है अतः यहाँ मात्र उल्लेख ही पर्याप्त होगा कि ब्रिटिश राज मे ईसाई मिशनरियो को जनजातीय क्षेत्रो मे शासन की ओर से काफी बल मिला और ईसाई-धर्म व्यक्तिगत आधार पर और अन्त मे जनजाति-विशेष के आधार पर जनजातियों मे प्रविष्ट हुआ। स्वतन्त्र भारत मे आर्थिक आधार पर जनजातियो में ईसाई-धर्म प्रभाव डाल रहा है। साथ ही हाल की राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं में चर्च-संगठन तथा ईसाई जनजाति और गैर-ईसाई जनजाति की गतिविधियों ने जनजाति समाज मे परिवर्तनों एवं प्रतिमानो को एक झटका सा दिया है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र एव जनहित के सन्दर्भ मे 'ईसाईकरण' की प्रक्रिया पर ध्यान देना अपेक्षित है।

कल्याणकारी योजनाओं का प्रभाव : जनजातियों के सामाजिक परिवर्तन मे योगदान

जनजातियो के आर्थिक एवं सामाजिक विकास मे गति लाने के लिए प्रशासन तथा समाज-सेवी संस्थाओ की ओर से बहुत-सी कल्याणकारी योजनाएँ लागू की गयी। इनसे जनजातीय समाज मे कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य आया है।

स्वाधीनता के पूर्व ब्रिटिश सरकार की यह नीति रही कि जनजातियो को अलग-अलग रखा जाय और यथास्थिति बनी रहे। परन्तु देश के स्वाधीन होने के तुरन्त बाद अपनी सरकार ने जनजातीय विकास की ओर प्राथमिकता के आधार पर कार्य करने की नीति अपनायी। २६ जनवरी, १९५९ से लागू भारत के गणतन्त्रीय संविधान के अंतर्गत पिछड़े लोगों के प्रति निष्ठा और तत्परता दिखलाते हुए उन्हें संरक्षण प्रदान किया गया। इसके अनुसार राष्ट्र कमजोर वर्ग के लोगों, विशेषतया अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के शैक्षणिक एवं आर्थिक हितों का विशेष ध्यान रखते हुए उनको प्रोत्साहित करेगा तथा सामाजिक अन्याय एवं हर प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा। प्रथमतः इसके लिए १० वर्ष की अवधि रखी गयी, पर आवश्यकतानुसार १०-१० वर्ष बढ़ाते हुए सम्प्रति संरक्षण की अवधि १९८० तक कर दी गयी है।

संविधान में उक्त अनुच्छेद (अनुच्छेद ४६) के अतिरिक्त अन्य बारह अनुच्छेदों में जनजातियों की चर्चा है। इन अनुच्छेदों द्वारा उनके हितों के लिए विशेष मंत्री (अनु० १६४) एवं विशेष अधिकारी (अनु० २६८) की नियुक्ति, उनके अनुसूचित क्षेत्र तथा जनजातीय क्षेत्र के लिए विशेष प्रशासन (अनु० १४४) एवं केन्द्रीय नियन्त्रण, (अनु० ३३६) उनके लिए कुछ राज्यो को विशेष अनुदान (अनु० २७५), लोक-सभा तथा राज्यो की विधान-सभाओं मे सुरक्षित स्थान (अनु० ३३२), स्थान-सुरक्षण एवं विशेष प्रतिनिधित्व (अनु० ३३४), सेवाओं और पदों पर विशेष अधिकार (अनु० ३३५) एवं नागालैण्ड के लिए विशेष प्रबन्ध (अनु० ३७१) की व्यवस्था की गयी है। अनुच्छेद ३४२ एवं ३६६ मे क्रमशः अनुसूचित जनजातियों के किन-किन समुदायों को माना जाय और अनुसूचित जनजाति की परिभाषा क्या हो, इन सबका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त अन्य छः सर्वसामान्य अनुच्छेद भी इन जनजातियों को संरक्षण प्रदान करते हैं। संविधान मे व्यवस्था है कि धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर (अनु० १५) कोई भेद नही होगा तथा सभी को जन-नियोजन के लिए समान अवसर (अनु० १६) प्रदान किया जायगा। छुआछूत का उन्मूलन (अनु० १७) एवं मनुष्य-प्राणी के व्यापार तथा बेगार पर प्रतिबन्ध (अनु० २३) और अल्पसंख्यकों के हित की रक्षा (अनु० २९) की जायगी एव जन-कल्याण के उन्नयनार्थ सामाजिक सुव्यवस्था (अनु० ३८) प्राप्त की जायगी (राय, १९७२ : ६)।

भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने मानव-वैज्ञानिक एलविन से विचार-विमर्श के बाद जनजातियों के विकास के लिए पंचशील सिद्धान्त प्रस्तुत किया। ये हैं—(क) जनजातियों का विकास उनकी अपनी प्रकृति के अनुरूप हो, (ख) वन एवं भूमि पर उनके अधिकार की रक्षा, (ग) कार्यकर्ता (प्रशासनिक या विकासकीय) उन्हीं लोगों में से तैयार हों, (घ) उनको सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के माध्यम से, योजना- प्रशासन के भार से मुक्त रहकर ही, काम करना चाहिए और (ङ) कसौटी के लिए मानव-चरित्र की क्षमता को लिया जाना चाहिए।

संविधान मे निहित नीतियों, गणतन्त्र की उमंग और राष्ट्रीय समाजसेवी नेताओं को ध्यान मे रखते हुए समय-समय पर सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं ने जन-जातियों की उन्नति के लिए अनेक कल्याणकारी कदम उठाये हैं। इस सन्दर्भ में देश में लागू सामान्य सामुदायिक विकास प्रखण्ड तथा जनजातीय विकास प्रखण्ड और उनकी विकासात्मक योजनाओं का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। केन्द्र एवं राज्य सरकारें समय-समय पर विशेष अध्ययन-दल या आयोग बैठाती हैं, जो इस क्षेत्र की स्थिति,

आर्थिक विकास एवं सहायता, स्वास्थ्य, सामाजिक उत्थान आदि कार्यों की समीक्षा करते हुए सुझाव देते हैं।

जनजातीय कल्याण के लिए जो गैर-सरकारी समाज-सेवी संगठन जुटे हैं, उनमें १९४८ में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में स्थापित भारतीय आदिम जाति सेवक संघ प्रमुख है। इसके अन्तर्गत बहुत-सी क्षेत्रीय संस्थाएँ भी कार्यरत हैं, यथा—आदिम जाति सेवा मण्डल, सन्थाल पहाड़िया सेवा मण्डल, ग्राम-उद्योग संघ, वनवासी सेवा मण्डल, उड़ीसा आदिवासी कांग्रेस, भील सेवा मण्डल, इत्यादि। कुछ अन्य संस्थाओं के नाम गिनाना भी विषयान्तर न होगा। ये हैं—भारतीय दलित वर्ग लीग, सर्वेण्ट ऑव इण्डिया सोसाइटी, भारतीय रेड क्रॉस सोसाइटी, अखिल भारतीय पिछड़ा वर्ग फेडरेशन, भारतीय कल्याण परिषद् इत्यादि। यहाँ विभिन्न धार्मिक संस्थाओं एवं सम्प्रदायों का भी उल्लेख आवश्यक है जिन्होंने जनजातीय कल्याण में रुचि ली है। ये हैं—विभिन्न ईसाई मिशनरियाँ, रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज आदि। इन संस्थाओं ने उनका बाहरी दुनिया से सम्पर्क कराया है और शिक्षा, नये रोजगार एवं जन-स्वास्थ्य की ओर उन्हें जागरूक किया है।

अब जनजातीय विकास पर हमारी लागत और उनके बढ़ते चरण पर भी बरबस ध्यान जाता है। पिछड़े वर्गों पर पहली से चौथी पंचवर्षीय योजना तक क्रमशः २९,७८,१०२ एवं १४२,२ करोड़ की राशि व्यय करने की व्यवस्था थी। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में चौथी योजना की लगभग दुगुनी राशि का प्रावधान था। तीसरी योजना के अन्त तक ४२-४२ लाख रुपये की लागत से ३०० जनजातीय विकास प्रखण्ड खोले गये। सम्प्रति यह संख्या उप-प्रखण्डों सहित ५०० से ऊपर हो गयी है।

अब इन कल्याणकारी योजनाओं की समीक्षा एवं जनजातियों पर पड़े प्रभाव की चर्चा की बारी आती है। यों तो विभिन्न योजनाओं में करोड़ों रुपये व्यय किये गये हैं और किये जा रहे हैं जिससे जनजातियों के (क) आर्थिक, (ख) शैक्षिक, (ग) स्वास्थ्य, सफाई, आवास, संचार एवं सांस्कृतिक गतिविधि तथा (घ) राजनैतिक, इन चार प्रमुख जीवन-क्षेत्रों में विकास हो सके हैं।

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि इन कल्याणकारी योजनाओं के सार्थक परिणाम सामने आये हैं, पर कार्यक्रमों के बड़ी मात्रा में असफल होने एवं अप्रभावकारी रहने की भी बात उसी सीमा तक, बल्कि यों कहा जाय कि उससे भी अधिक, सही है। विभिन्न मूल्यांकन रिपोर्टों एवं कुछेक विश्लेषणपरक एवं मानव-वैज्ञानिक अध्ययनों से यह बात साफ होती है। इसके कारण अनेक हैं परन्तु प्रमुख रूप से दो कारण स्पष्ट झलकते हैं, यथा, (१) नवीनताओं को ग्रहण करने में जनजातियों के बाधक सामाजिक-सांस्कृतिक

तत्व और भावनाएँ एवं (२) जनजातियों के क्षेत्र में काम करने की उचित अभिरुचि-वाले लगनशील कर्मचारियों की अथवा उचित प्रेरणा की कमी। यहाँ प्रोफेसर राय (१९६६) के उन विचारों का उल्लेख करना उचित होगा जिन्हें विभिन्न मानवविज्ञानियों ने समय-समय पर प्रकट किये हैं। यह व्यावहारिक महत्व की बात है कि समाज-विज्ञानियों तथा नीति-निर्माताओं, योजनाकारों, प्रशासकों एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं में परस्पर निकट का सम्पर्क हो जिससे मानवीय कारकों एवं आर्थिक विकास के अन्तः-सम्बन्धो को भली भाँति जाना जा सके। जब तक विकास एवं कल्याण कार्यों में लगे प्रशासको में जनजातीय जीवन के बारे में तथा उनमें किये गये या हो रहे सामाजिक परिवर्तनो के लिए सहानुभूतिपूर्ण रवैया नहीं होगा, बड़ी-बड़ी योजनाएँ कोई माने नहीं रखेंगी। इस बात को ध्यान में रखते हुए अधिकारियों और गैर-अधिकारियो को जन-जातीय जीवन एव संस्कृति के बारे में प्रशिक्षित करने और तदनुरूप उनके अभिमुखी होने (मिजाज रखने) की बात पर सामुदायिक विकास कार्यक्रमो के प्रारम्भ काल से ही विशेष बल दिया गया। पर जहाँ तक हम लोगों को प्रतीत होता है, इन प्रशिक्षण कार्य-क्रमो को उतनी गम्भीरता से नही लिया गया और अपेक्षित लाभ नहीं हो सका। चौथी योजना के अन्तर्गत कर्मचारियों के एक विशेष संवर्ग (जनजातीय क्षेत्र) की रचना की बात कही गयी। जनजातीय क्षेत्रों एवं उनके मामलो पर सही रुख रखनेवाले कर्मचारीगण अपने प्रेरक रवैये से कार्य करेंगे। यह कदम वास्तव में सराहनीय है। ऐसा न होने पर चाहे कितना ही धन या शक्ति व्यय की जाय, सब निरर्थक होगा और इच्छित सामाजिक परिवर्तन के नाम पर कुछ भी उपलब्धि हाथ नहीं लगेगी।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि सारी योजनाएँ अच्छे इरादे से लागू की गयी हैं और उनके चौमुखी विकास के लिए काफी कुछ खर्च किया गया है ताकि राष्ट्र के सम्पूर्ण विकास में जनजातियो का भी पूर्ण योगदान रहे। विकास के इन प्रयासो से जनजातियों के बन्द दरवाजे खुले हैं और नया प्रकाश आया है। इनकी पृथकता की स्थिति में अन्तर हुआ है तथा नवीनताओं एवं नये विचारों ने उनके जीवन में प्रवेश किया है। फिर भी उनकी जीवन-शैली में कोई स्पष्ट परिवर्तन नहीं हुआ प्रतीत होता। दूर-दराजके क्षेत्रों में पृथकता की स्थिति में रहनेवाली पिछड़ी जनजातियों पर तो इन कल्याणकारी योजनाओं का मानों प्रभाव ही नहीं पड़ा है। हाँ, अपेक्षाकृत सुसंस्कृत एवं प्रगतिशील जनजातीय समुदायों पर प्रभाव पड़ा है और उन्होंने लाभ उठाया है। उदाहरणस्वरूप हम एक ओर नागा, कूकी, खासी एवं गारो जनजातियों को ले सकते हैं जिन्होंने स्थानान्तर कृषि के स्थान पर सीढ़ी-दार कृषि को अपना लिया है, वहीं दूसरी ओर अन्धाल परगना के आलेर तथा उड़ीसा के परजा लोग अलग-अलग एवं अपेक्षाकृत पिछड़े रहने के कारण स्थानान्तर कृषि में ही लगे

हुए हैं। इसी प्रकार उरांव, मुण्डा, संथाल, भील एवं गोंड जैसी बड़ी एवं हिन्दू समाज के पड़ोस में रहनेवाली जनजातियों ने नयी कृषि को ही नहीं, नये बीज, नये ढंग, नकदी फसल सभी कुछ थोड़ा-बहुत अवश्य अपनाया।

स्वास्थ्य कार्यक्रमो के लागू होने के बाद नयी दवाओं को थोड़ा-बहुत अपनाया गया है। पर दवाओं की कमी एवं प्रचार के अभाव मे इसका यथोचित लाभ जनजातियों तक नहीं पहुँचा है। अभी भी एकाकी या अर्द्ध-एकाकी जनजातीय गाँवों के लिए चेचक, हैजा, मलेरिया, कुष्ट एवं यौन रोग भय का कारण बने हुए है। सामुदायिक विकास-कार्यक्रम के प्रयासों के इन रोगो पर काबू पाने में थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य मिली है। भारत की विभिन्न बडी जनजातियो मे नयी दवाओ का प्रभाव है पर उनकी अपनी परम्परागत प्राकृतिक दवाओ, झाड़-फूँक, भूत-प्रेत एव देवी-देवताओ पर विश्वास बना हुआ है।

कल्याणकारी कदमों मे नयी पचायती राज-व्यवस्था भी एक है। पंचायती राज के प्रवेश से जनजातियो की परम्परागत जनजातीय पचायतो पर प्रभाव पड़ा है। इन लोगो ने एक बीच का रास्ता अपनाया है। उनके सामाजिक एव धार्मिक मामलों में परम्परागत पचायत का बोलबाला बना हुआ है। हाँ, कानूनी मामलों मे नयी पंचायती-व्यवस्था का सहारा लेना शुरू किया गया है। इन क्षेत्रों मे पचायती राज की सफलता उनके बीच से ही उपयुक्त प्रकार के नेताओ के निकलने पर है। अंततः उनमें से ही मध्यमार्गीय व्यक्तियो को चुनकर उन्हे पचायती राज की जानकारी एवं प्रशिक्षण देने से इस दिशा मे तेजी से प्रगति लायी जा सकती है।

प्रजातन्त्र के इस युग में राष्ट्रकी संसद् एवं राज्यों की विधान-सभाओं के लिए होने-वाले चुनावों ने जनजातियो पर अपना प्रभाव डाला है। राजनीतिक दलों के अपने पक्ष मे मत देने के प्रचार ने इन्हें कुछ-न-कुछ जागरूक अवश्य किया है। जनजातीय मत-दाताओ से ये राजनीतिक दल तरह-तरह के वादे करते हैं। तुरन्त आर्थिक लाभ की राज-नीति ने गाँव के प्रभावशाली व्यक्तियों तथा ग्राम-नेता मुण्डा या ग्राम-पुजारी पाहन को प्रलोभित किया है। ये प्रभावशाली ग्राम-नेता, ग्राम-पुजारी तथा ईसाई-धर्म से प्रभावित क्षेत्रों के पुजारी-पादरी जनजातीय मतदाताओं के लिए विश्वसनीय सलाहकार साबित हुए हैं। चुनाव और प्रजातन्त्र की राजनीति के चलते जनजातीय जनमत में नये विचारों एवं नयी आकांक्षाओं का भी प्रवेश हुआ है। परम्परागत ग्रामीण नेतृत्व के स्थान पर नया शिक्षित, शहरी बाबू एवं धर्म-निरपेक्ष जनजातीय राजनैतिक नेतृत्व उभर रहा है। इन नये नेताओ ने सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों में नेतृत्व प्रदान किया है और जनजातीय क्षेत्रों में सामाजिक परिवर्तन को गति दी है।

इस प्रकार जनजातियों के चौमुखी विकास के लिए सतत प्रयास जारी है। यहाँ यह बात स्मरण दिलाने योग्य है कि पिछले पचीस वर्षों में विकास-योजना के बारे में हमारे अनुभव अच्छे रहे पर उनके कार्यान्वयन में वह गम्भीरता नहीं रही। हम लोगों को जो सराहनीय उपलब्धि हाथ लगी है, वह है जनजातियों में अवरुद्धता का भंग होना। उनके ठहरे हुए जल में प्रवाह आया है और निर्मल धारा के प्रवाह की आशा बढ़ चली है। निराशा की कोई बात नहीं है। पिछले अनुभवों के आधार पर अब आवश्यकता इस बात की है कि जनजातियों में विकास-कार्य लागू करने के पहले उनका पूरा विश्वास होना चाहिए कि अमुक कार्यक्रम हमारा है और हमारे कल्याण के लिए है। इससे हमारा सामाजिक एवं आर्थिक स्तर और अधिक ऊँचा होगा। कल्याणकारी कार्यक्रमों से जनजातियो में विकास होगा, ऐसी आशा है।

नगरीकरण : शहरी या नागरिक-जीवन-शैली का जनजातियों पर प्रभाव

जनजातियों के सामाजिक परिवर्तन में शहरी जीवन-शैली ने भी विशेष प्रभाव डाला है। देश में स्वाधीनता के बाद विकास के दौर ने और जोर पकड़ा है। छोटे-बड़े कस्बों ने व्यापार, उद्योग एवं आवागमन में वृद्धि के कारण नगरों का रूप धारण किया है। इस प्रक्रिया से जनजातीय क्षेत्र भी अछूते नहीं रहे। इन क्षेत्रों में भी नगरों की संख्या बढ़ी है। साथ ही छोटे नगरो ने भी निवास के नये अवसरों के कारण बड़े नगरों का स्वरूप पा लिया है। भारत की नगरीय जनसंख्या १८८१ ई० में जहाँ ६.४ प्रतिशत थी वहाँ १९५१ ई० में बढ़कर १७·५ और १९७१ ई० में २० प्रतिशत हो गयी। नगर में रोजगार के नये अवसरों ने जनजातीय जनसंख्या को अपनी ओर आकर्षित किया है। शहरी जीवन-शैली एवं बाहरी लोगों के सम्पर्क से जनजातियों पर विशेष प्रभाव पड़ा है। सर्वप्रथम उनकी परम्परागत वस्तु-विनिमय की अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा की आर्थिक व्यवस्था ने थोड़ा-बहुत स्थान पाया है। नगरों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उनका आवश्यकतानुसार उत्पादन की ओर भी ध्यान जाना अपरिहार्य हो गया। मडुवा, धान जैसी परम्परागत उपजों के साथ-साथ नकदी फसलों यथा, सब्जी, आलू, आदि की भी उपज की जाने लगी है। दूसरी ओर, शहरों के तैयार माल, यथा कपड़े, सिलेसिलाये कपड़े, आईना, कंघी एवं प्लास्टिक के सामान, प्रसाधन की सामग्री, अलुमिनियम के बर्तन आदि ने जनजातियों के घरों में प्रवेश किया है। जनजातीय क्षेत्रों में नगरों के अभ्युदय से उनके सामाजिक आचार-विचारों पर भी प्रभाव पड़ा है। गैर-जनजातियों का सम्पर्क किंचित् वैवाहिक सम्बन्धों में भी आया है। शहरी लोगों के रहने के ढंग को भी काफी सीमा तक अपनाया गया है। परम्परागत वस्त्रों के साथ नये वस्त्र, यथा, पैण्ट, कमीज, कुर्ती,

धोती, पायजामा भी धारण करना जनजातियों के लिए नयी बात नहीं रह गयी है। पर्व-त्यौहारों को मनाने में अपने नाच-गानों के अतिरिक्त झण्डे-झण्डी एवं तोरण, चोंगा (लाउडस्पीकर) आदि का प्रयोग भी देखने को मिलता है। पूजा के लिए या पर्व मनाने के लिए उनमें चन्दा उगाहने का भी चलन नगरवासियों की देखा-देखी हुआ है।

नगरीकरण के ऐतिहासिक पहलू पर विचार करने से जो तथ्य सामने आते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि देश मे औद्योगीकरण के दौर से 'नगरीकरण' मे विशेष गति आयी है। औद्योगीकरण की आगे अलग से चर्चा की जायेगी। भारत मे 'नगरीकरण' की प्रक्रिया हिन्दू एव मुस्लिम कालो मे औद्योगीकरण के अभाव मे चलती रही। 'नगरीकरण' परम्परागत ढग का था और नगर, उनके बाजारों और क्षेत्रीय सम्पर्क-केन्द्रो के रूप में विकसित हुए तथा पड़ोसी गाँवों के लिए वे धार्मिक, प्रशासनिक, व्यापारिक तथा कुछ हद तक गृह-उद्योग के केन्द्र का काम करते थे। बीसवीं शताब्दी में और खासकर पिछले तीन दशको मे नगरीकरण औद्योगीकरण के साथ सलग्न हो गया। पहाडी एवं वन्य क्षेत्रों मे अनेकानेक खान, औद्योगिक, वन्य, परवहनीय एव ऊर्जा केन्द्रो के रूप मे नगरों का अभ्युदय हुआ। शहरी जनसख्या बढ़ने का दूसरा कारण था प्राकृतिक सम्पदा। असम, बिहार, मध्य प्रदेश तथा उडीसा जैसे उपेक्षित क्षेत्रो मे प्राकृतिक साधनो ने लोगों को आकर्षित किया और नगरो का निर्माण हुआ। इस माने में दुर्गापुर, राँची, राउरकेला के क्षेत्र देश के मूल और औद्योगिक क्षेत्र के रूप मे उभरकर सामने आये। तीसरा तत्त्व जो सामने आया, वह है पुराने नगरो में औद्योगिक क्षेत्रो के जुडने से उनका स्वयं दुगुना होना।

नगरीकरण की चर्चा के समापन के पूर्व एक उदाहरण इस विषय को और स्पष्ट करेगा। छोटा नागपुर का उदाहरण लीजिए। यह क्षेत्र जनजातीय-प्रधान है। यहाँ १९२१ ई० की शहरी जनसंख्या मे ६०.६२ प्रतिशत वृद्धि हुई है। १९२१ ई० से १९३१ ई० के मध्य ३०.१३ प्रतिशत शहरी जनसख्या बढ़ी और १९३१ ई० से १९४१ ई० के बीच फिर बढ़कर ६१ ७५ प्रतिशत हो गयी। १९६१ ई० की जनगणना के आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि १९५१ ई० की ८ ५ प्रतिशत की शहरी जनसंख्या बढ़कर १३.३३ प्रतिशत हो गयी। जिलो को आधार माना जाय तो धनबाद में तो एक प्रकार से शहर-विस्फोट ही हो गया। शहरी जनसंख्या १९६१ ई० मे लगभग तिगुनी (१९५१ की तुलना में २९३ ८७ प्रतिशत) हो गयी। राँची में यह वृद्धि ६१.९२ प्रतिशत ही रही। अन्य जिलो मे ५० प्रतिशत की वृद्धि रेकार्ड की गयी। अब राँची नगर को लें। यह जनजातीय क्षेत्र का केन्द्रीय नगर है। यहाँ की जनसख्या १९६१ ई० की तुलना में १९७१

ई० में दुगुनी हो गई और बृहत्तर राँची की जनसंख्या चार लाख से ऊपर आँकी गयी। अतः नगरीकरण की प्रक्रिया स्पष्ट है।

औद्योगीकरण : जनजातीय क्षेत्रों में बड़े उद्योग और जनजातियों पर उनका प्रभाव

यह हम देख चुके हैं कि नगरीकरण की प्रक्रिया को तीव्र गति देने में औद्योगीकरण का बहुत बड़ा हाथ है। अतः इस तथ्य की पृथक् व्याख्या आवश्यक है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद और विशेषकर भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से औद्योगीकरण का दौर तीव्र गति से हुआ है। आज मध्य भारत का जनजातीय क्षेत्र औद्योगिक क्रान्ति से गुजर रहा है। परिणाम सामने है—अल्पकाल में ही तीव्र नगरीकरण। इस स्थिति ने इस क्षेत्र को उद्योग-आधारित नगर-विस्फोट के कगार पर ला खड़ा किया है (विद्यार्थी, १९७३ : १७)। कुछ स्थानों पर तो अति-नगरीकरण हो गया है। नगरों में भीड़-भड़ाका-सा हो गया है। विशेषकर औद्योगिक एवं खदान-नगरों में गन्दी बस्तियाँ समस्या बनकर सामने आयी हैं। सहज नागरिक सुविधाओं यथा, पेय जल, बिजली, शिक्षा, मनोरंजन का सर्वथा अभाव-सा हो गया है। बेरोजगारी या अल्प-रोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। हाल के तीन मानववैज्ञानिक अध्ययनों (विद्यार्थी, १९६७; राजेन्द्र सिंह, १९६७ एवं सरकार, १९७०) से यह बात और स्पष्ट होती है। औद्योगीकरण की सामाजिक-सांस्कृतिक गुत्थियाँ क्या हैं? इन अध्ययनों से औद्योगिक भ्रमणशीलता (बंजारापन), गंदी बस्तियों की संस्कृति, नगर-योजना और औद्योगिक प्रशासन पर प्रकाश पड़ता है और स्थिति को सुधारने में मार्ग-दर्शन मिलता है।

अब एक क्षेत्र का उदाहरण लें। छोटा नागपुर में औद्योगीकरण का प्रथम कदम १८५६ ई० में उठाया गया। झरिया, बोकारो और कर्णपुरा के कोयला-क्षेत्रों में कोयला-खान उद्योग शुरू हुआ। १९०७ ई० में जमशेदपुर में लोहे और इस्पात का कारखाना खुला। विश्व के सबसे बड़े कोयला, लोहा तथा ताँबा क्षेत्र के रूप में पर्याप्त मात्रा में प्राप्य बाक्साइट, चूना-पत्थर, फिलाइट, क्रोमाइट, एस्बेस्ट्स, ग्रेफाइट, कायनाइट तथा स्टीटाइट क्षेत्रों के रूप में छोटा नागपुर की ओर लोग क्रमशः आकर्षित हुए। यहाँ के जनजातीय लोग बड़ी संख्या में इन उद्योगों में भाग लेने आ डटे। स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद जो बड़े उद्योग छोटा नागपुर और इसके समीपवर्ती क्षेत्रों में बने, उनमें राँची के भारी अभियन्त्रणा निगम, राउरकेला एवं बोकारो के इस्पात कारखाने, पतरातू औद्योगिक क्षेत्र-आदि प्रमुख हैं।

औद्योगीकरण का जनजातीय जीवन पर प्रभाव उल्लेखनीय है। इसने उनके एक समान, विशिष्ट एवं लोकजीवन शैली पर जबरदस्त प्रभाव डाला। औद्योगिक नगरी-

करण का प्रभाव तीन प्रकार के लोगों पर पड़ा है—(१) उद्योगों की स्थापना के चलते विस्थापित गाँवो के लोग, (२) जनजातीय प्रवासी लोग एवं (३) पड़ोसी क्षेत्र के लोग। विभिन्न औद्योगिक इकाइयों के मानव-वैज्ञानिकों के अध्ययनों, विशेषकर हटिया (विद्यार्थी, १९७०) के शोध से जो निष्कर्ष सामने आये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उनका परम्परागत जीवन बिखर-सा गया है और तेजी से बदलते वातावरण के साथ ताल-मेल बैठाने के लिए वे जूझ रहे है। कुल मिलाकर परिणाम सामने आया है कि विस्थापित जनजाति लोगो से उनका परम्परागत पेशा, जमीन, घरबार, जीवन, क्षतिपूर्ति के रूप में मिले पैसे सभी कुछ छूट गये। हाथ लगी है मात्र बेरोजगारी, प्रवासी श्रमिको के साथ कड़ी एवं अनुचित प्रतियोगिता, ऊँची आकाक्षा एव गहरी कुठा।

अब कुछ औद्योगिक इकाइयो का उदाहरण प्रस्तुत है। विस्थापित गाँवों में औद्योगीकरण का प्रभाव उनकी बदलती आजीविका को देखने से स्पष्ट होता है। हटिया क्षेत्र में जहाँ पहले ७२ प्रतिशत लोग कृषि पर, ९ प्रतिशत कृषि-मजदूरी पर, ४ प्रतिशत लोहारी पर तथा ४ प्रतिशत अन्य कामो में लगे थे, वहाँ विस्थापन के बाद ७०.५ प्रतिशत लोग औद्योगिक मजदूर हो गये तथा ६ प्रतिशत लोगो ने लोहे का काम अपनाया। पतरातू क्षेत्र मे भी कृषको की सख्या ८९.८ प्रतिशत से घटकर ५०.७६ प्रतिशत रह गयी। बोकारो मे ९४ प्रतिशत कृषको की सख्या समाप्तप्राय हो गयी और ९० प्रतिशत लोग औद्योगिक मजदूर के रूप सामने आये। राउरकेला मे ७९ प्रतिशत कृषको के स्थान पर ७७ प्रतिशत औद्योगिक मजदूर उभरे (विभिन्न अध्ययनों के आँकड़ो के आधार पर)।

औद्योगिक इकाइयो के विभिन्न निर्माण-चरणो के समय की कहानी भी उल्लेख्य है। राँची (हटिया) का उदाहरण लिया जाय। औद्योगीकरण के प्रारम्भिक चरण मे स्थानीय जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। निर्माण-काल में अकुशल औद्योगिक मजदूरों के रूप में हजारों लोगो को काम मिला। आधे से अधिक लोग बाहर के औद्योगिक क्षेत्रों से आये, यथा दुर्गापुर, पश्चिमी बगाल, राउरकेला, उड़ीसा, भिलाई, मध्य प्रदेश, केरल से। परिणाम यह हुआ कि अनुभवहीनता के आधार पर स्थानीय लोग छँट गये और बाहरवालों को उनके अनुभव के आधार पर वरीयता मिली। अब जब कि निर्माण का कार्य अंतिम चरण पर है और स्थिति शान्त हुई है, एक नयी सम्मिश्रित ग्रामीण औद्योगिक-जीवन-शैली का विकास हुआ है।

हटिया के निकट आठ जनजातीय गाँवों मे किये गये अध्ययन (विद्यार्थी, १९६८ : २३) के आधार पर औद्योगीकरण से हुए प्रभावो को आँका जा सकता है। उनकी परम्परागत कृषिजन्य अर्थ-व्यवस्था यथावत् है। हाँ, हटिया उद्योग के निर्माण-काल के प्रारम्भिक चरण में उन्होंने उप-आजीविका के रूप में औद्योगिक मजदूरी भी की। अब उनकी नयी

पीढ़ी औद्योगिक मजदूरी के लिये उतनी लालायित नहीं है। इतना अवश्य है कि जो कारखानों में काम कर रहे हैं, वे खेतिहरों की अपेक्षा उपभोक्ता सामग्रियों, यथा नये वस्त्र, टार्च, चश्मा, साइकिल आदि पर कुछ अधिक धन व्यय करते हैं। वे गाँव छोड़कर बाहर जाने के पक्ष में नहीं हैं। कामगरों में कुछ सामाजिक एवं आर्थिक गतिशीलता आयी है। गाँवों में कृषि-कार्य एवं औद्योगिक कार्यों को साथ-साथ चलाने की ओर झुकाव हुआ है। कारखाना बनकर तैयार होने के वर्तमान चरण में वे कारखानों में कुशल श्रमिक का काम अनुभव के अभाव में नहीं पा रहे हैं, इससे उनमें असंतोष की लहर है। परिवार के स्तर पर बूढ़े व्यक्तियों का प्रभाव घटा है। जहाँ तक यौन सम्बन्धों का प्रश्न है, अपने स्वजातियों के मध्य ढील परम्परागत सीमा तक ही है पर गैर-जनजातियों से भी सम्बन्ध स्थापित होने की छिटपुट घटनाएँ दृष्टिगत हुई हैं।

पतरातू औद्योगिक क्षेत्र से प्राप्त जानकारियों (राजेन्द्रसिंह, १९६७) के आधार पर वहाँ की जनजातियों के आर्थिक ढांचे में अन्तर आया है। कृषि को कम प्राथमिकता मिल रही है। ८१.४ प्रतिशत के स्थान पर ४०.४ प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर आधारित है। औद्योगिक इकाइयों में अर्द्ध-कुशल एवं अकुशल श्रमिकों का स्थान जनजातियों को मिला है। सामाजिक संगठन में कोई अन्तर नहीं आया है। मजदूर गाँव छोड़कर बाहर काम करने जाते हैं पर गाँव से उनका पूरा सम्बन्ध रहता है। सप्ताह के अन्त में वे गाँव आते रहते हैं। हरिहरपुर के ७३.४ प्रतिशत ग्रामीण मजदूर कारखाना-क्षेत्र से सप्ताह में एक बार अपने गाँव आ जाते हैं। मात्र ५ प्रतिशत शहरी ग्रामवासी वर्ष में एक बार गाँव आते हैं। एक बात और गौर करने की है। एक गाँव या क्षेत्र के लोग कारखाना-क्षेत्र में एक ही कुनबे या क्षेत्र में रहते हैं और इस प्रकार गाँव एवं परिवार का सम्बन्ध कायम रहता है। पर्व-त्यौहार के मामले में हिन्दू-मुस्लिम एवं जनजातियों में सह-अस्तित्व का भाव है। राजनीतिक क्षेत्र में 'पाहन' या 'महतो' जैसे परम्परागत नेताओं का प्रभाव घटा है और नये पढ़े-लिखे लोगों को नेतृत्व मिल रहा है। श्रमिक नेताओं का कुछ प्रभाव इनपर पड़ा है।

बोकारो इस्पात कारखाने के क्षेत्र में भी जनजातियों पर कुछ इसी प्रकार का प्रभाव पड़ा है (सरकार, १९७०)। विस्थापितों में अधिकांश ने कृषि-कार्य के स्थान पर औद्योगिक मजदूरी अपनायी है, परन्तु अनुभव के अभाव में काम नहीं मिलने से इनमें असन्तोष व्याप्त है। निर्माण के प्रथम चरण में इनमें भी बिखराव आया है। परम्परागत सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हुई है।

राउरकेला क्षेत्र में हुई औद्योगिक प्रगति से वहाँ के लोगों पर भी प्रभाव पड़ा है। यहाँ भी आर्थिक जीवन पर अधिक प्रभाव पड़ा है। ७१ प्रतिशत कृषकों के आधार पर

अब ७७ प्रतिशत लोग औद्योगिक मजदूर हैं और सामाजिक मामलों में उतना अन्तर नहीं आया है।

अन्त में जमशेदपुर जैसी पुरानी इस्पात नगरी का उदाहरण लिया जाय। पिछली आधी शताब्दी के दौरान यहाँ की जनजातियों ने खुद को बदलती स्थिति के अनुकूल बनाया है। इस उद्योग के निर्माण-काल मे प्रारम्भिक चरण के समय भी स्थिति के आँकड़े तो एकत्रित किये गये हैं अत: तुलनात्मक अध्ययन कठिन है। संयुक्त राष्ट्र शिक्षा विज्ञान एवं सांस्कृतिक सगठन के तत्त्वावधान में हुए हाल के अध्ययन से ज्ञात होता है कि १९०७ ई० में निकट के १८ गाँवों की जमीन पर यह इस्पात कारखाना खड़ा हुआ। पुराने रेकार्डों के अनुसार यहाँ भूमिज, सन्थाल, एवं 'हो' जनजातियाँ अन्य हिन्दू जातियो के साथ रहती थी। कारखाने के प्रारम्भिक काल मे ये पास की बस्तियो मे जा रहे और अकुशल मजदूर के रूप में इन्हें प्राथमिकता मिली। पर कुछ अज्ञान एव भयवश ये लोग उतना लाभ नहीं उठा सके। आज इन बस्तियो की सख्या ३३ है। जनजातियों में कारखाने के प्रशासन के प्रति विश्वास का भाव नही है। सम्भव है, प्रारम्भिक काल की उपेक्षा के कारण ऐसा हुआ है। वे अपने को 'अनाथ' की सज्ञा देते हैं। कारखाने में विभिन्न जनजातियों के कुल साढ़े छः हजार लोगो को काम मिला है जिनमे से पाँच हजार अकुशल मजदूर हैं। यहाँ भी वही स्थिति है। जनजातियो को अकुशल मजदूर के रूप मे रखा गया। इससे स्पष्ट है कि उनके प्रशिक्षण के लिए कोई व्यवस्था नही की गयी या ध्यान नहीं दिया गया। इनकी कुछ बस्तियों को, जो कारखाने के पास मे बनी हैं और जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है, देखने से स्पष्ट होगा कि उनमें औद्योगीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है। जमशेदपुर नगर के सीताराम डेरा क्षेत्र मे ये लोग रहते हैं। उनका परम्परागत जीवन यथावत् चल रहा है। आज उनमे श्रमिक नेताओ के प्रति नेतृत्व के लिए विश्वास जगा है और अधिक वेतन या सुविधा के लिए वे उनका सहयोग प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उक्त औद्योगिक नगरो के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि जहाँ एक ओर राष्ट्र के लिए औद्योगीकरण एक वरदान है, वही इन क्षेत्रों में रहनेवाली जनजातियों के लिए सामाजिक अव्यवस्था का कारण है। बड़े उद्योग, जो अधिकांशतया जनजातीय क्षेत्र में बनाये गये है, वे सामान्य आर्थिक विकास को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं परन्तु वहाँ की जनजातियों के लाभ के लिए विशेष प्रयास नहीं किये गये। आवश्यकता इस बात की थी कि उनका ध्यान रखा जाता और संरक्षण, विकास एव सुसम्मिलित करने के कार्य-क्रम के द्वारा ही औद्योगीकरण के मीठे फल जनजातियों तक भी पहुँचाये जाते और सामाजिक अव्यवस्था को कोई स्थान न मिल पाता।

इस प्रकार हम जनजातियों के बीच होनेवाले सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया एवं स्वरूप को देखते हैं। संक्षेप में, परिवर्तन की परम्परागत प्रक्रिया के अधीन जनजातीय संस्कृति में उसकी धर्म-निरपेक्षता, सामाजिकता एवं धार्मिकता के धरातल पर परिवर्तन आया है। हिन्दुओं की क्षेत्रीय जीवन-शैली के आधार पर उनकी संस्कृति पर प्रभाव पड़ा है। इस परिवर्तन का यह कारक देशी, चिरन्तन एवं स्व-प्रेरित था। अतः परिवर्तन की गति धीमी, चुनिन्दा, पारस्परिक एवं समायोजित तथा संगठित एवं समाविष्टकारी रही। परिवर्तन का स्वरूप हिन्दू-आदर्श पर आधारित रहा।

नवीन परिवर्तन की प्रक्रिया मे ईसाईकरण को उस समय की ब्रिटिशकालीन सरकार ने विशेष प्रश्रय दिया। हिन्दू-आदर्श के अतिरिक्त ईसाई-आदर्श को भी स्थान मिला। जनजातीय वर्गों मे इस धर्म-परिवर्तन के दौर से उनकी सामान्य जीवन-धारा मे उथल-पुथल हुआ और जनजातियों के मध्य आपसी एकता भंग हुई। नगरीकरण, औद्योगीकरण, प्रशासकीय, प्रजातन्त्रीय एवं कल्याणकारी नयी व्यवस्थाओं ने जनजातियों की पृथक्कता को समाप्त किया और अब संस्कृति-संक्रमण के दौर से निकलकर जनजातियाँ सांस्कृतिक उत्परिवर्तन के दौर मे आ गयी हैं। अब परिवर्तन की गति तीव्र हो गयी है। उनके इस परिवर्तन के दौर पर ध्यान देना आवश्यक है, जिससे उनका सामान्य जीवन अस्त-व्यस्त न हो और वह नयी धारा के रूप मे सुचारु ढंग से प्रवाहित हो।

—::०::—

अध्याय ११

जनजातियों की समस्याएँ

भारतीय जनसंख्या में जनजातियों की गणना एक कमजोर वर्ग के रूप में की जाती है और यही कारण है कि भारतीय संविधान ने उनके लिए विशेष संरक्षण प्रदान किया है। अतः उनमें समस्याओं का होना स्वाभाविक है। ग्रामीण भारत गरीब है और उसकी भी अपनी समस्याएँ हैं। कुछ लोग ग्रामीण भारत एवं जनजातीय भारत की समस्याओं को एक समान मानते हैं। यही कारण है कि देश के विकास-कार्यों में सभी जन-समूहों के लिए लगभग एक-सी नीति अपनायी जानी शुरू हुई। प्रसिद्ध समाजविद् घुर्ये भी यही मानते रहे है कि जनजातियों की वे ही समस्याएँ हैं जिनसे ग्रामीण भारत जूझ रहा है। पर वास्तविकता भिन्न है। सरल एव एकाकी जीवन बितानेवाली जनजातियों की अपनी संस्कृति के अनुकूल अपनी अलग समस्याएँ हैं। अब उनके समाज एवं संस्कृति पर अनेकानेक मानववैज्ञानिक अध्ययनों से स्पष्ट हो गया है कि उनकी समस्याएँ उनके अपने ढंग की हैं। विचारधारा की गाड़ी आगे बढ़ने पर जनजातियों के विकास की नीति को सभी पिछड़े वर्ग के साथ जोड़ दिया गया। वर्तमान स्थिति यह है कि जनजातियों एवं अनुसूचित जनजातियो को एक साथ रखकर उनकी समस्याओं को देखा जा रहा है। मैंने पाँचवी पंचवर्षीय योजना की पूर्व-बेला पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि पर्यावरण आर्थिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक दृष्टिकोण से जनजातियों की अपनी अलग स्थिति है (विद्यार्थी, १९७३)।

सर्वप्रथम जनजातियो के पर्यावरण को लें। जनजातियाँ जहाँ एकाकी क्षेत्रों में निवास करती हैं, वही अनुसूचित जातियाँ अनावृत्त हैं और सर्वसामान्य क्षेत्रों में रहती हैं। जन-संख्या के विचार से जनजातियाँ विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में जत्थों एवं कबीलों के रूप में रहती हैं और अनुसूचित जातियाँ मिश्रित गाँवो में ऊँची जातियों के साथ रहती हैं। जहाँ तक आर्थिक स्थिति का प्रश्न है, एक ओर जनजातियाँ वन एवं भूमि पर आश्रित हैं, दूसरी ओर अनुसूचित जातियाँ गाँव की उच्च जातियों पर आश्रित है। अन्त में सांस्कृतिक पहलू को देखने पर स्पष्ट होता है कि जनजातियों की अपनी विशिष्ट भाषा, परम्परा और अपना व्यक्तित्व है और वे स्वतन्त्रताप्रिय हैं जब कि अनुसूचित जातियाँ जातीय सोपान की सबसे

निचली सीढ़ी पर हैं और सामाजिक अशक्तता से ग्रस्त हैं तथा उनमें स्वाभिमान का अभाव खटकता है। शैक्षणिक स्थिति भी भिन्न है। जनजातियों का ग्यारहवाँ भाग (८.५४ प्रतिशत, १९६१) शिक्षित है। यह स्थिति तब और भी दयनीय जान पड़ती है जब हम योजना-आयोग के जनजातियों सम्बन्धी कार्यकारी दल की १९७२ रिपोर्ट को देखते हैं। विभिन्न राज्यों में तीन हजार की जनसंख्या से अधिक की जनजातियों में लगभग ४१ प्रतिशत जनजातियों में ५ प्रतिशत से भी कम शिक्षित हैं। इन तथ्यों से जनजातियों की विशिष्ट स्थिति स्पष्ट होती है। जहाँ तक जनजातियों में व्याप्त समस्याओं का प्रश्न है, मूलतः वे दो प्रकृति की हैं :

(१) स्वजनित समस्याएँ—उनमें व्याप्त उनकी जीवन-शैली के कारण उत्पन्न समस्याएँ, एवं

(२) बाहरी कारणों से उत्पन्न समस्याएँ—इसमें निम्नांकित कारकों को ले सकते हैं :

(क) संस्कृति-सम्पर्क, पर-संस्कृति-ग्रहण या बाह्य सम्पर्क से उत्पन्न समस्याएँ एवं

(ख) विकास-जनित समस्याएँ : उनमें हो रहे विकास कार्यों से उत्पन्न स्थिति एवं समस्या।

जनजातियों में समस्याओं ने कुल मिलाकर अपना एक विकाराल रूप धारण किया है। अतः समस्याओं के स्वरूप एवं प्रसार के स्वरूप को जानने के लिए विषयों के ऊपर क्रमानुसार दृष्टि डालनी आवश्यक है। जीवन के लगभग हर क्षेत्र में उनकी अपनी एवं स्वजनित समस्याएँ हैं और बाह्य कारणों ने भी ऐसा कोई जीवन-क्षेत्र नहीं छोड़ा है जहाँ उनका प्रभाव न पड़ा हो और समस्याएँ न उभरी हों।

प्रस्तुत अध्याय में कुछ मुख्य समस्याओं की विस्तृत रूप से व्याख्या की जा रही है। जनजातियों की समस्याएँ ये हैं :

(१) पर्यावरण की समस्या : एकाकी क्षेत्रों में निवास करने के कारण।
(२) संस्कृति-सम्पर्क की समस्याएँ।
(३) आर्थिक समस्याएँ : कृषि, वन एवं ऋण-ग्रस्तता की स्थिति।
(४) सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याएँ।
(५) धार्मिक समस्याएँ।
(६) स्वास्थ्य एवं सफाई की समस्याएँ।
(७) राजनीतिक समस्याएँ।
(८) संचार की समस्याएँ।

पर्यावरण की समस्या

भारत की जनजातियाँ अधिकांशत: पहाड़ी वन्य क्षेत्रों के ऐसे दुर्गम स्थानों में निवास करती हैं जहाँ जाना सरल नही है। अपने इस एकाकी वास के कारण उनका बाहरी दुनिया से कोई सीधा सम्पर्क नही रह जाता; यहाँ तक कि दुर्गम निवास के कारण दूसरे गाँव के अपने सगे-सम्बन्धियों से यदा-कदा ही उनका सम्पर्क हो पाता है। अपने दैनिक जीवन में भी उन्हें कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। सदियों से इस प्रकार रहते आने के कारण एकाकीपन या पृथकता उन्हें काटती प्रतीत नही होती। पर वास्तविकता यह है कि पर्यावरण की इस स्थिति ने उन्हे बहुत से सहज विकास कार्यों से वंचित कर दिया। आधुनिक भारत मे उनके विकास के लिए प्रयास हो रहे हैं, पर उनका पर्यावरण इसमें बाधक सिद्ध होता है। विकास के चरण वहाँ तक पहुँच नहीं पाते, साथ ही पृथक् रहने के कारण अन्य समस्याएँ भी उत्पन्न होती है। अन्य सस्कृतियो से उनके सम्पर्क की सम्भावना कम हो जाती है और यदि किसी सस्कृति-विशेष से परिस्थितिवश नया सम्पर्क होता भी है तो अनपेक्षित समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं जैसे बाहरी बनियो, महाजनों एवं धर्म-प्रचारकों के सम्पर्क मे आयी जनजातियो का वे मनमाना शोषण करते हैं। वे निश्चिन्त रहते है कि इस दूर-दराज के स्थान पर कौन आयेगा और कौन इन्हें बचायेगा। एकाकी निवास के कारण जानकारी के अभाव मे इनमे बाहरी दुनिया के प्रति भय का भाव भी जाग्रत है।

संस्कृति-संपर्क की समस्याएँ

जहाँ एकाकी पर्यावरण से उत्पन्न समस्याएँ है वहीं इन जनजातियों में अन्य संस्कृति के लोगो के साथ सम्पर्क करने पर भी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। अध्याय के पूर्वार्ध में बताया गया है कि सामाजिक परिवर्तन, निकट के पडोसी हिन्दुओ की सभ्यता और धर्म ने उनपर काफी प्रभाव डाला है। साथ ही ईसाई धर्म में परिवर्तित होने की बात कही गयी है। इस सम्बन्ध मे नगरीकरण एव औद्योगीकरण का भी नाम लिया गया है। इस कारण भी नये समुदायो से उनका सम्पर्क हुआ है। सांस्कृतिक सम्पर्क के अन्य माध्यम हैं— जनजातीय साप्ताहिक बाजार, उनके मेले एव त्योहार के अवसर, स्थानीय महाजन, एवं व्यापारी, प्रशासनिक कर्मचारी, समाजसेवी संस्थाओं के लोग, धर्म-प्रचारक इत्यादि। श्रमिक के रूप मे बाहर जाकर काम करने के कारण भी नये समाज से सम्पर्क स्वाभाविक ही है। इन सभी कारको के फलस्वरूप उनके जीवन के ढंग में, विशेषकर उनके रहन-सहन, खान-पान, आर्थिक लेन-देन, पारस्परिक व्यवहार, पारस्परिक, पारिवारिक एवं वैवाहिक जीवन मे एक प्रकार का विद्रोह-सा उठ खड़ा हो गया है और सामाजिक स्तरीकरण की समस्या ने जन्म ले लिया है। सामाजिक स्तरीकरण के रूप हैं—(क)

मुण्डा-मानकी जैसे जनजातीय नेताओं का अपना वर्ग, (ख) स्थानीय हिन्दू राजाओं, जमींदारों और उनके अहलकारों से मिलकर बना वर्ग, (ग) हिन्दू जनजाति और ईसाई जनजाति, (घ) छोटी जनजाति और बड़ी जनजाति इत्यादि। इन सम्पर्कों का परिणाम यह हुआ है कि अपने सांस्कृतिक तत्त्वों से उनका विश्वास घट गया है। साथ ही, वे दूसरे समुदायों के सांस्कृतिक तत्त्वों को भी ग्रहण नहीं कर रहे हैं—एक अजीब रिक्तता की स्थिति ने जन्म ले लिया है। सम्पर्क के कारण बाहरी लोगों द्वारा सरल स्वभाववाले जनजातीय लोगों के शोषण की प्रक्रिया भी जारी है और इससे उन्हें आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। जनजातीय नियमों पर नियन्त्रित यौन सम्बन्धों की स्वच्छन्दता का अन्य लोगों द्वारा गलत अर्थ लगाना उनके लिए समस्या का कारण हो गया है। इससे यौन सम्बन्धी सामाजिक कुरीतियों का भी जन्म होना अस्वाभाविक नहीं है। इस प्रकार अन्य सांस्कृतिक समुदायों के सम्पर्क से सांस्कृतिक एवं सामाजिक अस्थिरता को बढ़ावा मिला है। जनजातीय विचारों, मान्यताओं एवं मूल्यों में भी उथल-पुथल पैदा हुई है।

आर्थिक समस्याएँ : कृषि, वन एवं ऋणग्रस्तता की स्थिति

जनजातियाँ आर्थिक रूप से स्वयं ही काफी अविकसित हैं। उनकी परम्परागत कृषि—स्थायी एवं अस्थायी—से मुश्किल से आवश्यकता की पूर्ति होती है। वन पर आधारित अर्थ-व्यवस्था, कन्द, मूल, शिकार, जलाने की लकड़ियों एवं छोटी झोपड़ी बनाने तक सीमित है। ऐसी स्थिति में तो मानो उनके सामने आर्थिक समस्याओं का पहाड़-सा खड़ा है। इन अल्प साधनों से उनकी स्वयं ही आर्थिक स्थिति खराब है। इन क्षेत्रों में बाहरी प्रभाव के कारण और भी दयनीय स्थिति हो गयी है। बाहरी महाजनों के प्रवेश से उनको अपने उत्पादनों का कोई मूल्य नहीं मिल पाता और आर्थिक शोषण होता है। हाट-बाजार में जाते हैं तो उनकी चीजें सस्ते दर पर बिक जाती हैं। बाजार में नये-नये भौतिक साधनों यथा सौन्दर्य-प्रसाधन के सामान, सिले-सिलाये कपड़े, नये खिलौने, चमकीले एवं चटकीले सामान आदि खरीदने के लिए उनके झुकाव से खर्च आमदनी से कहीं अधिक बढ़ जाता है। उनके अपने पर्व-त्योहार एवं रीति-रिवाज के कारण भी व्यय काफी होता है। इसका परिणाम होता है—ऋणग्रस्तता। महाजन एवं व्यापारी उन्हें ऋण दबोचते हैं और आजीवन सभी कुछ उनका सूद में से भरपाई होता है। जब ऋण-ग्रस्तता उनकी जमीन हड़प लेती है तब तो उनकी हालत और भी दयनीय हो जाती है। जमीन हड़पने के खिलाफ कानूनी व्यवस्थाएँ भी की गयी हैं। परन्तु बाहरी लोगों की चालाकी के सामने उनकी एक नहीं चलती। इनके बीच भी जनजातीय महाजनों का जन्म हो गया है—ये अपेक्षाकृत सम्पन्न हैं और यहाँ भी महाजनों का बड़ी शोषणपूर्ण ढंग है। मुद्रा का प्रचलन

उनके बीच क्रमशः बढ़ गया है। इस स्थिति के कारण उनके पास पैसे अधिक टिक नहीं पाते और उन्हें अपनी जरूरतों के लिए कर्जे का सहारा लेना पड़ता है। स्थानीय मद्य की परम्परागत आदत के कारण बाजारू शराब भी इन्हें कर्जे मे डाल देती है।

अब वन की ओर दृष्टि डालने पर हम पाते है कि भारत की नियोजित वन-नीति के कारण उनके स्वच्छन्द विचरण मे बाधा उपस्थित हुई है। आये दिन वन-कर्मचारियों एव जनजातियो मे स्थानीय कारणो, यथा लकडी चुनने, वन मे प्रवेश आदि में वन-कर्मचारियो द्वारा रोक-टोक, आपसी झगडे आदि से तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। वन के स्वच्छन्द उपभोग मे बाधा के कारण उनकी अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा है—एक माने मे उनकी आय का एक बड़ा प्राकृतिक साधन अब पूरी तरह उनके अधिकार में नही है।

औद्योगीकरण मे श्रमिको के रूप मे जनजातियो का सहयोग रहा है पर यहाँ भी ठीकेदार एव प्रशासनिक कर्मचारियो की मिलीभगत के कारण इन्हें आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है। उनकी मजदूरी का अधिक भाग बिचौलियो के हाथ लग जाता है। औद्योगीकरण से जहाँ एक ओर आर्थिक लाभ हुआ है, वही दूसरी ओर इससे उनमें समस्याएँ भी आयी हैं। उन्हे उद्योगो मे अनुभव के अभाव मे कुशल कारीगर के रूप मे काम नही मिलता। इससे आर्थिक क्षोभ का वातावरण पैदा हो जाता है। औद्योगीकरण से विस्थापितों की समस्या ने भी जन्म लिया है। उनको अपनी जमीन एव कृषि के परम्परागत पेशो से हाथ धोना पड जाता है। यह आर्थिक सकट की घड़ी उनके लिए जीने-मरने के प्रश्न के रूप मे आ खड़ी होती है।

अत. स्पष्ट है कि आर्थिक समस्याएँ जनजातियो के अस्तित्व की समस्या के रूप में उभरकर सामने आयी हैं।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याएँ

सामाजिक एवं सास्कृतिक समस्याओं के गर्भ में ही जनजातियो की पूर्वचर्चित तीनों समस्याएँ विद्यमान है। उनके पर्यावरण, सांस्कृतिक सम्पर्क एवं अर्थ-सम्बन्धी समस्याओं के कारण अनेक सामाजिक एवं सास्कृतिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं और अन्य कारणों, यथा शिक्षा, राजनीति एव धार्मिक स्वरूपों मे व्याप्त समस्याओं के कारण और जटिल हो गयी हैं।

जहाँ तक सस्कृति का प्रश्न है, बहुत-सी अल्पसंख्यक जनजातियाँ लुप्त होती जा रही हैं या उनका स्वरूप बदलता जा रहा है। बाहरी लोगों एवं पड़ोसी जनसंख्या के सम्पर्क से उनके सांस्कृतिक स्वरूप में काफी परिवर्तन आ रहा है। उनकी भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति मे अन्तर आ रहा है। भौतिक संस्कृति में नयी सामग्रियाँ भी आयी हैं, यथा नये

ढंग की वस्तुएँ, प्रसाधन के सामान आदि। इससे इनकी अर्थ-व्यवस्था में अपेक्षाकृत अधिक व्यय के कारण असंतुलन हो गया है। अभौतिक संस्कृति के रूप में इनमें व्याप्त धार्मिक विश्वासों में हिन्दू, ईसाई एवं मुस्लिम धर्म का प्रभाव पड़ रहा है। इन नयी व्यवस्थाओं को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर पाने की अवस्था में उनके विश्वासों एवं विचारों में एक प्रकार का तूफान-सा आ गया है। जनजातीय समुदाय में गैर-जनजातीय के निकट आने के कारण उनके कुछ तबकों में उच्चता या बड़प्पन का भाव आ जाने से सामाजिक ऊँच-नीच की समस्या पैदा हो गयी है। अभी तक जनजातीय समुदाय-विशेष एक था, उसमें बड़े छोटे का भाव नहीं था।

परम्परागत विवाह एवं यौन सम्बन्धों की व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ा है और उनके नियम टूटे हैं। उनके परम्परागत नेतृत्व में भी शिक्षित युवकों के उभरने से ग्रामीण नेताओं मे विश्वास कम हुआ है—इससे उनकी राजनैतिक एकता खतरे में पड़ गई है। उनकी अपनी परम्परागत संस्थाओं, यथा धुमकुरिया युवागृहों का अस्तित्व समाप्त हो गया है, जहाँ उन्हें उनकी संस्कृति के बारे में मौखिक शिक्षा मिलती थी।

इस प्रकार जनजातियों के सामने सामाजिक विघटन की समस्या आ गयी है।

धार्मिक समस्याएँ

सामाजिक परिवर्तन की चर्चा के दौरान बताया गया है कि जनजातियों के धार्मिक विश्वास मे उनके सदियों के पड़ोसी हिन्दुओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। उनमें 'हिन्दूकरण' की प्रक्रिया ने काफी जोर पकड़ा है। हिन्दू देवी-देवताओं में विश्वास के कारण उनके अपने धार्मिक विश्वासों मे काफी परिवर्तन हुआ है। पिछली एक शताब्दी से ईसाई धर्म के प्रचार से भी उनमें धर्म-परिवर्तन हुआ है और उनके बीच जनजाति एव ईसाई जनजाति का वर्गभेद आ गया है। अपने धर्म के प्रति उदासीनता का भाव तथा आस्था में कमी आयी है जो उनके लिए समस्या बन गयी है। विभिन्न धर्म-आन्दोलनों, यथा भगत-आन्दोलन, के कारण उनमें पवित्र एवं अपवित्र होने की स्थिति भी आ गयी है। उनके परम्परागत पुजारियों का प्रभाव घट-सा गया है और यह उनकी धार्मिक एकता के लिए अस्वास्थ्यकर साबित हुआ है। इस प्रकार जनजातियों में एक प्रकार से धार्मिक विघटन की समस्या उत्पन्न हो गयी है।

शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ

सर्वप्रथम तो उनकी अपनी स्थिति के कारण ही उनमें शिक्षा का सर्वथा अभाव है। अनेक जनजातीय गाँवों की स्थिति यह है कि एक भी व्यक्ति साक्षर नहीं है। पूरी जनजातीय जनसंख्या का दशमांश भी साक्षर नहीं है। अधिकांश जनजातियों में तो साक्षरता

शून्य और पाँच प्रतिशत के बीच है। ऐसी हालत में बाहरी लोग उनका आसानी से शोषण करते हैं और वे उफ् तक नहीं कर पाते। निरक्षरता की स्थिति के कारण उन्हें अनेक कानूनी दाँव-पेंचों के कारण अपनी जमीन से भी हाथ धोना पड़ता है।

यह स्थिति तो उनकी स्वजन्य हुई। अब देखें, उनकी क्या स्थिति है जिन्हें शिक्षा मिली है। नयी शिक्षा के कारण उनमें परेशानियाँ आयी हैं। छोटे लड़के जनजातीय समाज में घर के एक कामकाजी सदस्य होते है। उनके पाठशाला चले जाने से घर के छोटे-बड़े काम, पशु-चारण आदि कौन करे, यह एक समस्या है। अब जो युवक पढ़-लिखकर तैयार होते है, उन्हें अपनी संस्कृति से ही दुराव होने लगता है। उन्हे अपने परम्परागत पेशे से भी अलगाव-सा हो जाता है। स्थिति बेरोजगारी तक आ जाती है। नयी शिक्षा के कारण परम्परागत शिक्षा-सस्थाओ के ह्रास से उन्हे अपनी संस्कृति की शिक्षा नही मिल पाती। उनके अपने लोक-साहित्य पर भी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार शिक्षित वर्ग एवं अशिक्षित वर्ग का भी वर्ग-सघर्ष खडा हो गया है। निष्कर्ष यह है कि जनजातियो मे अशिक्षा के कारण शोषण एवं शिक्षा के कारण अपनी सस्कृति से दुराव, ये दोनों समस्याएँ सामने हैं।

स्वास्थ्य एवं सफाई की समस्याएँ

स्वास्थ्य एव सफाई की समस्याएँ भी जनजातियों के सामने है। अपने प्राकृतिक पर्यावरण मे जहाँ एक ओर वे दुरुस्त एव निरोग रहते है, वही दूसरी ओर जंगली मौसम के कारण जैसे ही कोई रोग होता है, वह जानलेवा सिद्ध होता है। इनके अन्धविश्वासो के कारण भी झाड़-फूंक मे समय निकल जाता है और रोगी मौत के द्वार पर पहुँच जाता है। स्वास्थ्य और सफाई के प्रति उपेक्षित भाव के कारण भी मामूली ठण्ड से रुखड़ी त्वचा क्रमशः भयंकर निमोनिया या चर्म-रोग मे बदल जाती है। स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों के प्रचलन से यौन रोगो का भी इन्हे शिकार होना पडता है। आर्थिक अभाव एव अज्ञान के कारण ये उपयुक्त चिकित्सा का सहारा भी नही ले पाते है। खाने-पीने की बँधी-बँधाई आदत के कारण पूरा सतुलित भोजन न करने से उनमे किसी-न-किसी विटामिन की शरीर मे कमी आम बात है। पीने का स्वच्छ जल भी पूरे वर्ष भर पहाड़ी क्षेत्रों में आसानी से उपलब्ध नही होता।

बाहरी लोगो के सम्पर्क से और देशी शराब के अधिक प्रचलन से भी उनमें नये रोगों ने जन्म लिया है। यक्ष्मा एव यौन रोग बाहरी सम्पर्क से विशेष कर आये हैं। रोगों के कारण कई एक जनजातियाँ लुप्तप्राय हो चली हैं। इसमे कोई सन्देह नहीं कि जंगली जड़ी-बूटियो का प्रयोग जनजातियाँ करती हैं, पर यह भी तो उनके ज्ञान की संकुचित सीमा तक ही है। उसके भी वैज्ञानिक ढंग से उत्पादन एवं उपयोग की समस्या है।

राजनैतिक समस्याएँ

अशिक्षा, अज्ञान तथा दुर्गम वन एवं पहाड़ी क्षेत्रों में रहने के कारण जनजातियाँ देश की वर्तमान प्रजातान्त्रिक और राजनीतिक जागृति से काफी हद तक अलग हैं। उनकी अपनी ग्रामीण या क्षेत्रीय परम्परागत राजनीतिक प्रणाली समय, स्थान एवं दुनिया के सम्पर्क से क्रमशः क्षीण होती जा रही है। भारत की वर्तमान चुनाव-राजनीति से भी ठीक से परिचित न होने के कारण उन्हें अपने मत का महत्त्व ज्ञात नहीं है। परिणाम यह होता है कि उनके क्षेत्र में उनका उचित एवं सटीक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। साथ ही, उनके परम्परागत ग्राम या जाति के नेता बरगलाकर उन्हें गलत राजनीतिक आन्दोलनों में ढकेल देते हैं। सारी क्षति आम जनजातियों को उठानी पड़ती है। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमारा सुदूर उत्तर-पूर्वी क्षेत्र है। वहाँ की जनजातीय जनता काफी सीमा तक प्रजातान्त्रिक है। उसकी अपनी परम्परागत व्यवस्था में भी ग्राम या कुल-नेता का प्रमुख हाथ है। पर बाहरी राजनीतिक शक्तियाँ उन्हें बरगलाने से बाज नहीं आतीं। यह मात्र इसलिए कि उन लोगों का क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर उचित प्रतिनिधित्व नहीं है।

अब उनके बीच कुछ शिक्षित युवक राजनीतिक नेता के रूप में उभर रहे हैं। परन्तु अधकचरे राजनीतिक चक्कर में वे भी गुमराह हुए जा रहे हैं। अतः राजनीतिक प्रतिनिधित्व के अभाव, या यों कहें कि ठोस प्रतिनिधित्व की कमी के कारण जनजातियों के विकास में बाधा पड़ रही है। अतएव उनके बीच से उचित, ठोस राजनीतिक प्रतिनिधित्व का निकलना आवश्यक है।

संचार की समस्या

अब समस्याओं के उल्लेख में अन्तिम एवं सबसे बड़ी समस्या के रूप में संचार की समस्या एक बहुत बड़ी समस्या है। जनजातीय क्षेत्र अधिकतर जंगलों एवं पहाड़ों के बीच अवस्थित हैं जहाँ जाना और सम्पर्क स्थापित करना अत्यन्त कठिन है, साथ ही इनके बीच जो लोग जाते भी हैं वे अपनी चालाकी या चतुराई से उनका शोषण करते हैं। इस हालत में विकास के चरण उन तक पहुँचने के पहले ही दुरूह जंगली घाटियों में फँसकर रह जाते हैं। यातायात के साधनों एवं वाहनों के अभाव में उनके सामानों को उचित मूल्य नहीं मिल पाता। वे निकट के बाजारों तक सुविधापूर्वक पहुँच नहीं पाते। उनके पास सबसे बड़ी नियामत है—साप्ताहिक बाजार, लेकिन वहाँ तक भी सीधे संचार की व्यवस्था नहीं है। केवल टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियाँ ही वहाँ तक जाती हैं। ऐसी दशा में उनके आवागमन की कठिनाई की हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं। संचार के अन्तर्गत सन्देश-वाहन भी आता है। उनके बीच परस्पर सन्देश भी तुरन्त नहीं पहुँचते। वे आपस में मेले-त्यौहार या

किसी के जीने-मरने में ही मिल पाते हैं और वह भी काफी परिश्रम एवं समय व्यय करने के बाद। निकट के संचार के अभाव में उनके विकास की कोई योजना आगे नहीं बढ़ पाती।

इस प्रकार कुल मिलाकर भारत की जनजातियाँ अपनी सदियों पुरानी एकाकी जिन्दगी, उत्पादन-व्यवस्था, आर्थिक दरिद्रता, अज्ञानता एवं वर्तमान सांस्कृतिक सम्पर्क के साथ तालमेल न बैठा सकने के कारण देश के लिए पिछड़े वर्ग के रूप में भार बनी हुई हैं।

समस्याओं का समाधान

जनजातियो को समस्या-मुक्त करने एवं उनके विकास के लिये उन्हें उनके ही हाल पर छोड़ दिया गया हो, ऐसी बात भी नही है। पूरा भारतीय जनमानस उनकी दयनीय स्थिति को जानता है और यही कारण है कि भारत के गणतान्त्रिक सविधान में उन्हें विशेष संरक्षण मिला है। पिछली चौथाई शताब्दी मे लगातार उनपर अरबों रुपये व्यय किये गये हैं। परन्तु इन योजनाओं के कार्यान्वयन के बाद भी अपेक्षित विकास नहीं हो पाया है। अतः यह आवश्यक है कि उनकी समस्याओं को जड़-मूल से समाप्त करने के उपाय ढूँढ़े जायँ।

अभी तक समाधान के रूप में जो दृष्टिकोण अपनाये गये हैं या प्रयास किये गये हैं, उनका सक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। मुख्यतः ये पाँच प्रकार के है :

(क) सामाजिक संस्थाओ या समाज-सेवा में लगे लोगो का प्रयास।
(ख) राजनीतिक प्रयास।
(ग) धर्म-सुधार आन्दोलन।
(घ) प्रशासनिक विकास-कार्य, एवं
(ङ) मानववैज्ञानिक कदम।

जनजातीय समस्याओं के समाधान के लिए सामाजिक सस्थाओं एवं समाज-सेवा से ओतप्रोत अनेक व्यक्तियो ने उनके कल्याणार्थ अनेक कदम उठाये हैं। उनके बीच शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सहायता के अनेक कार्यक्रम चलाये गये है। इनमें अग्रणी है, १९२२ ई० मे स्थापित भील-सेवा-मण्डल। बाद में अनेक संस्थाएँ उभरी। पर इन सभी में १९५० ई० मे डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में स्थापित 'भारतीय आदिम जाति सेवक-संघ' का नाम सर्वोपरि है। इसने जनजातीय क्षेत्रों मे अनेक विकासात्मक कार्य किये और करता आ रहा है। लेकिन इन समाज-सेवी संस्थाओं में सेवा-भावना एव बृहत् आदर्शवाद का विशेष भाव होते के बावजूद वे जनजातियों की विचारधारा को नही समझ सके। जनजातियों की छोटी-छोटी टुकड़ी की अपनी एवं स्थान-जन्य समस्याओं को नहीं समझा गया। संस्थाओं ने अखिल भारतीय स्तर पर लक्ष्य बनाया और इन पूर्वाग्रहों के साथ

जनजातीय क्षेत्रों में सेवा-कार्य के लिए था बटी। ऐसी स्थिति में ये सेवा-कार्य जनजातियों में गहराई तक प्रवेश नहीं कर पाये।

राजनीतिक प्रयास के अन्तर्गत स्वाधीनता के पूर्व और स्वाधीनता के बाद के दोनों ही प्रयासों को देखा जाना चाहिये। ब्रिटिश शासन ने जनजातियों को पृथक् रखा और पृथक् क्षेत्र बनाकर उन्हें विभाजन-नीतियों के अन्तर्गत रखा। स्वतन्त्र भारत में भी सर्वप्रथम इस नीति को कुछ परिष्कृत रूप में अपनाया गया। पर यह नीति भारतीय जीवन-धारा की स्वस्थ परम्परा के बिलकुल विपरीत रही। बाद में जनजातीय भारत को पूर्ण इकाई मानकर उसके व्यापक प्रतिनिधित्व का कदम उठाया गया। परन्तु यह भुला दिया गया कि जनजातियों के मध्य भी छोटे-बड़े समुदाय हैं और उनमे भी आपसी शोषण विद्यमान है। चुनाव-राजनीति के कारण विभिन्न राजनीतिक आन्दोलन हुए हैं। इनमें से स्वतन्त्र नगालैण्ड, स्वशासी मेघालय एवं आन्ध्र के मुलकी-नियमों के आधार पर जनजातीय क्षेत्रों मे क्षेत्रीय विकास के नाम पर राजनीतिक आन्दोलनों का विशेष उल्लेख किया जा सकता है।

धर्म-सुधार आन्दोलन में सदियो से स्वय 'हिन्दूकरण' की प्रक्रिया जनजातियो मे विशेष रूप से चालू है। अतः यह जनजातियों की धार्मिक पाचन-शक्ति के अनुरूप है। पर कुछ धार्मिक आन्दोलन उनके विकास के नाम पर किये गये है। इनमें ईसाई-आन्दोलन प्रमुख है। ईसाई मिशनरियो ने जनजातियों के सेवार्थ उनके इलाकों में प्रवेश किया। उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य एवं रहन-सहन की दशा सुधारी पर बदले में दिया नया धर्म—ईसाई धर्म। धर्म-परिवर्तन तक सीमित न रहकर जनजातियों में पश्चिमी आदर्श के बीज बोये गये। परिणाम हुआ उनमें जनजाति और ईसाई जनजाति का वर्गभेद एवं परस्पर शोषण। धर्म-परिवर्तन-सम्बन्धी आन्दोलन एवं विकास के प्रयास, दोनों को एक साथ जोड़ना किस सीमा तक लाभप्रद रहेगा, यह विचारणीय विषय है।

जनजातियों की समस्याओं के समाधान के लिए प्रशासनिक विकास-कार्य भी उल्लेखनीय है। भारत की विभिन्न योजनाओं में अरबों रुपये व्यय किये गये और किये जा रहे हैं। उनके हर क्षेत्र की प्रगति के लिए प्रयास जारी हैं। सरकारी तन्त्र उन तक नहीं पहुँच पाये हैं, यह सरकारी एवं गैर-सरकारी अनेक रिपोर्टों से स्पष्ट होता है। योजनाओं की उपयोगिता बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि जनजातियों की विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप कदम उठाये जावें। इस प्रयास के अन्तर्गत भी ठीक वही दृष्टिकोण अपनाये गये जो समाजसेवी संस्थाओं द्वारा अपनाये गये थे। अधिकतर समस्याओं को ग्रामीण भारत की समस्या के आइने से देखा गया।

अब अन्त में मानवशैज्ञानिक कदम की चर्चा की जानी आती है। विभिन्न मानव-वैज्ञानिकों ने भी जनजातीय समस्याओं के समाधान के रूप में अनेक सुझाव दिये हैं। इस

सम्बन्ध मे कुछेक का नाम लिया जा सकता है। सर्वप्रथम वेरियर एल्विन का नाम उल्लेखनीय है। इन्हें ही राष्ट्रीय उद्यान-नीति एवं राज्य-विधि-नीति (Laissez fare) के अन्तर्गत जनजातियों से सम्बन्धित वस्तुओं का संग्रहालय बनाने का श्रेय प्राप्त है। परन्तु १९५५ ई० में एल्विन ने भी जनजातियों के सह-अस्तित्व की बात को मान लिया। घुर्ये ने तीन सुझाव दिये हैं। इनमे अपरिवर्तन के साथ पुनर्जीवन, पृथक्करण एवं संरक्षण तथा पूर्ण आत्मसात् की नीति अपनाने का जिक्र है। राष्ट्रनायक नेहरू ने भी जनजातियों के लिए एक पचशील नीति अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया था। इसमे प्रकृति के अनुरूप विकास, उनके परम्परागत अधिकारो का सम्मान, शिक्षा, संस्कृति के अनुरूप योजना एव मानव चरित्र की समता की बात शामिल है।

मानवविज्ञानियो ने जनजातीय समस्याओ को उनकी संस्कृति एवं जीवन-शैली की पृष्ठभूमि मे देखा है। दूबे (१९६९ : २९७) ने एक अष्टसूत्री उपाय की आवश्यकता पर बल दिया है। इसमें उन्होंने जो बाते सम्मिलित की वे ये है—जनजातियो का वैज्ञानिक अध्ययन, उनकी समस्याओ का संस्कृति-उन्मुख अध्ययन, उनके जीवन के एकीकरण के तत्वो की जानकारी, परिवर्तन की सहज प्रक्रिया, संस्कृति के विभिन्न पक्षों एव अंतरावलम्बन का अध्ययन, कार्यकर्ताओ को जनजातीय संस्कृति का प्रशिक्षण, यथोचित योजनाओं का बनाना एव विकास-जनित कुप्रभावो का निराकरण।

अभी नवीनतम मानववैज्ञानिक दृष्टिकोण जो सामने आये हैं, उनमें आवश्यक क्षेत्रीय विकास की नीति (विद्यार्थी, १९७२ : ८२) उल्लेख्य है। इसके अन्तर्गत पूर्ण क्षेत्र के विकास की बात कही गयी है। जनजातीय विकास की दृष्टि से जनजातीय क्षेत्रों को मूलतः तीन स्तरो पर रखा जा सकता है। सर्वप्रथम लघु विकास-क्षेत्र के रूप में विभिन्न प्रखण्डों को इकाई माना जा सकता है। मध्यम विकास-क्षेत्र मे कई एक प्रखण्डों को, जो सम्भवतः ज़िला की सीमा के अन्तर्गत आयें, लिया जा सकता है। तीसरा है—वृहद् विकास-क्षेत्र। इसके अन्तर्गत उन विशाल जनजातीय क्षेत्रों को लिया जा सकता है जिनमें आधे से अधिक की जनसंख्या जनजातियों की हो। इसके अतिरिक्त विभिन्न बिखरे जनजातीय खण्डों का विकास विशेष ध्यान देकर किया जाना अपेक्षित है।

जनजातीय समस्याओं के समाधान के विश्लेषण के समापन-अंश में इस बात को भी समाविष्ट करना चाहिये कि अन्ततः हमारा कदम क्या हो? उक्त पाँचों प्रकार के प्रयासों का विश्लेषण करने से यही ज्ञात होता है कि जनजातीय समस्याओं के समाधान के लिए एक सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता है। इसके लिए वैज्ञानिक आधार पर निष्ठापूर्ण योजनाबद्ध तरीके से और बिना किसी पूर्वाग्रह के जनजातियों की समस्याओं के समाधान के प्रयास होने चाहिये। उनके सर्वांगीण विकास के लिए एक सम्पूर्ण क्षेत्र में सम्पूर्ण विकास आवश्यक है।

उनकी सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि

भारतीय आदिवासी





मोटियारी सुन्दरी, सम्पूर्ण शृंगार में



एक भील दुल्हन



एक मुण्डा महिला अपने बच्चे के साथ



एक गोंड बालिका झरने से पानी भरते हुए

फलक : संख्या १

भारतीय आदिवासी :



नये जीवन की ओर

फलक : संख्या २

भारतीय आदिवासी

१



२





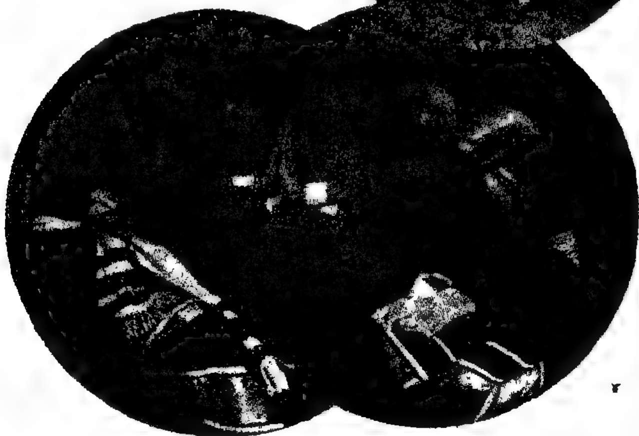
१ छोटा नागपुर के आदिवासियों की हाट का एक दृश्य

२ दण्डामी माड़िया : नृत्य वेश में सजी हुई युवतियाँ

३ जौनसारी युवतियाँ

४ नागा कन्याएँ एक नृत्य मुद्रा में

३



४

भारतीय आदिवासी :

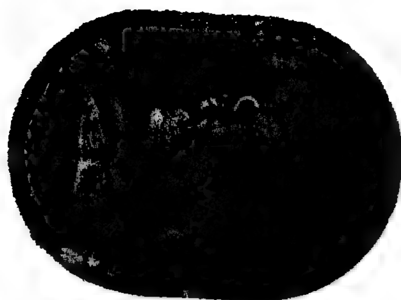


मिर्जापुर के बघारु गाँव की एक गोंड लड़की

फलक संख्या ४



मनजाति का एक युगल



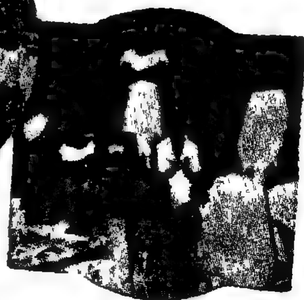
एक आदिवासी परिवार (छोटा नागपुर के) जंगलों से बेठीकठ संग्रह करते हुए



तान्खुल नागा सजधज के साथ



जौनसार बावर की एक आधुनिक पाठशाला के बच्चे



संथाल : सामूहिक मदिरा-पान

फलक : संख्या ५

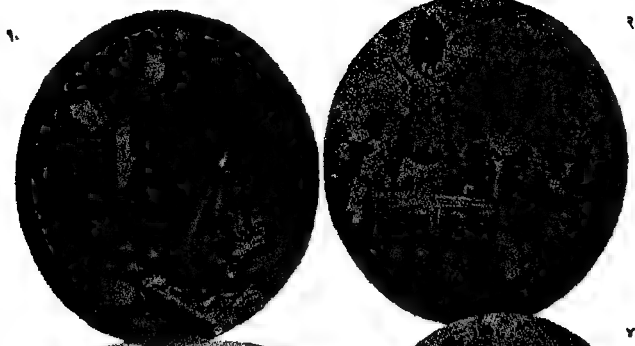
भारतीय आदिवासी :

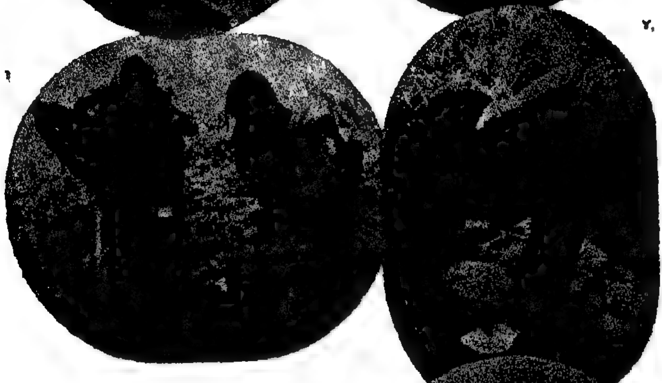


बीमार आदमी की झाड़फूंक करते हुए दो ओझा

फलक : संख्या ६

भारतीय आदिवासी :







१ अगरिया लोहे का औजार बनाते हुए

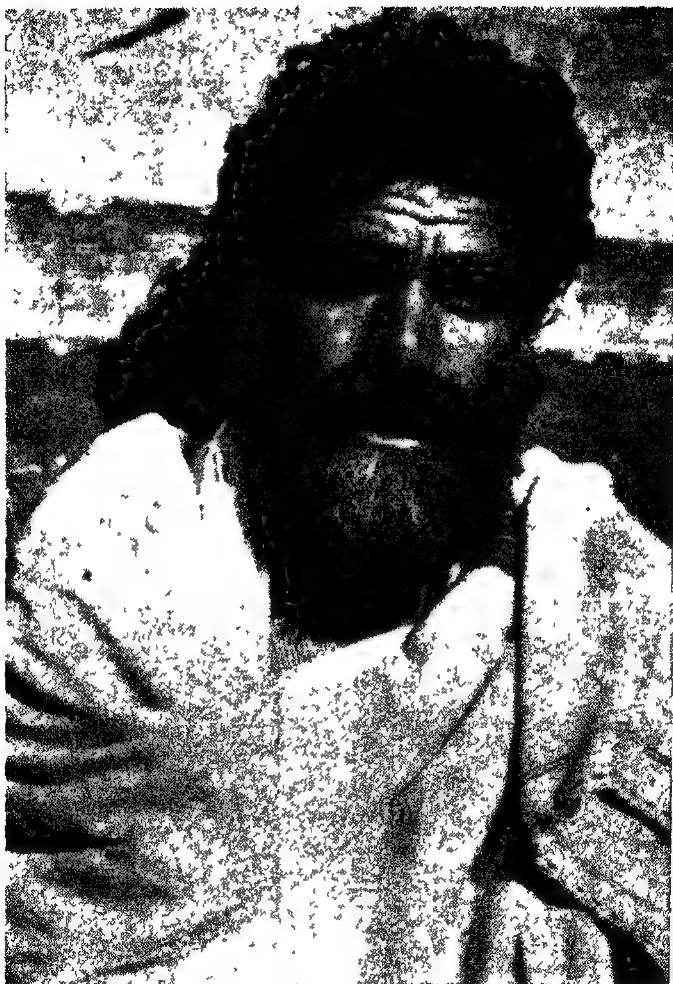
२ दण्डामी माड़िया नृत्य-वेश में

३ मेघालय की खासी महिलाएँ

४ पूर्वी अनजाति की महिला मछली मारते हुए

५ घोटुल की मोटियारी (मुरिया)

फलक : संख्या ७



टोडा आदिवासी पुरुष

फलक : संख्या ८

भारतीय आदिवासी :



भरवाड़ी युवती



दुधी (मिर्जापुर जिले) की एक गोंड महिला

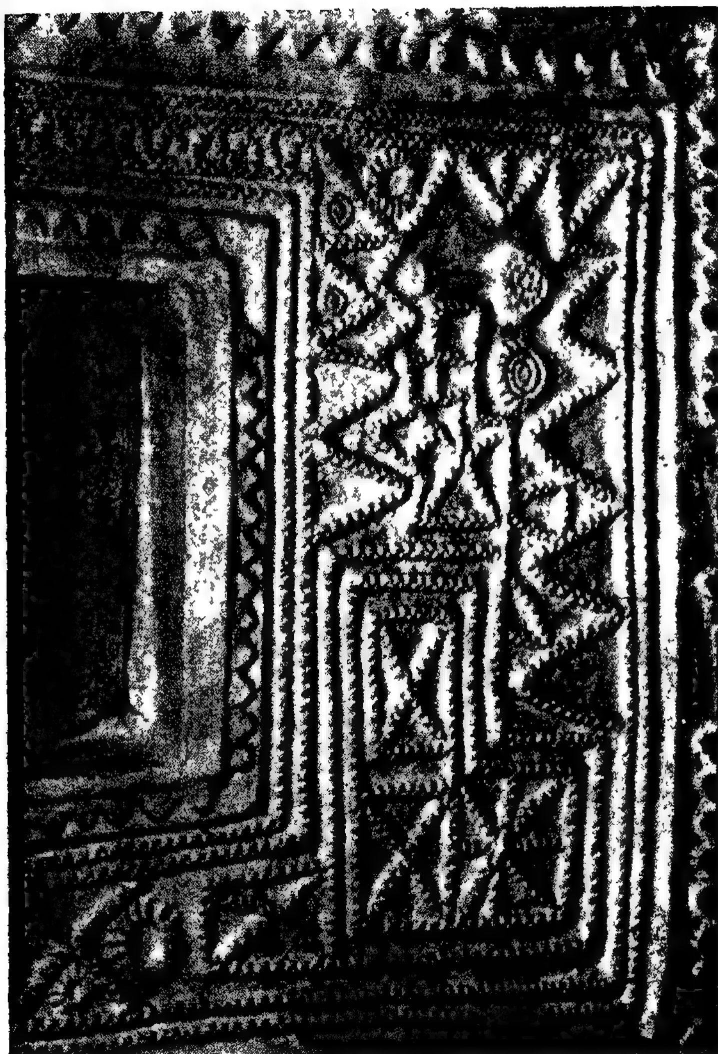


ओनमारो युवती



दुधी (मिर्जापुर जिले) की एक कोरवा स्त्री

फलक : संख्या ६



बिलासपुर (म०प्र०) के आदिवासीयों की द्वार-सज्जा का एक दृश्य

फलक : संख्या १०

भारतीय आदिवासी :



मवासी युवक



मध्य प्रदेश की एक मुर्या महिला



जौनसार-बावर की खस जनजाति की स्त्रियां

भारतीय आदिवासी :



श्रम में रत आदिवासी महिलाएँ

फलक : संख्या १२

भारतीय आदिवासी



छोटा नागपुर की घुमक्कड़ जनजाति 'बिरहोर' पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे शिकार की ओर



नागालैंड के नागा-नृत्य का एक दृश्य



नेपाल का एक गांव

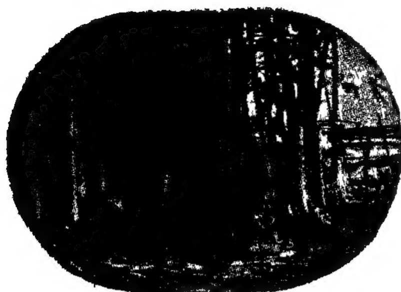
फलक : संख्या १३



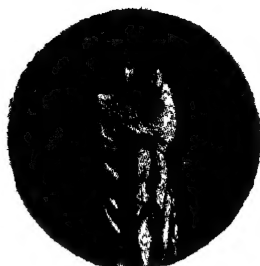
गोंड आदिवासी अपने ढंग से कस्मे उठा रहे हैं

फलक : संख्या १४

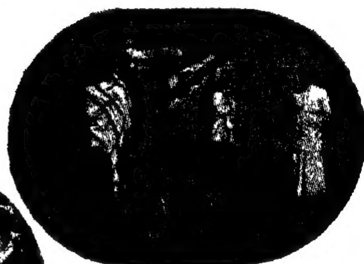
भारतीय आदिवासी :



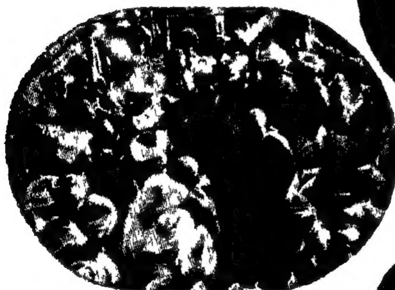
मध्य प्रदेश की मुर्या जनजाति की
एक ग्राम-देवता—लाडली माता



टोडा महिला, बच्चे के साथ



नीलगिरि की कोटा जनजाति के वाद्य-यन्त्र



मुर्या जनजाति में विवाह का एक दृश्य



दक्षिण भारत के वन-पर्वत में रहनेवाली
जादू-टोने में प्रवीण कुरुम्बा जनजाति

फलक : संख्या १५